वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमालाका चतुर्थ पुष्प

श्रीमदभिनव-धर्मभूषण-यति-विरचिता

न्याय-दीपिका

[पण्डित दरबारीलालनिर्मितप्रकाशाख्यटिप्पणादिसहिता]

—:※:—

सम्पादक और अनुवादक
शास्त्राचार्य पण्डित दरबारीलाल जैन "कोठिया"
न्यायाचार्य, एम० ए०

[सम्पादक-अनुवादक—आप्तपरीक्षा, स्याद्वादसिद्धि, प्रमाण-प्रमेयकलिका, अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड आदि]

प्राध्यापक—जैन दर्शन, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी।

—:※:—

प्रकाशक
वीर-सेवा-मन्दिर
२१, दरियागंज, दिल्ली।

—:※:—

द्वितीयावृत्ति
१००० प्रति

श्रावण, वीरनिर्वाण सं० २४९४
विक्रम संवत् २०२५
जुलाई १९६८

मूल्य सजिल्द
सात रुपया

ग्रन्थानुक्रम

समर्पण :

दशम प्रतिमाधारी विद्वद्वरेण्य

गुरुवर्य्य पूज्य न्यायाचार्य

पण्डित गणेश प्रसाद

जी वर्णी के पवित्र

कर-कमलों में

स प्र मो द

सर्मपित।

दरबारीलाल

प्रकाशकीय वक्तव्य

(प्रथम संस्करण)

आजसे कोई ४६ वर्ष पहले सन् १८९६ में 'न्यायदीपिका'का मूल-रूपमें प्रथम प्रकाशन पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवे (कोल्हापुर)के द्वारा हुआ था। उसी वक्त इस सुन्दर ग्रंथका मुझे प्रथम-परिचय मिला था और इसके सहारे ही मैंने न्यायशास्त्रमें प्रवेश किया था। इसके बाद 'परीक्षामुख' आदि बीसियों न्यायग्रंथोंको पढ़ने-देखनेका अवसर मिला और वे बड़े ही महत्वके भी मालूम हुए, परन्तु सरलता और सहजबोध गम्यताकी दृष्टिसे हृदयमें 'न्यायदीपिका' को प्रथम स्थान प्राप्त रहा और यह जान पड़ा कि न्यायशास्त्रका अभ्यास प्रारम्भ करनेवाले जैनोंके लिये यह प्रथम-पठनीय और अच्छे कामकी चीज है। और इसलिये ग्रंथकारमहोदयने ग्रंथकी आदिमें 'बाल-प्रबुद्धये' पदके द्वारा ग्रंथका जो लक्ष्य 'बालकोंको न्याय-शास्त्रमें प्रवीण करना' व्यक्त किया है वह यथार्थ है और उसे पूरा करनेमें वे सफल हुए हैं।

न्याय वास्तवमें एक विद्या है, विज्ञान है—साइंस है—अथवा यों कहिये कि एक कसौटी है जिससे वस्तु-तत्त्वको जाना जाता है, परखा जाता है और खरे-खोटेके मिश्रण को पहचाना जाता है। विद्या यदि दूषित होजाय, विज्ञानमें भ्रम छा जाय और कसौटी पर मैल चढ़ जाय तो जिस प्रकार ये चीजें अपना ठीक काम नहीं दे सकतीं उसी प्रकार न्याय भी दूषित भ्रम-पूर्ण तथा मलिन होने पर वस्तुतत्त्वके यथार्थनिर्णय में सहायक नहीं हो सकता। श्रीअकलङ्कदेवसे पहले अन्धकार(अज्ञान) के माहात्म्य और कलियुगके प्रतापसे कुछ ऐसे तार्किक विद्वानों द्वारा जो प्रायः गुण-द्वेषी थे, न्यायशास्त्र बहुत कुछ मलिन किया जा चुका था, अक-लङ्कदेवने सम्यग्-ज्ञानरूप-वचन जलोंसे (न्यायविनिश्चयादि ग्रन्थों द्वारा) जैसे तैसे धो-धाकर उसे निर्मल किया था; जैसाकि न्यायविनिश्चय के निम्न वाक्यसे प्रकट है—

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात्प्रायः गुण-द्वेषिभिः ।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः ॥२॥

अकलङ्कदेव द्वारा पुनः प्रतिष्ठित इस निर्मल न्यायको विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी, अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र जैसे महान् आचार्योंने अपनी अपनी कृतियों तथा टीकाग्रन्थों द्वारा प्रोत्तेजन दिया था और उसके प्रचारको बढ़ाया था; परन्तु दुर्भाग्य अथवा दुर्दैवसे देशमें कुछ ऐसा समय उपस्थित हुआ कि इन गूढ़ तथा गंभीर ग्रन्थोंका पठन-पाठन ही उठ गया, ग्रन्थप्रतियोंका मिलना दुर्लभ हो गया और न्यायशास्त्रके विषयमें एक प्रकारका अन्धकार सा छा गया। अभिनव धर्मभूषणजीने अपने समय (विक्रमकी १५वीं शताब्दी) में इसे महसूस किया और इसलिये उस अन्धकारको कुछ अंशोंमें दूर करनेकी शुभ भावनासे प्रेरित होकर ही वे इस दीपशाखा अथवा टॉर्च (torch) की सृष्टि करनेमें प्रवृत्त हुए हैं और इसलिये इसका 'न्यायदीपिका' यह नाम बहुत ही सार्थक जान पड़ता है।

ग्रन्थके इस वर्तमान प्रकाशनसे पहले चार संस्करण और निकल चुके हैं, जिनमेंसे प्रथम संस्करण वही है जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। सम्पादकीय कथनानुसार यह प्रथम संस्करण दूसरे संस्करणोंकी अपेक्षा शुद्ध है; जबकि होना यह चाहिये था कि पूर्व संस्करणोंकी अपेक्षा उत्तरोत्तर संस्करण अधिक शुद्ध प्रकाशित होते। परन्तु मामला उलटा रहा। अस्तु; मुद्रित प्रतियोंकी ये अशुद्धियाँ अक्सर खटका करती थीं और एक अच्छे शुद्ध तथा उपयोगी संस्करणकी जरूरत बराबर बनी हुई थी।

अप्रेल सन् १९४२ में, जिसे तीन वर्ष हो चुके, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठियाकी योजना वीरसेवामन्दिरमें हुई और उससे कोई १॥ वर्ष बाद मुझे यह बतलाया गया कि आप न्यायदीपिका ग्रंथ पर अच्छा परिश्रम कर रहे हैं, उसके कितने ही अशुद्ध पाठोंका आपने संशोधन किया है, शेषका संशोधन करना चाहते हैं, विषयके स्पष्टीकरणार्थ

संस्कृत टिप्पण लिख रहे हैं जो समाप्तिके करीब है और साथमें हिन्दी अनुवाद भी लिख रहे हैं। अतः ऐसे उपयोगी ग्रन्थको वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमालामें प्रकाशित करनेका विचार स्थिर हुआ। उस समय इस ग्रन्थ का कुल तखमीना १२ फार्म (१९२ पेज) के लगभग था और आज यह २४ फार्म (३८४ पेज) के रूपमें पाठकोंके सामने उपस्थित है। इत तरह धारणासे ग्रन्थका आकार प्रायः दुगना हो गया है। इसका प्रधान कारण तय्यार ग्रन्थमें बादको कितना ही संशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्धन किया जाना, तुलनात्मक टिप्पण-जैसे कुछ विशिष्ट परिशिष्टोंका साथमें लगाया जाना और प्रस्तावनाका आशासे अधिक लम्बा हो जाना है इन सबसे जहाँ ग्रन्थका विस्तार बढ़ा है वहाँ उसकी उपयोगितामें भी वृद्धि हुई है।

इस ग्रन्थकी तैयारीमें कोठियाजीको बहुत कुछ परिश्रम उठाना पड़ा है, छपाईका काम अपनी देखरेखमें इच्छानुकूल शुद्धतापूर्वक शीघ्र करानेके लिये देहली रहना पड़ा है और प्रूफरीडिंगका सारा भार अकेले ही वहन करना पड़ा है। इस सब काममें वीरसेवा-मन्दिर-सम्बन्धी प्रायः ८-९ महीनेका अधिकांश समय ही उनका नहीं लगा बल्कि बहुतसा निजी समय भी खर्च हुआ है और तब कही जाकर यह ग्रन्थ इस रूपमें प्रस्तुत हो सका है। मुझे यह देखकर सन्तोष है कि कोठियाजीको इस ग्रन्थरत्नके प्रति जैसा कुछ सहज अनुराग और आकर्षण था उसके अनुरूप ही वे ग्रन्थ के इस संस्करणको प्रस्तुत करनेमें समर्थ होसके हैं, और इसपर उन्होंने स्वयं ही अपने 'सम्पादकीय' में **बड़ी प्रसन्नता** व्यक्त की है। अपनी इस कृतिके लिये आप अवश्य समाजके धन्यवादपात्र हैं।

अन्तमें कुछ अनिवार्य कारणवश ग्रन्थके प्रकाशनमें जो बिलम्ब हुआ है उसके लिये मैं पाठकोंसे क्षमा चाहता हूँ। आशा है वे प्रस्तुत संस्करण की उपयोगिताको देखते हुए उसे क्षमा करेंगे।

देहली
१८ मई १९४५

जुगलकिशोर मुख्तार
संस्थापक 'वीरसेवामन्दिर'

द्वितीय संस्करण

वीर सेवामन्दिर से प्रकाशित 'न्यायदीपिका' का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया था। और कई स्थानों से उसकी मांग आ रही थी। बम्बई परीक्षालय के पठनक्रम में होने से उसका अभाव विशेष खटक रहा था। इस कारण उसका पुनः प्रकाशन करना पड़ा। प्रथम संस्करण कितना लोकप्रिय हुआ और समाज में उसकी क्या कुछ मांग बढ़ी, इससे उसकी लोकप्रियता का सबूत मिल जाता है। सम्पादन-संशोधन उसका अनुवाद, प्रस्तावना, संस्कृत टिप्पण और शब्दकोष वगैरह के उपयोगी परिशिष्टों से वह केवल छात्रों के ही उपयोग की वस्तु नहीं रही किन्तु विद्वानों के भी उपयोग में आने वाली कृति है। वीरसेवामन्दिर के विद्वान् पं० बालचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री और परमानन्द शास्त्री दोनों ने मिलकर प्रूफ आदि का संशोधन कर इस संस्करण को शुद्ध और सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है, इसके लिए दोनों ही विद्वान् धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है पाठकगण इसे अपनाएँगे।

प्रेमचन्द जैन

सं० मंत्री, वीरसेवामन्दिर

संकेत-सूची[1]

—::०::—

अकलंकग्र० / अकलंक०	अकलंकग्रन्थत्रय	(सिंघी ग्रन्थमाला, कलकत्ता)
अध्यात्मक०	अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड	(वीरसेवामन्दिर, सरसावा)
अमरको०	अमरकोष	(निर्णयसागर, वम्बई)
अष्टश०	अष्टशती	„
अष्टस०	अष्टसहस्री	„
आ० प०	आराप्रति पत्र	(जैनसिद्धान्त भवन, आरा)
आप्तप० / आप्तपरी०	आप्तपरीक्षा	(जैनसिद्धान्त० कलकत्ता)
आप्तमी०	आप्तमीमांसा	„
आप्तमी० वृ०	आप्तमीमांसावृत्ति	„
काव्यमी०	काव्यमीमांसा	„
चरकसं०	चरकसंहिता	(निर्णयसागर, बम्बई)
जैनतर्कभा०	जैनतर्कभाषा	(सिंघी ग्रन्थमाला, कलकत्ता)
जैनशिलालेखसं०	जैनशिलालेखसंग्रह	(मा० ग्रन्थमाला, बम्बई)
जैमिनि०	जैमिनिसूत्र	(निर्णयसागर, बम्बई)
जैनेन्द्रव्या०	जैनेन्द्रव्याकरण	(
तर्कदी०	तर्कदीपिका	(छन्नूलाल ज्ञानचन्द, बनारस)
तर्कसं०	तर्कसंग्रह	„
तर्कसंग्रहपदकृ०	तर्कसंग्रहपदकृत्य	„
तत्त्ववैशा०	तत्त्ववैशारदी	(चौखम्बा, काशी)
तत्त्वसं०	तत्त्वसंग्रह	(गायकवाड़, बड़ौदा)

---

१ जिन ग्रन्थों या पत्रादिकोंके प्रस्तावनादिमें पूरे नाम दे दिये गये हैं उनको यहाँ संकेतसूचीमें छोड़ दिया है। —सम्पादक

तत्त्वार्थवा०	तत्त्वार्थवार्त्तिक	(जैनसिद्धान्त०, कलकत्ता)
तत्त्वार्थवृ०श्रु०	तत्त्वार्थवृत्ति श्रुतसागरी	(लिखित, वीरसेवामन्दिर)
तत्त्वार्थश्लो० तत्त्वार्थश्लोकवा० त० श्लो	तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक	(निर्णयसागर, बम्बई)
तत्त्वार्थश्लो०भा०	तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकभाष्य	"
तत्त्वार्थसू० त० सू०	तत्त्वार्थसूत्र	(प्रथमगुच्छक, काशी)
तत्त्वार्थाधि० भा०	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य	(अर्हतप्रभाकर, पूना)
तात्पर्यपरिशु०	तात्पर्यपरिशुद्धि	...
तिलो० प०	तिलोयपण्णत्ति	(जीवराजग्रन्थ०, शोलापुर)
दिनकरी	सिद्धान्तमुक्तावलीटीका	(निर्णयसागर, बम्बई)
द्रव्यसं०	द्रव्यसंग्रह	...
न्यायकलि०	न्यायकलिका	(गङ्गानाथ झा)
न्यायकु० न्यायकुमु०	न्यायकुमुदचन्द्र	(माणिकचन्द्रग्रन्थमाला, बम्बई)
न्यायकुसु० न्याकु०	न्यायकुसुमाञ्जलि	(चौखम्बा, काशी)
न्यायकुसु. प्रकाश०	न्यायकुसुमाञ्जलिप्र० टीका	"
न्यायदी०	न्यायदीपिका	(प्रस्तुत संस्करण)
न्यायप्र०	न्यायप्रवेश	(गायकवाड़, बड़ौदा)
न्याबि०	न्यायबिन्दु	(चौखम्बा काशी)
न्याबि०टी०	न्यायबिन्दु टीका	"
न्यायमं०	न्यायमंजरी	"
न्यायवा०	न्यायवार्त्तिक	"
न्यायवा०तात्प० न्यायवा.तात्प. टी. न्यायवा० ता०	न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका	"

न्यायवि०	न्याविनिश्चय	(अकलङ्कग्रन्थत्रय)
न्यायवि. वि. लि. न्यायवि. वि. लि.	न्यायविनिश्चयविवरण लिखित	(वीरसेवामन्दिर, सरसावा)
न्यायसू०	न्यायसूत्र	(चौखम्बा, काशी)
न्यायाव०टी०टि०	न्यायावतारटीकाटिप्पणी	(श्वेताम्बरकान्फ्रेंस, बम्बई)
पत्रपरी०	पत्रपरीक्षा	(जैनसिद्धान्त०, कलकत्ता)
परीक्षामु०	परीक्षामु०	(पं० घनश्यामदासजी का)
पात० महाभा०	पातञ्जलिमहाभाष्य	(चौखम्बा, काशी)
प्रमाणनय०	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	(यशोविजयग्र०, काशी)
प्रमाणनि०	प्रमाणनिर्णय	(माणिकचन्द ग्रन्थ०, बम्बई)
प्रमाणमी०	प्रमाणमीमांसा	(सिंघीग्रन्थमाला, कलकत्ता)
प्रमाणमी० भा०	प्रमाणमीमांसाभाषाटिप्पण	,,
प्रमाणसं०	प्रमाणसंग्रह	(अकलङ्कग्रन्थत्रय)
प्रमाणसं० स्वो०	प्रमाणसंग्रह स्वोपज्ञवृत्ति	,,
प्रमाल० प्रमालक्ष०	प्रमालक्षण	
प्रमेयक०	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड	(पं० महेन्द्रकुमारजी, काशी)
प्रमेयर०	प्रमेयरत्नमाला	(पं० फूलचन्दजी, काशी)
प्रवचनसा०	प्रवचनसार	(रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई)
प्रशस्तपादभा०	प्रशस्तपादभाष्य	(चौखम्बा, काशी)
प्रकरणपं० प्रकरणपञ्जि०	प्रकरणपञ्जिका	(चौखम्बा, काशी)
प्रमाणप० प्रमाणपरी० प्र० प०	प्रमाणपरीक्षा	(जैनसिद्धान्तप्र०, कलकत्ता)
प्रमाणमं०	प्रमाणमंजरी	
प्रमाणवा०	प्रमाणवार्तिक	(राहुलजी सम्पादित)

प्रमाणसं०	प्रमाणसमुच्चय	(मैसूर यूनिवर्सिटी)
मनोरथन०	मनोरथनन्दिनी	(प्रमाणमीमांसामें उपयुक्त)
मी० श्लो०	मीमांसाश्लोकवार्त्तिक	(चौखम्बा, काशी)
युक्त्यनुशा० टी०	युक्त्यनुशासनटीका	(मा० ग्रन्थमाला, बम्बई)
योगसू०	योगसूत्र	(चौखम्बा, काशी)
राजवा०	राजवार्त्तिक	(जैनसिद्धान्त०, कलकत्ता)
लघीय० लघी०	लघीयस्त्रय	(अकलंकग्रन्थत्रय)
लघीय० तात्पर्य०	लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति	(मा० ग्रन्थमाला, बम्बई)
लघी०स्वो. वि.	लघीयस्त्रय स्वोपज्ञविवृति	(अकलंकग्रन्थत्रय)
लघुसर्वज्ञ०	लघुसर्वज्ञसिद्धि	(मा० ग्रन्थमाला, बम्बई)
वाक्यप०	वाक्यपदीय	(चौखम्बा, काशी)
वैशेषिक. सूत्रोप. वैशेषि. उप. वैशे. सूत्रोप.	वैशेषिक सूत्रोपस्कार	,,
वैशेषिकसू०	वैशेषिकसूत्र	,,
शब्दश०	शब्दशक्तिप्रकाशिका	
शाबरभा०	शाबरभाष्य	(आनन्दाश्रम, पूना)
शास्त्रदी०	शास्त्रदीपिका	(विद्याविलास प्रेस, काशी)
षड्दर्श०	षड्दर्शनसमुच्चय	(चौखम्बा, काशी)
सर्वदर्श०	सर्वदर्शनसंग्रह	(भाण्डारकर०, पूना)
सर्वार्थ० सर्वार्थसि०	सर्वार्थसिद्धि	(सोलापुर)
साहि०द०	साहित्यदर्पण	
सांख्य. माठरवृ.	सांख्यकारिका माठरवृत्ति	(चौखम्बा, काशी)
सिद्धिविनि. टी.	सिद्धिविनिश्चयटीका	(सरसावा)
सिद्धान्तमु० सि० मु०	सिद्धान्तमुक्तावली	(निर्णयसागर, बम्बई)

स्याद्वादर० स्या. रत्ना.	स्याद्वादरत्नाकर		(आर्हतप्रभाकर., पूना)
स्वयम्भू०	स्वयम्भूस्तोत्र		(प्रथमगुच्छक, काशी)
हेतुबि०	हेतुबिन्दु		(बड़ौदा संस्करण)
आ. A	आरा	पं०	पंक्ति
का.	कारिका	प्र०	प्रति
गा.	गाथा	प्र० प्र०	प्रथमभाग प्रस्तावना
दे.	देहली	प्रस्ता०	प्रस्तावना
टि.	टिप्पण	B	बनारस
प.	पत्र	शि०	शिलालेख
पृ.	पृष्ठ	सम्पा०	सम्पादक

अपनी ओर से निक्षिप्त पाठ—

पृ. १२० पं० १० [यथा], पृ. ६७ पं. ५ [शिशपा]

प्राक्-कथन

व्याकरणके अनुसार दर्शन शब्द **'दृश्यते=निर्णीयते वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्** अथवा **'दृश्यते निर्णीयत इदं वस्तुतत्त्वमिति दर्शनम्'** इन दोनों व्युत्पत्तियोंके आधारपर दृश् धातुसे निष्पन्न होता है। पहली व्युत्पत्तिके आधारपर दर्शन शब्द तर्क-वितर्क, मन्थन या परीक्षास्वरूप उस विचारधाराका नाम है जो तत्त्वोंके निर्णयमें प्रयोजक हुआ करती है। दूसरी व्युत्पत्तिके आधारपर दर्शन शब्दका अर्थ उल्लिखित विचारधाराके द्वारा निर्णीत तत्त्वोंकी स्वीकारता होता है। इस प्रकार दर्शन शब्द दार्शनिक जगत्में इन दोनों प्रकारके अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है अर्थात् भिन्न-भिन्न मतोंकी जो तत्त्वसम्बन्धी मान्यतायें हैं उनको और जिन तार्किक मुद्दोंके आधारपर उन मान्यताओंका समर्थन होता है उन तार्किक मुद्दोंको दर्शनशास्त्रके अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

सबसे पहिले दर्शनोंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—भारतीय दर्शन और अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शन। जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्षमें हुआ है वे भारतीय और जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्षके बाहर पाश्चात्य देशोंमें हुआ है वे अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शन माने गये हैं। भारतीय दर्शन भी दो भागोंमें विभक्त हो जाते हैं—वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन। वैदिक परम्पराके अन्दर जिनका प्रादुर्भाव हुआ है तथा जो वेदपरम्पराके पोषक दर्शन हैं वे वैदिक दर्शन माने जाते हैं और वैदिक परम्परासे भिन्न जिनकी स्वतन्त्र परम्परा है तथा जो वैदिक परम्पराके विरोधी दर्शन हैं उनका समावेश अवैदिक दर्शनोंमें होता है। इस सामान्य नियमके आधारपर वैदिक दर्शनोंमें मुख्यतः सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन आते हैं और जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन, अवैदिक दर्शन ठहरते हैं।

वैदिक और अवैदिक दर्शनोंको दार्शनिक मध्यकालीन युगमें क्रमसे आस्तिक और नास्तिक नामोंसे भी पुकारा जाने लगा था, परन्तु मालूम पड़ता है कि इनका यह नामकरण साम्प्रायिक व्यामोहके कारण वेद-परम्पराके समर्थन और विरोधके आधारपर प्रशंसा और निन्दाके रूपमें किया गया है। कारण, यदि प्राणियोंके जन्मान्तररूप परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिके न माननेरूप अर्थमें नास्तिक शब्दका प्रयोग किया जाय तो जैन और बौद्ध दोनों अवैदिक दर्शन नास्तिक दर्शनोंकी कोटिसे निकल कर आस्तिक दर्शनोंकी कोटिमें आ जायेंगे क्योंकि ये दोनों दर्शन परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिकी मान्यताको स्वीकार करते हैं। और यदि जगत्का कर्ता अनादिनिधन ईश्वरको न माननेरूप अर्थमें नास्तिक शब्दका प्रयोग किया जाय तो सांख्य और मीमाँसा दर्शनोंको भी आस्तिक दर्शनोंकी कोटिसे निकालकर नास्तिक दर्शनोंकी कोटिमें पटक देना पड़ेगा; क्योंकि ये दोनों दर्शन अनादिनिधन ईश्वरको जगत्का कर्ता माननेसे इन्कार करते हैं। 'नास्तिको वेदनिन्दकः' इत्यादि वाक्य भी हमें यह बतलाते हैं कि वेदपरम्पराको न माननेवालों या उसका विरोध करने-वालोंके बारेमें ही नास्तिक शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रायः सभी सम्प्रदायोंमें अपनी परम्पराके माननेवालोंको आस्तिक और अपनेसे भिन्न दूसरे सम्प्रदायकी परम्पराके माननेवालोंको नास्तिक कहा गया है। जैनसम्प्रदायमें जैनपरम्पराके माननेवालोंको सम्यग्दृष्टि और जैनेतर परम्पराके माननेवालोंको मिथ्यादृष्टि कहनेका रिवाज प्रचलित है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शनोंका जो आस्तिक और नास्तिक दर्शनोंके रूपमें विभाग किया जाता है वह निरर्थक एवं अनुचित है।

उल्लिखित सभी भारतीय दर्शनोंमेंसे एक दो दर्शनोंको छोड़कर प्रायः सभी दर्शनोंका साहित्य काफी विशालताको लिये हुए पाया जाता है। जैनदर्शनका साहित्य भी काफी विशाल और महान है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों दर्शनकारोंने समानरूपसे जैनदर्शनके साहित्यकी समृद्धिमें

काफी हाथ बढ़ाया है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें परस्पर जो मतभेद पाया जाता है वह दार्शनिक नहीं, आगमिक है। इसलिये इन दोनोंके दर्शन साहित्यकी समृद्धिके धारावाहिक प्रयासमें कोई अन्तर नहीं आया है।

दर्शनशास्त्रका मुख्य उद्देश्य वस्तु-स्वरूप व्यवस्थापन ही माना गया है। जैनदर्शनमें वस्तुका स्वरूप अनेकान्तात्मक (अनेकधर्मात्मक) निर्णीत किया गया है। इसलिये जैनदर्शनका मुख्य सिद्धान्त अनेकान्तवाद (अनेकान्तकी मान्यता) है। अनेकान्तका अर्थ है—परस्पर विरोधी दो तत्त्वोंका एकत्र समन्वय। तात्पर्य यह है कि जहाँ दूसरे दर्शनोंमें वस्तुको सिर्फ सत् या असत्, सिर्फ सामान्य या विशेष, सिर्फ नित्य या अनित्य, सिर्फ एक या अनेक और सिर्फ भिन्न या अभिन्न स्वीकार किया गया है वहाँ जैन दर्शनमें वस्तुको सत् और असत्, सामान्य और विशेष, नित्य और अनित्य, एक और अनेक तथा भिन्न और अभिन्न स्वीकार किया गया है और जैनदर्शनकी यह सत्-असत्, सामान्य विशेष, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और भिन्न-अभिन्नरूप वस्तुविषयक मान्यता परस्पर विरोधी दो तत्त्वोंका एकत्र समन्वय को सूचित करती है।

वस्तुकी इस अनेक धर्मात्मकताके निर्णयमें साधक प्रमाण होता है। इसलिये दूसरे दर्शनोंकी तरह जैनदर्शनमें भी प्रमाण-मान्यताको स्थान दिया गया है। लेकिन दूसरे दर्शनोंमें जहाँ कारकसाकल्यादिको प्रमाण माना गया है वहाँ जैनदर्शनमें सम्यग्ज्ञान (अपने और अपूर्व अर्थके निर्णायक ज्ञान) को ही प्रमाण माना गया है क्योंकि ज्ञप्ति-क्रियाके प्रति जो करण हो उसीका जैनदर्शनमें प्रमाण नामसे उल्लेख किया गया है। ज्ञप्तिक्रियाके प्रति करण उक्त प्रकारका ज्ञान ही हो सकता है, कारकसाकल्यादि नहीं, कारण कि क्रियाके प्रति अत्यन्त अर्थात् अव्यवहितरूपसे साधक कारणको ही व्याकरणशास्त्रमें करणसंज्ञा दी गयी है[१] और

१ 'साधकतमं कारणम्।'—जैनेन्द्रव्याकरण १।२।११३।

अव्यवहितरूपमें ज्ञप्तिक्रियाका साधक उक्त प्रकारका ज्ञान ही है। कारक-साकल्यादि ज्ञप्तिक्रियाके साधक होते हुए भी उसके अव्यवहितरूपसे साधक नहीं हैं इसलिए उन्हें प्रमाण कहना अनुचित है।

प्रमाण-मान्यताको स्थान देनेवाले दर्शनोंमें कोई दर्शन सिर्फ प्रत्यक्ष-प्रमाणको, कोई प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोंको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणोंको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान चार प्रमाणोंको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति पाँच प्रमाणोंको और कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणोंको मानते हैं। कोई दर्शन एक सम्भव नामके प्रमाणको भी अपनी प्रमाणमान्यतामें स्थान देते हैं। परन्तु जैनदर्शनमें प्रमाणकी इन भिन्न-भिन्न संख्याओंको यथायोग्य निरर्थक, पुनरुक्त और अपूर्ण बतलाते हुए मूलमें प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही भेद प्रमाणके स्वीकार किये गये हैं। प्रत्यक्षके अतीन्द्रिय और इन्द्रिय-जन्य ये दो भेद मानकर अतीन्द्रिय प्रत्यक्षमें अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानका समावेश किया गया है तथा इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षसे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाँच इन्द्रियों और मनका साहाय्य होनेके कारण स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, रसनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, चक्षुइन्द्रिय-प्रत्यक्ष, कर्णेन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष ये छह भेद स्वीकार किये गये हैं। अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके भेद अवधिज्ञान और मनःपर्यय-ज्ञानको जैनदर्शनमें देशप्रत्यक्ष संज्ञा दी गई है। कारण कि इन दोनों ज्ञानोंका विषय सीमित माना गया है और केवलज्ञानको सकलप्रत्यक्ष नाम दिया गया है क्योंकि इसका विषय असीमित माना गया है अर्थात् जगत्के सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने त्रिकालवर्ती विवर्तो सहित इसकी विषयकोटिमें एक साथ समा जाते हैं। सर्वज्ञमें केवलज्ञान नामक इसी सकलप्रत्यक्षका सद्भाव स्वीकार किया गया है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्षको परमार्थ-प्रत्यक्ष और इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहा

जाता है। इसका सबब यह है कि सभी प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान यद्यपि आत्मोत्थ हैं क्योंकि ज्ञानको आत्माका स्वभाव वा गुण माना गया है। परन्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही स्वतन्त्ररूपसे आत्मामें उद्भूत हुआ करते हैं इसलिये इन्हें परमार्थ संज्ञा दी गई है और इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष आत्मोत्थ होते हुए भी उत्पत्तिमें इन्द्रियाधीन हैं इसलिये वास्तवमें इन्हें प्रत्यक्ष कहना अनुचित ही है। अतः लोकव्यवहारकी दृष्टिसे ही इनको प्रत्यक्ष कहा जाता है। वास्तवमें तो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंको भी परोक्ष ही कहना उचित है। फिर जब कि ये प्रत्यक्ष पराधीन हैं तो इन्हें परोक्ष प्रमाणोंमें ही अन्तर्भूत क्यों नहीं किया गया है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जिस ज्ञानमें ज्ञेय पदार्थका इन्द्रियोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान हो उस ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमें अन्तर्भूत किया गया है और जिस ज्ञानमें ज्ञेय पदार्थका इन्द्रियोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान न हो। परम्परया सम्बन्ध कायम होता हो उस ज्ञानको परोक्ष प्रमाणमें अन्तर्भूत किया गया है। उक्त छहों इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षों (सांव्यवहारिक प्रत्यक्षों) में प्रत्येककी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार-चार अवस्थाएँ स्वीकार की गयी हैं। अवग्रह—ज्ञानकी उस दुर्बल अवस्थाका नाम है जो अनन्तरकालमें निमित्त मिलनेपर विरुद्ध नानाकोटि विषयक संशयका रूप धारण कर लेती है और जिसमें एक अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटि भी शामिल रहती है। संशयके बाद अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटि विषयक अनिर्णीत भावनारूप ज्ञानका नाम ईहा माना गया है। और ईहाके बाद अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटि विषयक निर्णीत ज्ञानका नाम अवाय है। यही ज्ञान यदि कालान्तरमें होनेवाली स्मृतिका कारण बन जाता है तो इसे धारणा नाम दे दिया जाता है। जैसे कहीं जाते हुए हमारा दूर स्थित पुरुषको सामने पाकर उसके बारेमें "यह पुरुष है" इस प्रकारका ज्ञान अवग्रह है। इस ज्ञानकी दुर्बलता इसीसे जानी जा सकती है कि यही ज्ञान अनन्तरकालमें निमित्त मिल जानेपर

'वह पुरुष है या ठूंठ" इस प्रकारके संशयका रूप धारण कर लिया करता है। यह संशय अपने अनन्तरकालमें निमित्त विशेषके आधारपर 'मालूम पड़ता है कि यह पुरुष ही है' अथवा 'उसे पुरुष ही होना चाहिये' इत्यादि प्रकारसे ईहा ज्ञानका रूप धारण कर लिया करता है और यह ईहाज्ञान ही अपने अनन्तर समयमें निमित्तविशेषके बलपर 'वह पुरुष ही है' इस प्रकारके अवायज्ञानरूप परिणत हो जाया करता है। यही ज्ञान नष्ट होनेसे पहले कालान्तरमें होनेवाली 'अमुक समय स्थानपर मैंने पुरुषको देखा था' इस प्रकारकी स्मृतिमें कारणभूत जो अपना संस्कार मस्तिष्कपर छोड़ जाता है उसीका नाम धारणाज्ञान जैनदर्शनमें माना गया है। इस प्रकार एक ही इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष (सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष) भिन्न २ समयमें भिन्न २ निमित्तोंके आधारपर अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चार रूपोंको धारण कर लिया करता है और ये चार रूप प्रत्येक इन्द्रिय और मनसे होनेवाले प्रत्यक्षज्ञानमें सम्भव हुआ करते हैं। जैनदर्शनमें प्रत्यक्ष प्रमाणका स्पष्टीकरण इसी ढंगसे किया गया है।

जैनदर्शनमें परोक्षप्रमाणके पाँच भेद स्वीकार किये गये हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इनमेंसे धारणामूलक स्वतन्त्र ज्ञानविशेषका नाम स्मृति है। स्मृति और प्रत्यक्षमूलक वर्तमान और भूत पदार्थोंके एकत्व अथवा सादृश्यको ग्रहण करनेवाला प्रत्यभिज्ञान कहलाता है, प्रत्यभिज्ञानमूलक दो पदार्थोंके अविनाभाव सम्बन्धरूप व्याप्तिका ग्राहक तर्क होता है और तर्कमूलक साधनसे साध्यका ज्ञान अनुमान माना गया है। इसी तरह आगमज्ञान भी अनुमानमूलक ही होता है अर्थात् 'अमुक शब्दका अमुक अर्थ होता है' ऐसा निर्णय हो जानेके बाद ही श्रोता किसी शब्दको सुनकर उसके अर्थका ज्ञान कर सकता है। इस कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य है और परोक्ष प्रमाण सांव्यवहारिक प्रत्यक्षजन्य है। बस, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणमें इतना ही अन्तर है।

जैनदर्शनमें शब्दजन्य अर्थज्ञानको आगम प्रमाण माननेके साथ-साथ उस शब्दको भी आगम प्रमाणमें संग्रहीत किया गया है और इस प्रकार जैनदर्शनमें आगम प्रमाणके दो भेद मान लिये गये हैं। एक स्वार्थप्रमाण और दूसरा परार्थप्रमाण। पूर्वोक्त सभी प्रमाण ज्ञानरूप होनेके कारण स्वार्थप्रमाणरूप ही हैं। परन्तु एक आगम प्रमाण ही ऐसा है जिसे स्वार्थ-प्रमाण और परार्थप्रमाण उभयरूप स्वीकार किया गया है। शब्दजन्य अर्थज्ञान ज्ञानरूप होनेके कारण स्वार्थप्रमाणरूप है। लेकिन शब्दमें चूंकि ज्ञानरूपताका अभाव है इसलिये वह परार्थप्रमाणरूप माना गया है।

यह परार्थप्रमाणरूप शब्द वाक्य और महावाक्यके भेदसे दो प्रकार-का है। इनमेंसे दो या दोसे अधिक पदोंके समूहको वाक्य कहते हैं और दो या दो से अधिक वाक्योंके समूहको महावाक्य कहते हैं, दो या दो से अधिक महावाक्योंके समूहको भी महावाक्यके ही अन्तर्गत समझना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि परार्थप्रमाण एक सखण्ड वस्तु है और वाक्य तथा महावाक्यरूप परार्थप्रमाणके जो खण्ड हैं उन्हें जैन-दर्शनमें नयसंज्ञा प्रदान की गई है। इस प्रकार जैनदर्शनमें वस्तुस्वरूपके व्यवस्थापनमें प्रमाणकी तरह नयोंको भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नयोंका लक्षण निम्न प्रकार समझना चाहिए—

"वक्ताके उद्दिष्ट अर्थका पूर्णरूपेण प्रतिपादक वाक्य और महावाक्य प्रमाण कहा जाता है और वक्ताके उद्दिष्ट अर्थके अंशका प्रतिपादक पद, वाक्य और महावाक्यको नयसंज्ञा दी गयी है।"

इस प्रकार ये दोनों परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नय वचनरूप हैं और चूंकि वस्तुनिष्ठ सत्व और असत्व, सामान्य और विशेष, नित्यत्व और अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व इत्यादि परस्पर विरोधी दो तत्त्व अथवा तद्विशिष्ट वस्तु ही इनका वाच्य है इस-लिए इसके आधारपर जैन दर्शनका सप्तभंगीवाद कायम होता है। अर्थात्

उक्त सत्व और असत्व, सामान्य और विशेष, नित्यत्व और अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व इत्यादि युगलधर्मों और एतद्धर्मविशिष्ट वस्तुके प्रतिपादनमें उक्त परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नय सातरूप धारण कर लिया करते हैं।

प्रमाणवचनके सातरूप निम्न प्रकार हैं—सत्व और असत्व इन दो धर्मोंमेंसे सत्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका पहला-रूप है। असत्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका दूसरा रूप है। सत्व और असत्व उभयधर्ममुखेन क्रमशः वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका तीसरा रूप है। सत्व और असत्व उभयधर्ममुखेन युगपत् (एकसाथ) वस्तुका प्रतिपादन करना असम्भव है इसलिये अवक्तव्य नामका चौथा रूप प्रमाणवचनका निष्पन्न होता है। उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादनकी असम्भवताके साथ-साथ सत्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है इस तरहसे प्रमाणवचनका पाँचवाँ रूप निष्पन्न होता है। इसीप्रकार उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादनकी असम्भवताके साथ-साथ असत्वमुखेन भी वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है इस तरससे प्रमाणवचनका छठा रूप वन जाता है। और उभयधर्म-मुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादनकी असम्भवताके साथ-साथ उभयधर्म-मुखेन क्रमशः वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है इस तरहसे प्रमाणवचनका सातवाँ रूप वन जाता हैं। जैनदर्शनमें इसको प्रमाणसप्तभंगी नाम दिया गया है।

नयवचनके सात रूप निम्न प्रकार हैं—वस्तुके सत्व और असत्व इन तो धर्मोंमेंसे सत्व धर्मका प्रतिपादन करना नयवचनका पहला रूप है। असत्व धर्मका प्रतिपादन करना नयवचनका दूसरा रूप है। उभय धर्मोंका क्रमशः प्रतिपादन करना नयवचनका तीसरा रूप है और चूंकि उभयधर्मोंका युगपत् प्रतिपादन करना असम्भव है इसलिये इस तरहसे अवक्तव्य नामका चौथा रूप नयवचनका निष्पन्न होता है। नयवचनके पांचवें, छठे और सातवें रूपोंको प्रमाणवचनके पांचवें, छठे और सातवें

रूपोंके समान समझ लेना चाहिए। जैनदर्शनमें नयवचनके इन सात रूपोंको नयसप्तभंगी नाम दिया गया है।

इन दोनों प्रकारकी सप्तभंगियोंमें इतना ध्यान रखनेकी जरूरत है कि जब सत्व—धर्ममुखेन वस्तुका अथवा वस्तुके सत्वधर्मका प्रतिपादन किया जाता है तो उस समय वस्तुकी असत्वधर्मविशिष्टताको अथवा वस्तुके असत्वधर्मको अविवक्षित मान लिया जाता है और यही बात असत्वधर्ममुखेन वस्तुका अथवा वस्तु के असत्वधर्मका प्रतिपादन करते समय वस्तुकी सत्वधर्मविशिष्टता अथवा वस्तुके सत्वधर्मके बारेमें समझना चाहिए। इस प्रकार उभयधर्मोंकी विवक्षा (मुख्यता) और अविवक्षा (गौणता)के स्पष्टीकरणके लिए स्याद्वाद अर्थात् स्यात्की मान्यताको भी जैनदर्शनमें स्थान दिया गया है। स्याद्वादका अर्थ है—किसी भी धर्मके द्वारा वस्तुका अथवा वस्तुके किसीभी धर्मका प्रतिपादन करते वक्त उसके अनुकूल किसीभी निमित्त, किसीभी दृष्टिकोण या किसी भी उद्देश्य को लक्ष्य में रखना। और इस तरह से वस्तुकी विरुद्धधर्मविशिष्टता अथवा वस्तुमें विरुद्ध धर्मका अस्तित्व अक्षुण्य रक्खा जा सकता है। यदि उक्त प्रकारके स्याद्वादको नहीं अपनाया जायगा तो वस्तुकी विरुद्धधर्मविशिष्टताका अथवा वस्तुमें विरोधी धर्मका अभाव मानना अनिवार्य हो जायगा और इस तरहसे अनेकान्तवादका भी जीवन समाप्त हो जायगा।

इस प्रकार अनेकान्तवाद, प्रमाणवाद, नयवाद, सप्तभंगीवाद और स्याद्वाद ये जैनदर्शनके अनूठे सिद्धान्त हैं। इनमेंसे एक प्रमाणवादको छोड़कर बाकीके चार सिद्धान्तोंको तो जैनदर्शनकी अपनी ही निधि कहा जा सकता है और ये चारों सिद्धान्त जैनदर्शनकी अपूर्वता एवं महत्ताके अतीव परिचायक हैं। प्रमाणवादको यद्यपि दूसरे दर्शनोंमें स्थान प्राप्त है परन्तु जिस व्यवस्थित ढंग और पूर्णताके साथ जैनदर्शनमें प्रमाणका विवेचन पाया जाता है वह दूसरे दर्शनोंमें नहीं मिल सकता है। मेरे इस कथनकी स्वाभाविकताको जैनदर्शनके प्रमाणविवेचनके साथ दूसरे दर्शनों-

के प्रमाणविवेचनका तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले विद्वान् सहज ही में समझ सकते हैं।

एक बात जो जैनदर्शनकी यहाँ पर कहनेके लिए रह गई है वह है सर्वज्ञतावादकी, अर्थात् जैनदर्शनमें सर्वज्ञतावादको भी स्थान दिया गया है और इसका सबब यह है कि आगमप्रमाणका भेद जो परार्थप्रमाण अर्थात् वचन है उसकी प्रमाणता बिना सर्वज्ञताके संभव नहीं है। कारण कि प्रत्येक दर्शनमें आप्तका वचन ही प्रमाण माना गया है तथा आप्त अवंचक पुरुष ही हो सकता है और पूर्ण अवंचकताकी प्राप्तिके लिए व्यक्तिमें सर्वज्ञताका सद्भाव अत्यन्त आवश्यक माना गया है।

जैनदर्शनमें इन अनेकान्त, प्रमाण, नय, सप्तभंगी, स्यात् और सर्वज्ञताकी मान्यताओंको गंभीर और विस्तृत विवेचनके द्वारा एक निष्कर्षपर पहुँचा दिया गया है। **न्यायदीपिकामें** श्रीमदभिनव **धर्मभूषणयतिने** इन्हीं विषयोंका सरल और संक्षिप्त ढंगसे विवेचन किया है और **श्री पं० दरबारीलाल कोठिया** ने इसे टिप्पणी और हिन्दी अनुवादसे सुसंस्कृत बनाकर सर्वसाधारणके लिए उपादेय बना दिया है। प्रस्तावना, परिशिष्ट आदि प्रकरणों द्वारा इसकी उपादेयता और भी बढ़ गई है। आपने **न्यायदीपिका** के कठिन स्थलों का भी परिश्रमके साथ स्पष्टीकरण किया है। हम आशा करते हैं कि श्री पं० **दरबारीलाल कोठिया** की इस कृति का विद्वत्समाजमें समादर होगा। इत्यलम्।

ता० ३१-३-४५
बीना-इटावा

वंशीधर जैन
(व्याकरणाचार्य, न्यायतीर्थ, न्यायशास्त्री साहित्यशास्त्री)

सम्पादकीय

सम्पादन का विचार और प्रवृत्ति—

सन् १६३७की बात है। मैं उस समय वीरविद्यालय पपौरा (टीकमगढ़ C.I.) में अध्यापनकार्य में प्रवृत्त हुआ था। वहाँ मुझे न्यायदीपिका को अपनी दृष्टिसे पढ़ानेका प्रथम अवसर मिला। जो छात्र उसे पढ़ चुके थे उन्होंने भी पुनः पढ़ी। यद्यपि मैं न्यायदीपिका की सरलता, विशदता आदि विशेषताओं से पहलेसे ही प्रभावित एवं आकृष्ट था। इसीसे मैंने एक बार उसके एक प्रधान विषय 'असाधारणधर्मवचन' लक्षण पर 'लक्षण का लक्षण' शीर्षक के साथ 'जैनदर्शन' में लेख लिखा था। पर पपौरा में उसका सूक्ष्मता से पटन-पाठनका विशेष अवसर मिलनेसे मेरी इच्छा उसे शुद्ध और छात्रोपयोगी बनाने की ओर भी बढ़ी। पढ़ाते समय ऐसी सुन्दर कृतिमें अशुद्धियाँ बहुत खटकती थीं। मैंने उस समय उन्हें यथासम्भव दूर करनेका प्रयत्न किया। साथ में अपने विद्यार्थियोंके लिए न्यायदीपिका की एक 'प्रश्नोत्तरावली' भी तैयार की।

जब मैं सन् १६४० के जुलाईमें वहाँ से ऋषभब्रह्मचर्याश्रम चौरासी मथुरा में आया और वहाँ दो वर्ष रहा उस समय भी मेरी न्यायदीपिका विषयक प्रवृत्ति कुछ चलती रही। यहाँ मुझे आश्रमके सरस्वती भवनमें एक लिखित प्रतिभी मिल गई जो मेरी प्रवृत्तिमें सहायक हुई। मैंने सोचा कि न्यायदीपिका का संशोधन तो अपेक्षित है ही, साथ में तर्कसंग्रह पर न्यायबोधिनी या तर्कदीपिका जैसी व्याख्या-संस्कृतका टिप्पण और हिन्दी अनुवाद भी कई दृष्टियोंसे अपेक्षित है। इस विचारके अनुसार उसका संस्कृत टिप्पण और अनुवाद लिखना आरम्भ किया और कुछ लिखा भी गया। किन्तु संशोधनमें सहायक अनेक प्रतियोंका होना आदि साधनाभावसे वह कार्य आगे नहीं बढ़ सका। और अरसे तक बन्द पड़ा रहा।

इधर जब मैं सन् १९४३ के अप्रेलमें वीरसेवामन्दिरमें आया तो दूसरे साहित्यिक कार्योंमें प्रवृत्त रहनेसे एक वर्ष तक तो उसमें कुछ भी योग नहीं दे पाया। इसके बाद उसे पुनः प्रारम्भ किया और संस्थाके कार्यसे बचे समयमें उसे बढ़ाता गया। मान्यवर मुख्तार सा० ने इसे मालूम करके प्रसन्नता प्रकट करते हुए उसे वीरसेवामन्दिर ग्रन्थमालासे प्रकाशित करनेका विचार प्रदर्शित किया। मैंने उन्हें अपनी सहमति दे दी। और तबसे (लगभग ८, ९ माहसे) अधिकांशतः इसीमें अपना पूरा योग दिया। कई रात्रियोंके तो एक-एक दो-दो भी बज गये। इस तरह जिस महत्त्वपूर्ण एवं सुन्दर कृति के प्रति मेरा आरम्भसे सहज अनुराग और आकर्षण रहा है उसे उसके अनुरूपमें प्रस्तुत करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है।

संशोधन को कठिनाइयां—

साहित्यिक एवं ग्रन्थसम्पादक जानते हैं कि मुद्रित और अमुद्रित दोनों ही तरहकी प्रतियोंमें कैसी और कितनी अशुद्धियाँ रहती हैं। और उनके संशोधनमें उन्हें कितना श्रम और शक्ति लगानी पड़ती है। कितने ही ऐसे स्थल आते हैं जहाँ पाठ त्रुटित रहते हैं और जिनके मिलानेमें दिमाग थककर हैरान हो जाता है। इसी बातका कुछ अनुभव मुझे भी प्रस्तुत न्यायदीपिकाके सम्पादनमें हुआ है। यद्यपि न्यायदीपिकाके अनेक संस्करण हो चुके और एक लम्बे अरसेसे उसका पठन-पाठन है पर उसमें जो त्रुटित पाठ और अशुद्धियाँ चली आ रही हैं उनका सुधार नहीं हो सका। यहाँ मैं सिर्फ कुछ त्रुटित पाठों को बता देना चाहता हूँ जिससे पाठकोंको मेरा कथन असत्य प्रतीत नहीं होगा—

मुद्रित प्रतियों के छूटे हुए पाठ

पृ० ३६ पं० ४	'सर्वतो वैशद्यात्पारमार्थिकं प्रत्यक्षं'	(का०प्र०)
पृ० ६३ पं० ४	'अग्न्यभावे च धूमानुपलम्भे'	(सभी प्रतियोंमें)
पृ० ६४ पं० ५	'सर्वोपसंहारवतीमपि'	,,

पृ० ७० पं० १ 'अनभिप्रेतस्य साध्यत्वेऽतिप्रसङ्गात्' (सभी प्रतियोंमें)
पृ० १०८ पं० ७ 'अदृष्टान्तवचनं तु' „

अमुद्रित प्रतियों के छूटे हुए पाठ

आरा प्र० प० १४ 'अनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्ययगोचरत्वं विकल्पप्रसिद्धत्वं। तद्द्वयविषयत्वं प्रमाणविकल्पप्रसिद्धत्वम्।'

प० प्रति प० ६ 'सहकृताञ्जातं रूपिद्रव्यमात्रविषयमवधिज्ञानं। मनःपर्ययज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमः॥'

स्थूल एवं सूक्ष्म अशुद्धियाँ तो बहुत हैं जो दूसरे संस्करणोंको प्रस्तुत संस्करणके साथ मिलाकर पढ़नेसे ज्ञात हो सकती हैं। हमने इन अशुद्धियोंको दूर करने तथा छूटे हुए पाठों को दूसरी ज्यादा शुद्ध प्रतियोंके आधार से संयोजित करनेका यथासाध्य पूरा यत्न किया है। फिर भी सम्भव है कि दृष्टिदोष या प्रमादजन्य कुछ अशुद्धियाँ अभी भी रही हों।

संशोधनमें उपयुक्त प्रतियों का परिचय—

प्रस्तुत संस्करणमें हमने जिन मुद्रित और अमुद्रित प्रतियोंका उपयोग किया है उनका यहाँ क्रमशः परिचय दिया जाता है :—

प्रथम संस्करण—आजसे कोई ४६ वर्ष पूर्व सन् १८९९ में कलापा भरमापा निटवेने मुद्रित कराया था। यह संस्करण अब प्रायः अलभ्य है। इसकी एक प्रति मुख्तारसाहबके पुस्तकभण्डारमें सुरक्षित है। दूसरे मुद्रितोंकी अपेक्षा यह शुद्ध है।

द्वितीय संस्करण—वीर निर्वाण सं. २४३९ में पं. खूबचन्दजी शास्त्री द्वारा सम्पादित और उनकी हिन्दीटीका सहित जैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालय द्वारा बम्बईमें प्रकट हुआ है। इसके मूल और टीका दोनोंमें स्खलन है।

तृतीय संस्करण—वीर निर्वाण सं० २४४१, ई० सन् १९५५ में भारतीय जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था काशीकी सनातनी जैनग्रन्थमालाकी ओरसे प्रकाशित हुआ है। इसमें भी अशुद्धियाँ पाई जाती हैं।

चतुर्थ संस्करण—वीर निर्वाण सं० २४६४, ई० सन् १६३८ में श्रीकंकुबाई पाठ्य-पुस्तकमाला कारंजाकी ओरसे मुद्रित हुआ। इसमें अशुद्धियाँ कुछ ज्यादा पाई जाती हैं।

यही चार संस्करण अब तक मुद्रित हुए हैं। इनकी मुद्रितार्थ **मु** संज्ञा रक्खी है। शेष अमुद्रित—हस्तलिखित-प्रतियोंका परिचय इस प्रकार है—

द—यह देहलीके नये मन्दिरकी प्रति है। इसमें २३ पत्र हैं और प्रत्येक पत्रमें प्रायः २६-२६ पंक्ति हैं। उपयुक्त प्रतियोंमें सबसे अधिक प्राचीन और शुद्ध प्रति यही है। यह वि० सं० १७४६ के आश्विनमासके कृष्णपक्षकी नवमी तिथिमें पं० जीतसागरके द्वारा लिखी गई है[1]। इस प्रतिमें वह अन्तिम श्लोकभी है। जो आरा प्रतिके अलावा दूसरी प्रतियोंमें नहीं पाया जाता है। ग्रन्थकी श्लोकसंख्या सूचक 'ग्रंथसं० १०००हजार१' यह शब्दभी लिखे हैं। इस प्रतिकी हमने देहली अर्थसूचक **द** संज्ञा रक्खी है। यह प्रति हमें बाबू पन्नालालजी अग्रवालकी कृपासे प्राप्त हुई।

आ—यह आराके जैनसिद्धांत भवनकी प्रति है जो वहाँ नं० २२/२ पर दर्ज है। इसमें २७॥ पत्र हैं। प्रतिमें लेखनादिका काल नहीं है। **'मद्गुरो'** इत्यादि अन्तिम श्लोकभी इस प्रतिमें मौजूद हैं। पृ० २ और पृ० २ पर कुछ टिप्पणके वाक्य भी दिये हुए हैं। यह प्रति मित्रवर पं० नेमीचन्द्रजी शास्त्री ज्योतिषाचार्य द्वारा प्राप्त हुई। इसकी आरा अर्थ-सूचक **आ** संज्ञा रक्खी है।

म—यह मथुराके ऋषभब्रह्मचर्याश्रम चौरासीकी प्रति है। इसमें १३॥ पत्र हैं। वि० सं० १६५२ में जयपुर निवासी मुन्नालाल अग्रवाल के द्वारा लिखी गई है। इसमें प्रारम्भके दो तीन पत्रोंपर कुछ टिप्पण भी हैं। आगे नहीं हैं। यह प्रति मेरे मित्र पं० राजधरलालजी व्याकरणाचार्य द्वारा प्राप्त हुई। इस प्रतिका नाम मथुराबोधक **म** रक्खा है।

---

१ 'संवत् १७४६ वर्षे आश्विनमासे कृष्णपक्षे नवम्यां तिथौ बुधवासरे लिखितं श्रीकुसुमपुरे पं० श्री जीतसागरेण।'—पत्र २३।

प–यह पं. परमानन्दजीकी प्रति है। जो १६॥ पत्रों में समाप्त है। वि. सं. १९५७ में सीताराम शास्त्रीकी लिखी हुई है। इसकी **प** संज्ञा रक्खी है।

ये चारों प्रतियाँ प्रायः पुष्ट कागज़पर हैं और अच्छी दशामें हैं।

प्रस्तुत संस्करणकी आवश्यकता और विशेषताएँ

पहिले संस्करण अधिकांश स्खलित और अशुद्ध थे तथा न्यायदीपिका की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। बंगाल संस्कृत एसोसिएशन कलकत्ताकी जेनन्यायप्रथमा परीक्षामें वह बहुत समयसे निहित है। इधर माणिकचन्द परीक्षालय और महासभाके परीक्षालयमें भी विशारदपरीक्षा में सन्निविष्ट है। ऐसी हालतमें न्यायदीपिका जैसी सुन्दर रचनाके अनुरूप उसका शुद्ध एवं सर्वोपयोगी संस्करण निकालनेकी अतीव आवश्यकता थी। उसीकी पूर्तिका यह प्रस्तुत प्रयत्न है। मैं नहीं कह सकता कि कहाँ तक इसमें सफल हुआ हूँ फिर भी मुझे इतना विश्वास है कि इसमें अनेकोंको लाभ पहुँचेगा और जैन पाठशालाओंके अध्यापकोंके लिये बड़ी सहायक होगी। क्योंकि इसमें कई विशेषताएँ हैं।

पहली विशेषता तो यह है कि मूलग्रन्थको शुद्ध किया गया है। प्राप्त सभी प्रतियोंके आधारसे अशुद्धियोंको दूर करके सबसे अधिक शुद्ध पाठको मूलमें रखा है और दूसरी प्रतियों के पाठान्तरोंको नीचे द्वितीय फुटनोटमें जहाँ आवश्यक मालूम हुआ दे दिया है। जिससे पाठकोंको शुद्धि अशुद्धि ज्ञात हो सके। देहलीकी प्रतिको हमने सबसे ज्यादा प्रमाणभूत और शुद्ध समझा है। इसलिये उसे आदर्श मानकर मुख्यतया उसके ही पाठोंको प्रथम स्थान दिया है। इसलिये मूलग्रन्थको अधिकसे अधिक शुद्ध बनानेका यथेष्ट प्रयत्न किया गया है। अवतरणवाक्योंके स्थानको भी ढूंढ़कर [ ] ऐसे ब्रैकेटमें दे दिया है अथवा खाली छोड़ दिया है।

दूसरी विशेषता यह है कि न्यायदीपिकाके कठिन स्थलोंका खुलासा करनेवाले विवरणात्मक एवं संकलनात्मक 'प्रकाशाख्य' संस्कृतटिप्पणीकी साथमें योजना की गई है जो विद्वानों और छात्रों के लिये खास उपयोगी सिद्ध होगा :

तीसरी विशेषता अनुवादकी है । अनुवाद को मूलानुगामी और सुन्दर बनानेकी पूरी चेष्टा की है । इससे न्यायदीपिकाके विषयको हिन्दीभाषा-भाषी भी समझ सकेंगे और उससे यथेष्ट लाभ उठा सकेंगे ।

चौथी विशेषता परिशिष्टोंकी है जो तुलनात्मक अध्ययन करनेवालों के लिये और सर्वके लिये उपयोगी है । सब कुल परिशिष्ट८हैं जिनमें न्याय-दीपिकागत अवतरणवाक्यों,ग्रन्थों,ग्रन्थकारों आदिका संकलन किया गया है ।

पाँचवीं विशेशता प्रस्तावना की है जो इस संस्करणकी महत्वपूर्ण और सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है । इसमें ग्रन्थकार २२ विषयोंका तुलनात्मक एवं विकासक्रमसे विवेचन करने तथा फुटनोटोंमें ग्रन्थान्तरोंके प्रमाणोंको देनेके साथ ग्रन्थमें उल्लिखित ग्रन्थों और ग्रन्थकारों तथा अभिनय धर्मभूषणका ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक परिचय विस्तृतरूपसे कराया गया है । जो सभी के लिये विशेष उपयोगी है । प्राक्कथन आदि की भी इसमें सुन्दर योजना हो गई है । इस तरह यह संस्करण कई विशेषताओंसे पूर्ण हुआ है ।

आभार—

अन्तमें मुझे अपने विशिष्ट कर्त्तव्यका पालन करना और शेष है । वह है आभार प्रकाशनका । मुझे इसमें जिन महानुभावोंसे कुछ भी सहायता मिली है मैं कृतज्ञतापूर्वक उन सबका नामोल्लेख सहित आभार प्रकट करता हूँ—

गुरुवर्य्य श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने मेरे पत्रादिका उत्तर देकर पाठान्तर लेने आदिके विषयमें अपना मूल्यवान् परामर्श दिया । गुरुवर्य्य और सहाध्यायी माननीय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य-ने प्रश्नोंका उत्तर देकर मुझे अनुगृहीत किया । गुरुवर्य्य श्रद्धेय पं० सुख-लालजी प्रज्ञानयनका मैं पहलेसे ही अनुगृहीत था और अब उनकी सम्पादनदिशा तथा विचारणा से मैंने बहुत लाभ लिया । माननीय पं०

वंशीधरजी व्याकरणाचार्यने संस्कृत टिप्पणको सुनकर आवश्यक सुझाव देने तथा मेरी प्रार्थना एवं लगातार प्रेरणासे प्राक्कथन लिख देनेकी कृपा की और जिन अनेकान्तादि विषयोंपर मैं प्रकाश डालनेसे रह गया था उनपर आपने संक्षेपमें प्रकाश डालकर मुझे सहायता पहुँचाई है। मान्यवर मुख्तारसा० की धीर प्रेरणा और सत्परामर्श तो मुझे मिलते ही रहे। प्रियमित्र पं० अमृतलालजी जैनदर्शनाचार्यने भी मुझे सुझाव दिये। सहयोगी मित्र पं० परमानन्दजी शास्त्रीने अभिनवों और धर्मभूषणोंका संकलन करके मुझे दिया। बा० पन्नालालजी अग्रवालने हिन्दीकी विषय-सूची बनानेमें सहायता की बा० मोतीलालजी और ला० जुगलकिशोरजीने 'मिडियावल जैनिज्म'के अंग्रेजी लेखका हिन्दीभाव समझाया। उपान्तमें मैं अपनी पत्नी सौ० चमेलीदेवीका भी नामोल्लेख कर देना उचित समझता हूँ जिसने आरम्भमें ही परिशिष्टादि तैयार करके मुझे सहायता की। मैं इन सभी सहायकों तथा पूर्वोल्लिखित प्रतिदाताओंका आभार मानता हूँ। यदि इनकी मूल्यवान् सहायताएँ न मिली होतीं तो प्रस्तुत संस्करणमें जो विशेषताएँ आई है वे शायद न आ पातीं। भविष्य में भी उनसे इसी प्रकारकी सहायता देते रहनेकी आशा करता हूँ।

अन्तमें जिन अपने सहायकोंका नाम भूल रहा हूँ उनका और जिन ग्रंथकारों, सम्पादकों, लेखकों आदिके ग्रंथों आदिसे सहायता ली गई है, उनका भी आभार प्रकाशित करता हूँ। इति शम्।

ता० ६-४-४५
वीर सेवामन्दिर, सरसावा
हाल देहली।

सम्पादक
दरबारीलाल जैन, कोठिया
न्यायाचार्य, न्यायतीर्थ, जैनदर्शनशास्त्री

सम्पादकीय

(द्वितीय संस्करण)

सन् १९४५ में वीर सेवामन्दिर से न्यायदीपिका का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था और अब तेईस वर्ष बाद उसका दूसरा संस्करण उसके द्वारा ही प्रकट हो रहा है, यह प्रसन्नता की बात है प्रथम संस्करण कई वर्ष पूर्व ही अप्राप्य हो गया था और उसके पुनः प्रकाशन की प्रेरणा हो रही थी। अतः इस द्वितीयसंस्करण के प्रकाशन से अभ्यासियों और जिज्ञासुओं की ग्रन्थ की अनुपलब्धि के कारण उत्पन्न कठिनाई एवं ज्ञान-बाधा निश्चय ही दूर हो जायेगी।

वीर सेवामन्दिर का यह प्रकाशन अधिक लोकप्रिय क्यों हुआ, यह तो इस ग्रन्थ के अध्येता स्वयं जान सकते हैं। किन्तु यहाँ जो उल्लेखनीय है वह यह कि इसकी प्रस्तावना, संशोधन, टिप्पण और परिशिष्टों से उन्हें भी लाभ हुआ है जो कालेजों और विश्वविद्यालयों में दर्शन-विभाग के अध्यक्ष या प्राध्यापक हैं और जिन्हें जैन तर्कशास्त्र पर लेक्चर (व्याख्यान) देने पड़ते हैं। जयपुर में सन् १९३५ में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का अधिवेशन हुआ था। इसमें मैं भी हिन्दू-विश्वविद्यालय की ओर से सम्मिलित हुआ था। एक गोष्ठी के अध्यक्ष थे डा० राजेन्द्रप्रसाद कानपुर। सभी के परिचय के साथ मेरा भी परिचय दिया गया। गोष्ठी के बाद डा० राजेन्द्रप्रसाद बोले—न्याय-दीपिका का सम्पादन आपने ही किया है?' मेरे 'हाँ' कहने पर उसकी प्रशंसा करने लगे और सम्पादन के सम्बन्ध में जो कल्पनाएं कर रखी थी उन्हें भी प्रकट किया। इस उल्लेख से इतना ही अभिधेय है कि वीरसेवामन्दिर का यह संस्करण जैनाभ्यासियों के अतिरिक्त जैनेतर

अध्येताओं को भी उपयोगी और लाभप्रद सिद्ध हुआ है। इस दृष्टि से ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण आवश्यक था।

इसके पुनः प्रकाशन से पूर्व वीरसेवामन्दिर के विद्वान् पण्डित परमानन्द जी शास्त्री ने इसे मेरे पास पुनरावलोकन के लिए भेज दिया था, पर मैं अपने शोध-कार्यमें व्यस्त रहनेसे उसे आपाततः न देख सका। परन्तु हाँ, वीरसेवामन्दिर के ही वरिष्ठ विद्वान् पण्डित बालचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री ने अवश्य उसे परिश्रम पूर्वक देखा है और मूल तथा अनुवाद के प्रूफ-शोधन भी करने की कृपा की है। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। साथ ही वीरसेवामन्दिर के संचालकों तथा पण्डित परमानन्द जी शास्त्री का भी धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने इसका पुनः प्रकाशन करके और प्रस्तावना आदि का प्रूफरीडिंग करके अध्येताओं को लाभान्वित किया है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी
२६ जून १९६८.

दरबारीलाल जैन, कोठिया
(न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य एम. ए.)

प्रस्तावनागत विषयावली

—::०::—

विषय पृष्ठ

१ न्यायदीपिका और अभिनव धर्मभूषण

न्यायदीपिका में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार

अभिनव धर्मभूषण

प्रस्तावना

—: ❀ :—

न्यायदीपिका और अभिनव धर्मभूषण

किसी ग्रन्थ की प्रस्तावना या भूमिका लिखनेका उद्देश्य यह होता है कि उस ग्रन्थ और ग्रन्थकार एवं प्रासङ्गिक अन्याय विषयोंके सम्बन्धमें ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला जाय, जिससे दूसरे अनेक सम्भ्रान्त पाठकों को उस विषय की यथेष्ट जानकारी सहजमें प्राप्त हो सके।

आज हम जिस ग्रन्थरत्नकी प्रस्तावना प्रस्तुत कर रहे हैं वह 'न्यायदीपिका' है। यद्यपि न्यायदीपिका के कई संस्करण निकल चुके हैं और प्रायः सभी जैन शिक्षा-संस्थाओं में उसका अरसे से पठन-पाठन के रूपमें विशेष समादर हैं। किन्तु अभी तक हम ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नामादि सामान्य परिचय के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानते हैं—उनका ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक अविकल परिचय अब तक सुप्राप्त नहीं है। अतः न्यायदीपिका और अभिनव धर्मभूषणका यथासम्भव सप्रमाण पूरा परिचय कराना ही प्रस्तुत प्रस्तावनाका मुख्य लक्ष्य है। पहले न्यायदीपिका के विषयमें विचार किया जाता है।

१. न्याय-दीपिका

(क) जैन न्यायसाहित्य में न्यायदीपिका का स्थान और महत्त्व—

श्री अभिनव धर्मभूषण यतिकी प्रस्तुत 'न्यायदीपिका' संक्षिप्त एवं अत्यन्त सुविशद और महत्वपूर्ण कृति है। इसे जैनन्यायकी प्रथमकोटिकी भी रचना कही जाय तो अनुपयुक्त न होगा; क्योंकि जैनन्यायके अभ्या-

सियोंके लिए संस्कृत भाषामें निबद्ध सुबोध और सम्बद्ध न्यायतत्त्वका सरलता से विशद विवेचन करनेवाली प्राय: यह अकेली रचना है, जो पाठकके हृदयपर अपना सहज प्रभाव अङ्कित करती है। ईसाकी सतरहवीं शताब्दिमें हुए और 'जैनतर्कभाषा' आदि प्रौढ रचनाओंके रचयिता श्वेताम्बरीय विद्वान् उपाध्याय यशोविजय जैसे बहुश्रुत भी इसके प्रभावसे प्रभावित हुए हैं। उन्होंने अपनी दार्शनिक रचना जैनतर्कभाषामें न्यायदीपिकाके अनेक स्थलोंको ज्योंका त्यों आनुपूर्वीके साथ अपना लिया है[1]। वस्तुत: न्यायदीपिकामें जिस खूबी के साथ संक्षेपमें प्रमाण और नयका सुस्पष्ट वर्णन किया गया है वह अपनी खास विशेषता रखता है। और इसलिए यह संक्षिप्त कृति भी न्यायस्वरूप जिज्ञासुओंके लिये बड़े महत्व और आकर्षणकी प्रिय वस्तु बन गई है। अत: न्यायदीपिकाके सम्बन्धमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह जैनन्यायके प्रथमश्रेणीमें रखे जानेवाले ग्रन्थोंमें स्थान पाने के सर्वथा योग्य है।

(ख) नामकरण—

उपलब्ध ऐतिह्यसामग्री और चिन्तनपरसे मालूम होता है कि दर्शनशास्त्रके रचनायुगमें दार्शनिक ग्रन्थ, चाहे वे जैनेतर हों या जैन हों, प्राय: 'न्याय' शब्दके साथ रचे जाते थे। जैसे न्यायदर्शनमें न्यायसूत्र न्यायवार्तिक, न्यायमंजरी, न्यायकलिका, न्यायसार, न्यायकुसुमाञ्जलि और न्यायलीलावती आदि, बौद्धदर्शनमें न्याय-प्रवेश, न्याय-मुख, न्याय-बिन्दु आदि और जैनदर्शनमें न्यायावतार, न्यायविनिश्चय, न्यायकुमुदचन्द्र आदि पाये जाते हैं। पार्थसारथिकी शास्त्रदीपिका जैसे दीपिकान्त ग्रन्थोंके भी रचे जानेकी उस समय पद्धति रही है। सम्भवत: अभिनव धर्मभूषणने इन ग्रन्थोंको दृष्टिमें रखकर ही अपनी प्रस्तुत कृतिका नाम'न्यायदीपिका रक्खा

---

१ देखो, जैनतर्कभाषा पृ० १३, १४-१६, १७।

जान पड़ता है। और यह अन्वर्थ भी है, क्योंकि इसमें प्रमाणनयात्मक न्याय का प्रकाशन किया गया है। अतः न्यायदीपिकाका नामकरण भी अपना वैशिष्ठ्य स्थापित करता है और वह उसके अनुरूप है।

(ग) भाषा—

यद्यपि न्यायग्रन्थोंकी भाषा अधिकांशतः दुरूह और गम्भीर होती है, जटिलताके कारण उनमें साधारणबुद्धियोंका प्रवेश सम्भव नहीं होता। पर न्यायदीपिकाकारकी यह कृति न दुरूह है और न गम्भीर एवं जटिल है। प्रत्युत इसकी भाषा अत्यन्त प्रसन्न, सरल और बिना किसी कठिनाई के अर्थबोध करानेवाली है। यह बात भी नहीं कि ग्रन्थकार वैसी रचना कर नहीं सकते थे, किन्तु उनका विशुद्ध लक्ष्य अकलङ्कादि रचित उन गम्भीर और दुरवगाह न्यायविनिश्चय आदि न्याय-ग्रन्थोंमें मन्दजनोंकोभी प्रवेश करानेका था। इस बातको स्वयं धर्मभूषणजीने ही बड़े स्पष्ट और प्राञ्जल शब्दोंमें–मङ्गलाचरण पद्य तथा प्रकरणारम्भके प्रस्तावना वाक्यों में कहा है[1]। भाषाके सौष्ठवसे समूचे ग्रन्थकी रचना भी प्रशस्त एवं हृद्य हो गई है।

(घ) रचना-शैली—

भारतीय न्याय-ग्रन्थोंकी ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो उनकी रचना हमें तीन प्रकारकी उपलब्ध होती है:–१सूत्रात्मक,२व्याख्यात्मक और ३ प्रकरणात्मक। जो ग्रन्थ संक्षेपमें गूढ़ अल्पाक्षर और सिद्धान्ततः मूलके प्रतिपादक हैं वे सूत्रात्मक हैं। जैसे—वैशेषिकदर्शनसूत्र,न्यायसूत्र, परीक्षामुखसूत्र आदि। और जो किसी गद्य पद्य या दोनोंरूप मूलका व्याख्यान (विवरण, टीका, वृत्ति) रूप हैं वे व्याख्यात्मक ग्रन्थ हैं। जैसे—प्रशस्त-

१ देखो, न्यायदीपिका पृ० १, ४, ५।

पादभाष्य, न्यायभाष्य,प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि। तथा जो किसी मूलके व्याख्या-ग्रन्थ न होकर अपने स्वीकृत प्रतिपाद्य विषय का स्वतन्त्रभावसे वर्णन करते हैं और प्रसङ्गानुसार दूसरे विषयों का भी कथन करते हैं वे प्रकरणात्मक ग्रन्थ हैं। जैसे—प्रमाण-समुच्चय, न्यायबिन्दु, प्रमाणसंग्रह, आप्तपरीक्षा आदि। ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिका और विश्वनाथ पञ्चाननकी कारिकावली आदि कारिकात्मक ग्रन्थ भी दिग्नाग के प्रमाणसमुच्चय, सिद्धसेनके न्यायावतार और अकलङ्कदेवके लघीयस्त्रय आदिकी तरह प्रायः प्रकरण ग्रन्थ ही हैं, क्योंकि वे भी अपने स्वीकृत प्रतिपाद्य विषयका स्वतंत्रभावसे वर्णन करते हैं और प्रसङ्गोपात्त दूसरे विषयोंका भी कथन करते हैं। अभिनव धर्मभूषणकी प्रस्तुत न्यायदीपिका' प्रकरणात्मक रचना है। इसमें ग्रन्थकर्त्ता ने अपने अंगीकृत वर्णनीय विषय प्रमाण और नयका स्वतन्त्रतासे वर्णन किया है, वह किसी गद्य या पद्यरूप मूलकी व्याख्या नहीं है। ग्रन्थकार ने इसे स्वयं भी प्रकरणात्मक ग्रन्थ माना है[1]। इस प्रकार के ग्रन्थ रचनेकी प्रेरणा उन्हें विद्यानन्दकी 'प्रमाण-परीक्षा', वादिराजके 'प्रमाण-निर्णय' आदि प्रकरण-ग्रन्थोंसे मिली जान पड़ती है।

ग्रन्थके प्रमाण-लक्षण-प्रकाश, प्रत्यक्ष-प्रकाश और परोक्ष-प्रकाश ये तीन प्रकाश करके उनमें विषय-विभाजन उसी प्रकारका किया गया है जिस प्रकार प्रमाण-निर्णयके तीन निर्णयों (प्रमाण-लक्षण-निर्णय, प्रत्यक्ष-निर्णय और परोक्ष-निर्णय) में है। प्रमाणनिर्णयसे प्रस्तुत ग्रन्थ में इतनी विशेषता है कि आगमके विवेचन का इसमें अलग प्रकाश नहीं रक्खा गया है जब कि प्रमाणनिर्णयमें आगमनिर्णय भी है। इसका कारण यह है कि वादिराजाचार्यने परोक्षके अनुमान और आगम ये दो भेद किये हैं तथा अनुमानके भी गौण और मुख्य अनुमान ये दो भेद करके स्मृति,प्रत्यभिज्ञान एवं तर्कको गौण अनुमान प्रतिपादित किया है और इन तीनों के वर्णन को तो

१ 'प्रकरणमिदमारभ्यते'—न्यायदी० पृ० ५।

परोक्ष-निर्णय तथा परोक्षके ही दूसरे भेद आगमके वर्णन को आगमनिर्णय नाम दिया है[1]। आ० धर्मभूषणने आगम जब परोक्ष है तब उसे परोक्ष-प्रकाश में ही सम्मिलित कर लिया है—उसके वर्णन को उन्होंने स्वतन्त्र प्रकाश का रूप नहीं दिया। तीनों प्रकाशोंमें स्थूलरूपसे विषय-वर्णन इस प्रकार है:—

पहले प्रमाणसामान्यलक्षण-प्रकाशमें, प्रथमत: उद्देशादि तीनके द्वारा ग्रन्थ-प्रवृत्तिका निर्देश, उन तीनों के लक्षण, प्रमाणसामान्य का लक्षण, संशय, विपर्यय, अनध्यवसायका लक्षण, इन्द्रियादिकों को प्रमाण न हो सकनेका वर्णन, स्वत: परत: प्रामाण्यका निरूपण और बौद्ध,भाट्ट, प्राभाकर तथा नैयायिकोंके प्रमाण सामान्यलक्षणोंकी आलोचना करके जैनमत-सम्मत सविकल्पक अगृहीतग्राही 'सम्यग्ज्ञानत्व' को ही प्रमाणसामान्य का निर्दोष लक्षण स्थिर किया गया है।

दूसरे प्रत्यक्ष-प्रकाशमें स्वकीय प्रत्यक्षकालक्षण, बौद्ध और नैयायिकों-के निर्विकल्पक तथा सन्निकर्ष प्रत्यक्षलक्षणों की समालोचना, अर्थ और आलोकमें ज्ञानके प्रति कारणताका निराश,विषयकी प्रतिनियामिका योग्यताका उपादान, तदुत्पत्ति और तदाकारता का निराकरण, प्रत्यक्षके भेद-प्रभेदोंका निरूपण, अतीन्द्रिय प्रत्यक्षका समर्थन और सर्वज्ञसिद्धि आदि-का विवेचन किया गया है।

तीसरे परोक्ष-प्रकाशमें, परोक्षका लक्षण, उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पाँच भेदोंका विशद वर्णन, प्रत्यभिज्ञानके एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान आदिका प्रमाणान्तररूपसे उपपादन करके उनका प्रत्यभिज्ञानमें ही अन्तर्भाव होनेका सयुक्तिक समर्थन, साध्य-का लक्षण, साधनका 'अन्यथानुपपन्नत्व' लक्षण,त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्यका निराकरण, अनुमानके स्वार्थ और परार्थ दो भेदोका कथन, हेतु-भेदों के

---

१ देखो प्रमाणनिर्णय पृ० ३३।

उदाहरण, हेत्वाभासोंका वर्णन, उदाहरण,उदाहरणाभास,उपनय, उपनयाभास, निगमन, निगमनाभास आदि अनुमान के परिवार का अच्छा कथन किया गया है। अन्तमें आगम और नयका वर्णन करते हुए अनेकान्त तथा सप्तभंगीका भी संक्षेप में प्रतिपादन किया गया है। इस तरह यह न्यायदीमिकामें वर्णित विषयोंका स्थूल एवं बाह्य परिचय है। अब उसके आभ्यन्तर प्रमेय-भागपर भी थोड़ासा तुलनात्मक विवेचन कर देना हम उपयुक्त समझते हैं। ताकि न्यायदीपिका के पाठकों के लिए उसमें चर्चित ज्ञातव्य विषयों का एकत्र यथासम्भव परिचय मिल सके।

(घ) विषय-परिचय—

१ मङ्गलाचरण—

मंगलाचरणके सम्बन्ध में कुछ वक्तव्य अंश तो हिन्दी अनुवाद के प्रारम्भ में कहा जा चुका है। यहाँ उसके शेष भाग पर कुछ विचार किया जाता है।

यद्यपि भारतीय वाङ्मयमें प्रायः सभी दर्शनकारोंने मंगलाचरणको अपनाया है और अपने अपने दृष्टिकोणसे उसका प्रयोजन एवं हेतु बताते हुए समर्थन किया है। पर जैनदर्शनमें जितना विस्तृत, विशद और सूक्ष्म चिन्तन किया गया है उतना प्रायः अन्यत्र नहीं मिलता। 'तिलोयपण्णत्ति' में[१] यतिवृषभाचार्यने और 'धवला' में[२] श्री वीरसेनस्वामी ने मंगलका बहुत ही सांगोपांग और व्यापक वर्णन किया है। उन्होंने धातु, निक्षेप, नय, एकार्थ, निरुक्ति और अनुयोग के द्वारा मंगल का निरूपण करनेका निर्देश करके उक्त छहों के द्वारा उसका व्याख्यान किया है। 'मगि' धातुसे 'अलच्' प्रत्यय करनेपर मंगल शब्द निष्पन्न होता है। निक्षेपकी अपेक्षा कथन करते हुए लिखा है कि तद्व्यतिरिक्त द्रव्य मंगलके दो

१ तिलो० प० गा० १–८ से १–३१, २ धवला १–१।

भेद हैं—कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमङ्गल और नोकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमङ्गल। उनमें पुण्यप्रकृति-तीर्थंकर नामकर्म कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमङ्गल है; क्योंकि वह लोककल्याणरूप माङ्गल्यका कारण है। नोकर्मतद्व्यतिरिक्त द्रव्यमङ्गल-के दो भेद हैं—लौकिक और लोकोत्तर। उनमें लौकिक—लोक प्रसिद्ध मङ्गल तीन प्रकारका है:—सचित्त, अचित्त और मिश्र। इनमें सिद्धार्थ[1] अर्थात् पीले सरसों, जलसे भरा हुआ पूर्ण कलश, वन्दन-माला, छत्र, श्वेतवर्ण और दर्पण आदि अचित्त मङ्गल हैं। और बाल-कन्या तथा श्रेष्ठ जातिका घोड़ा आदि सचित्त मङ्गल हैं। अलङ्कार सहित कन्या आदि मिश्र मङ्गल हैं। लोकोत्तर-अलौकिक मङ्गलके भी तीन भेद हैं:—सचित्त, अचित्त और मिश्र। अरहन्त आदिका अनादि अनन्त स्वरूप जीव-द्रव्य सचित्त लोकोत्तर मङ्गल है। कृत्रिम, अकृत्रिम चैत्यालय आदि अचित्त लोकोत्तर मङ्गल हैं। उक्त दोनों सचित्त और अचित्त मंगलोंको मिश्र मङ्गल कहा है। आगे मङ्गलके प्रतिबोधक पर्यायनामोंको[2] बतलाकर मङ्गलकी निरुक्ति[3] बताई गई है। जो पापरूप मलको गलावे—विनाश करे और पुण्य-सुखको लावे प्राप्त करावे उसे मङ्गल कहते हैं। आगे चलकर मङ्गलका प्रयोजन बतलाते हुए कहा

---

१ सिद्धत्थ-पुण्ण-कुंभो वंदणमाला य मंगलं छत्तं।
सेदो वण्णो आदंसणो य कण्णा य जच्चस्सो ॥—**धवला** १-१-१पृ.२७

२ देखो **धवला** १-१-१, पृ. ३१। **तिलो० प० गा०** १—८।

३ 'मलं गालयति विनाशयति दहति हन्ति विशोधयति विध्वंसयति इति मंगलम्।'······'अथवा, मंगं सुखं तल्लाति आदत्त इति वा मङ्गलम्।' **धवला०** १-१-१, पृ० ३२-३३।

'गालयदि विणासयदे घादेदि दहेहि हंति सोधयदे।
विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ॥'—**तिलो०प०** १-९।
'अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा।
एदेण कज्जसिद्धिं मंगइ गच्छेदि गंथकत्तारो ॥—**तिलो० प०** १-१५।

गया है[1] कि शास्त्रके आदि, मध्य और अन्तमें जिनेन्द्रका गुणस्तवनरूप मङ्गलका कथन करनेसे समस्त विघ्न उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार सूर्योदयसे समस्त अन्धकार। इनके साथ ही तीनों स्थानोंमें मङ्गल करनेका पृथक् पृथक् फल भी निर्दिष्ट किया है और लिखा है[2] कि शास्त्र के आदिमें मङ्गल करनेसे शिष्य सरलतासे शास्त्रके पारगामी बनते हैं। मध्यमें मङ्गल करनेसे निर्विघ्न विद्या प्राप्ति होती है और अन्तमें मङ्गल करनेसे विद्या-फलकी प्राप्ति होती हैं। इस प्रकार जैनपरम्पराके दिगम्बर साहित्यमें[3] शास्त्रमें मङ्गल करनेका सुस्पष्ट उपदेश मिलता है। श्वेताम्बर आगम साहित्यमें भी मङ्गलका विधान पाया जाता है। दशवैकालिक-निर्युक्ति (गा० २) में त्रिविध मंगल करनेका निर्देश है। विशेषावश्यकभाष्य (गा० १२–१४) में मंगलके प्रयोजनोंमें विघ्नविनाश और महाविद्याकी प्राप्तको बतलाते हुए आदि मंगलका निर्विघ्नरूपसे शास्त्रका पारंगत होना, मध्यमंगलका निर्विघ्नतया शास्त्र-समाप्ति की कामना और अन्त्यमंगलका शिष्य-प्रशिष्यों-में शास्त्र-परम्पराका चालू रहना प्रयोजन बतलाया गया है। बृहत्कल्प-भाष्य (गा० २०) में मंगलके विघ्नविनाशके साथ शिष्यमें शास्त्रके प्रति श्रद्धाका होना आदि अनेक प्रयोजन गिनाये गये हैं। हिन्दी अनुवादके प्रारम्भमें यह कहा ही

---

१ 'सत्थादि-मज्झ-अवसाणएसु जिणतोत्तमंगलुच्चारो।
णासइ णिस्सेसाइं विग्घाइं रवि व्व तिमिराइं ॥'—**ति०प०** १-३१।

२ 'पढमे मंगलवयणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति।
मज्झिम्मे णीविग्घं विज्जा विज्जा फलं चरिमे ॥
—**तिलो० प०** १-२९। **धवला** १-१-१, पृ० ४०।

३ यद्यपि 'कषायपाहुड' और 'चूर्णिसूत्र' के प्रारम्भमें मंगल नहीं किया है तथाहि वहाँ मंगल न करने का कारण यह है कि उन्हें स्वयं मंगल रूप मान लिया गया है।

जा चुका है कि हरिभद्र और विद्यानन्द आदि तार्किकोंने अपने तर्क-ग्रन्थों में भी मंगल करने का समर्थन और उसके विविध प्रयोजन बतलाये हैं।

उपर्युक्त यह मंगल मानसिक, वाचिक और कायिकके भेद से तीन प्रकार का है। वाचिक मंगल भी निबद्ध और अनिबद्धरूप से दो तरह का है[१]। जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारके द्वारा श्लोकादिककी रचनारूपसे इष्ट-देवता-नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है वह वाचिक निबद्ध मंगल है और जो श्लोकादिककी रचना के बिना ही जिनेन्द्र-गुण-स्तवन किया जाता है वह अनिबद्ध मगल है।

प्रकृत न्यायदीपिकामें अभिनव धर्मभूषणने भी अपनी पूर्व परम्पराका अनुसरण किया है और मंगलाचरणको निबद्ध किया है।

२. शास्त्रकी त्रिविध प्रवृत्ति—

शास्त्रकी त्रिविध (उद्देश, लक्षण-निर्देश और परीक्षारूप)प्रवृत्तिका कथन सबसे पहले वात्स्यायनके 'न्याय भाष्य' में दृष्टिगोचर होता है[२]। प्रशस्तपादभाष्यकी टीका 'कन्दली' में श्रीधरने उस त्रिविध प्रवृत्तिमें उद्देश और लक्षणरूप द्विविध प्रवृत्तिको माना है और परीक्षाको अनियत कहकर निकाल दिया है[२]। इसका कारण यह है कि श्रीधरने जिस प्रशस्तपाद भाष्यपर अपनी कंदली टीका लिखी है वह भाष्य और उस भाष्यका आधारभूत वैशेषिकर्शनसूत्र पदार्थों के उद्देश और लक्षणरूप हैं, उनमें परीक्षा नहीं है। पर वात्स्यायनने जिस न्यायसूत्रपर अपना न्यायभाष्य लिखा है उसके सभी सूत्र उद्देश, लक्षण और परीक्षात्मक हैं। इसलिये वात्स्या-

---

१ देखो, **धवला** १-१-१, पृ० ४१ और **आप्तपरीक्षा** पृ० ३।

२ **न्यायभाष्य** पृ० १७, **न्यायदीपिका** परिशिष्ट पृ० २३९। 'पदार्थव्युत्पादनप्रवृत्तस्य शास्त्रस्य उभयथा प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणञ्च। परीक्षायास्तु न नियमः।—**कन्दली** पृ० २६।

यनने त्रिविध प्रवृत्ति और श्रीधर ने द्विविध प्रवृत्ति को स्थान दिया है। शास्त्र-प्रवृत्तिके चौथे भेदरूपसे विभाग को भी माननेका एक पक्ष रहा है जिसका उल्लेख सर्वप्रथम उद्योतकर[1] और जयन्तभट्टने[2] किया है और उसे उद्देशमें ही शामिल कर लेनेका विधान किया है। आ० प्रभाचन्द्र[3] और हेमचन्द्र[4] भी यही कहते हैं। इस तरह वात्स्यायनके द्वारा प्रदर्शित त्रिविध प्रवृत्तिका ही पक्ष स्थिर रहता है। न्यायदीपिकामें प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्र के द्वारा अनुसृत यही त्रिविध प्रवृत्तिका पक्ष अपनाया गया है।

३. लक्षणका लक्षण—

दार्शनिक परम्परामें सर्वप्रथम स्पष्ट तौरपर वात्स्यायनने लक्षणका लक्षण निर्दिष्ट किया है और कहा है कि जो वस्तु का स्वरूप-व्यवच्छेदक धर्म है वह लक्षण है[5]। न्यायवार्तिकके कर्त्ता उद्योतकरका भी यही मत है[6]। न्यायमंजरीकार जयन्तभट्ट सिर्फ 'व्यवच्छेदक' के स्थान में 'व्यवस्था-

---

१ 'उद्दिष्टविभागश्च न त्रिविधायां शास्त्रप्रवृत्तावन्तर्भवतीति। तस्मादुद्दिष्टविभागो युक्तः; न; उद्दिष्टविभागस्योद्देश एवान्तर्भावात्।' **न्यायवा०** पृ० २७, २८। २ ननु च विभागलक्षणा चतुर्थ्यपि प्रवृत्तिरस्त्येव··· उद्देशरूपानपायात्तु उद्देश एव असौ। सामान्यसंज्ञया कीर्त्तनमुद्देशः, प्रकारभेदसंज्ञया कीर्त्तनं विभाग इति'—**न्यायमं०** पृ० १२। ३ देखो, **न्यायकुमुद** पृ. २१। ४ **प्रमाणमी०** पृ. २। ५ 'उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्—**न्यायभा०** पृ. १७। ६ लक्षणस्येतरव्यवच्छेदहेतुत्वात्। लक्षणं खलु लक्ष्यं समानासमानजातीयेभ्यो व्यवच्छिनत्ति'—**न्यायवा०** पृ० २८, 'पर्यायशब्दाः कथं लक्षणम्? व्यवच्छेदहेतुत्वात्। सर्वं हि लक्षणमितरव्यवच्छेदकमेतैश्च पर्यायशब्दैर्नान्यः पदार्थोऽभिधीयत इत्यसाधारणत्वाल्लक्षणम्—**न्यायवा०** पृ० ७९, 'इतरेतरविशेषकं लक्षणमुच्यते'—**न्यायवा०** पृ० १०८।

पक' शब्दको रखकर वात्स्यायनका ही अनुसरण करते हैं[1]। कन्दलीकार श्रीधर भी वात्स्यायनके 'तत्त्व' शब्दके स्थानमें 'स्वपरजातीय' और 'व्यवच्छेदक' की जगह 'व्यावर्त्तक' शब्दका प्रयोग करके करीब करीब उन्हींके लक्षणके लक्षणको मान्य रखते हैं[2]। तर्कदीपिकाकार उक्त कथनोंसे फलित हुये असाधारण धर्मको लक्षणका लक्षण मानते हैं[3] अकलङ्कदेव स्वतन्त्र ही लक्षणका लक्षण प्रणयन करते हैं और वे उसमें 'धर्म' या 'असाधारण धर्म' शब्दका निवेश नहीं करते। पर व्यावृत्तिपरक लक्षण मानना उन्हें इष्ट है[4]। इससे लक्षणके लक्षणकी मान्यतायें दो फलित होती हैं। एक तो लक्षणके लक्षणमें असाधारण धर्म का प्रवेश स्वीकार करनेवाली और दूसरी स्वीकार न करनेवाली। पहली मान्यता मुख्यतया न्याय वैशेषिकोंकी है और जिसे जैन-परम्परामें भी क्वचित्[5] स्वीकार किया गया है। दूसरी मान्यता अकलङ्क-प्रतिष्ठित है और उसे आचार्य विद्यानन्द[6] तथा न्यायदीपिकाकार आदिने अपनाई है। न्यायदीपिकाकारने तो सप्रमाण इसे ही पुष्ट किया है और पहली मान्यताकी आलोचना करके उसमें दूषण भी दिखाये हैं। ग्रन्थकारका कहना है कि यद्यपि किसी वस्तुका असाधारण—विशेष धर्म उस वस्तुका इतर पदार्थोंसे व्यावर्त्तक होता है, परन्तु उसे लक्षणकोटिमें प्रविष्ट नहीं किया जा सकता; क्योंकि दण्डादि जो कि असाधारणधर्म नहीं हैं फिर भी पुरुष के व्यावर्त्तक होते हैं और 'शावलेयत्व' आदि गवादिकों के असाधारणधर्म तो हैं, पर व्यार्त्तक नहीं

---

१ 'उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवस्थापको धर्मो लक्षणम्'—**न्यायमं०** पृ० ११ २ 'उद्दिष्टस्य स्वपरजातीयव्यावर्त्तको धर्मो लक्षणम्'—**कन्दली०** पृ० २६। ३ 'एतद्दूषणत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्। यथा गोः सास्नादिमत्त्वम्। स एवासाधारणधर्म इत्युच्यते'—**तर्कदीपिका** पृ० १४। ४ 'परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्'—**तत्त्वार्थवा०** पृ० ८२। ५ देखो, **परिशिष्ट** पृ० २४०। ६ देखो, **परिशिष्ट** पृ० २४०।

हैं। इसलिए इतना मात्रही लक्षण करना ठीक है कि जो व्यावर्त्तक है— मिली हुई वस्तुओंमेंसे किसी एकको जुदा कराता है वह लक्षण है। चाहे वह साधारण धर्म हो या चाहे असाधारण धर्म हो या धर्म भी न हो। यदि वह लक्ष्यकी लक्ष्यतरोंसे व्यावृत्ति कराता है तो लक्षण है और यदि नहीं कराता है तो वह लक्षण नहीं है इस तरह अकलङ्क-प्रतिष्ठित लक्षण-के लक्षण को ही न्यायदीपिका में अनुप्राणित किया गया है।

प्रमाणका सामान्यलक्षण—

दार्शनिक परम्परामें सर्वप्रथम कणादने प्रमाणका सामान्य लक्षण निर्दिष्ट किया है। उन्होंने निर्दोष ज्ञानको विद्या—प्रमाण कहा है[१]। न्याय-दर्शनके प्रवर्तक गौतमके न्यायसूत्रमें तो प्रमाणसामान्यका लक्षण उपलब्ध नहीं होता। पर उनके टीकाकार वात्स्यायनने अवश्य 'प्रमाण' शब्दसे फलित होनेवाले उपलब्धिसाधन (प्रमाकरण)को प्रमाणसामान्यका लक्षण सूचित किया है[२]। उद्योतकर[३], जयन्तभट्ट[४] आदि नैयायिकों ने वात्स्यायन के द्वारा सूचित किये इस उपलब्धिसाधनरूप प्रमाकरणको ही प्रमाण का सामान्य लक्षण स्वीकृत किया है। यद्यपि न्यायकुसुमाञ्जलिकार[५] उदयनने यथार्थानुभवको प्रमाण कहा है तथापि वह उन्हें प्रमाकरणरूपही इष्ट है। इतना जरूर जान पड़ता है कि उनपर अनुभूतिको प्रमाण मानने वाले प्रभाकर और उनके अनुयायी विद्वानोंका प्रभाव है। क्योंकि उदयनके

---

१ 'अदुष्टं विद्या' **वैशेषिकसू०** ९-२-१२। २ 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् बोधव्यम्। प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः।' **न्यायभा०** पृ० १८। ३ 'उपलब्धिहेतुः प्रमाणं······यदुपलब्धिनिमित्तं तत्प्रमाणं।'— **न्यायवा०** पृ० ५। ४ 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणार्थाभिधायिनः प्रमाणशब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणमवगम्यते। **न्यायमं०** पृ० २५। ५ 'यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते।'—**न्यायकु०** ४-१।

पहले न्याय वैशेषिक परम्परामें प्रमाणसामान्यलक्षणमें 'अनुभव पदका प्रवेश प्रायः उपलब्ध नहीं होता। उनके बादमें तो अनेक नैयायिकोंने[१] अनुभव ही प्रमाणसामान्यका लक्षण बतलाया है।

मीमांसक परम्परामें मुख्यतया दो सम्प्रदाय पाये जाते हैं—१ भाट्ट और २ प्रभाकर। कुमारिल भट्टके अनुगामी भाट्ट और प्रभाकर गुरुके मतका अनुसरण करनेवाले प्राभाकर कहे जाते हैं। कुमारिलने प्रमाणके सामान्यलक्षणमें पाँच विशेषण दिये है। १ अपूर्वार्थविषयत्व २ निश्चितत्व ३ बाधवर्जितत्व ४ अदुष्टकारणारब्धत्व और ५ लोकसम्मतत्व। कुमारिल का वह लक्षण इस प्रकार है :—

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥

पिछले सभी भाट्टमीमांसकोंने इसी कुमारिल कर्त्तृक लक्षणको माना है और उसका समर्थन किया है। दूसरे दार्शनिकोंकी आलोचनाका विषय भी यही लक्षण हुआ है। प्रभाकरने[२] अनुभूति, को प्रमाण सामान्यका लक्षण कहा है।

सांख्यदर्शनमें श्रोत्रादि-इन्द्रियोंकी वृत्ति (व्यापार) को प्रमाणका सामान्य लक्षण बतलाया गया है।

बौद्धदर्शनमें[३] अज्ञातार्थके प्रकाशक ज्ञानको प्रमाणका सामान्य लक्षण बतलाया है। दिग्नागने विषयाकार अर्थनिश्चय और स्वसंवित्तिको प्रमाण-

---

१ 'बुद्धिस्तु द्विविधा मता अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूश्चतुर्विधा।'
—**सिद्धान्तमु० का० ५१।**

'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवोयथार्थः।···सैवप्रमा।' तर्कसं०पृ० ६८,६९

२ 'अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्।' **बृहती १-१-५।**

३ 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।'
—**प्रमाणसमु०** टी० पृ० ११

का फल कह कर उन्हें ही प्रमाण माना है[1]। क्योंकि बौद्धदर्शनमें प्रमाण और फल भी भिन्न नहीं हैं और जो अज्ञातार्थप्रकाश रूप ही हैं। धर्मकीत्तिने[2] अविसंवादि' पद और लगाकर दिग्नाग के ही लक्षण को प्रायः परिष्कृत किया है। तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितने[3] सारूप्य और योग्यताको प्रमाण वर्णित किया है' जो एक प्रकारसे दिग्नाग और धर्मकीर्तिके प्रमाणसामान्यलक्षणका ही पर्यवसितार्थ है। इस तरह बौद्धोंके यहाँ स्वसंवेदी अज्ञातार्थज्ञापक अविसंवादि ज्ञानको प्रमाण कहा गया है।

जैन परम्परामें सर्व प्रथम स्वामी समन्तभद्र[4] और आ० सिद्धसेनने प्रमाणका सामान्यलक्षण निर्दिष्ट किया है और उसमें स्वपरावभासक, ज्ञान तथा बाधविवर्जित ये तीन विशेषण दिये हैं। भारतीय दार्शिनिकोंमें समन्तभद्र ही प्रथम दार्शनिक हैं जिन्होंने स्पष्टतया प्रमाणके सामान्यलक्षणमें 'स्वपरावभासक' पद रखा है यद्यपि विज्ञानवादी बौद्धोंने भी ज्ञानको 'स्वरूपस्य स्वतो गतेः[3] कहकर स्वसंवेदी प्रकट किया है परन्तु तार्किक रूप देकर विशेषरूपसे प्रमाणके लक्षणमें 'स्व' पदका निवेश समन्तभद्रका ही स्वोपज्ञ जान पड़ता हे। क्योंकि उनके पहले वैसा प्रमाणलक्षण देखनेमें नहीं आता। समन्तभद्रने प्रमाणसामान्यका लक्षण 'युगपत्सर्वभासितत्त्वज्ञान' भी किया है जो उपर्युक्त लक्षणमें ही पर्यवसित है दर्शनशास्त्रोंके अध्ययनसे ऐसा मालूम होता है 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' अर्थात् जिसके द्वारा प्रमिति (परिच्छित्तिविशेष) हो वह प्रमाण है' इस अर्थमें

---

१ "स्वसंवित्तिः फल चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाण तेन मीयते॥"—**प्रमाणसमु०** १-१०। २ "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्…"**प्रमाणवा०** २-१। ३ "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा॥"—**तत्त्वसं०** का १३४४। ४ "स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्"—**स्वयम्भू०** का० ६३। ५ प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।"—**न्यायवा०** का० १

प्रायः सभी दर्शनकारोंने प्रमाणको स्वीकार किया है। परन्तु वह प्रमिति किसके द्वारा होती है अर्थात् प्रमितिका करण कौन है ? इसे सबने अलग अलग बतलाया है। नैयायिक और वैशेषिकोंका कहना है कि अर्थज्ञप्ति इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे होती है इसलिए सन्निकर्ष प्रमितिका करण है। मीमांसक सामान्यतया इन्द्रियको, सांख्य इन्द्रियवृत्तिको और बौद्ध सारूप्य एवं योग्यताको प्रमितिकरण बतलाते हैं। समन्तभद्र ने 'स्वपरावभासक' ज्ञानको प्रमितिका अव्यवहितकरण प्रतिपादन किया है। समन्तभद्र के उत्तरवर्ती पूज्यपादने भी स्वपरावभासक ज्ञानको ही प्रमितिकरण (प्रमाण) होनेका समर्थन किया है और सन्निकर्ष, इन्द्रिय तथा मात्र ज्ञानको प्रमिति करण (प्रमाण) माननेमें दोषोद्भावन भी किया है[१]। वास्तवमें प्रमिति—प्रमाणफल जब अज्ञाननिवृत्ति है तब उसका करण अज्ञानविरोधी स्व और परका अवभास करनेवाला ज्ञान ही होना चाहिए। समन्तभद्रके द्वारा प्रतिष्ठित इस प्रमाणलक्षण 'स्वपरावभासक' को आर्थिकरूपसे अपनाते हुए भी शाब्दिकरूपसे अकलङ्कदेवने अपना आत्मार्थग्राहक व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाणलक्षण निर्मित किया है[२]। तात्पर्य यह कि समन्तभद्र के 'स्व' पदकी जगह 'आत्मा' और 'पर' पदके स्थान में 'अर्थ' पद एवं 'अवभासक' पदकी जगह 'व्यवसायात्मक' पदको निविष्ट किया है। तथा 'अर्थ' के विशेषणरूपसे कहीं [३]'अनधिगत' कहीं [४]'अनिश्चित' और कहीं 'अनिर्णीत'[५] पदको दिया है। कहीं ज्ञान के विशेषणरूप से

१ देखो, सर्वार्थसि० १–१०।

२ "व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।"—**लघीय० का० ६०**

३ "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानं अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।"

—**अष्टश०** का० ३६।

४ 'लिंगलिङ्गसम्बन्धज्ञानं प्रमाणं अनिश्चितनिश्चयात्।' **अष्टश० १०१**

५ "प्रकृतस्यापि न वै प्रामाण्यं प्रतिषेध्यं—अनिर्णीतनिर्णायकत्वात्।" **अष्टश०** का० १०१।

'अविसंवादि'[1] पदको भी रखा है। ये पद कुमारिल तथा धर्मकीर्ति से आये हुए मालूम होते हैं; क्योंकि उनके प्रमाणलक्षणोंमें वे पहलेसे ही विहित हैं। अकलङ्कदेवके उत्तरवर्त्ती माणिक्यनन्दिने अकलङ्कदेवके 'अनधिगत' पदके स्थानमें कुमारिलोक्त 'अपूर्वार्थ' और आत्मा' पदके स्थानमें समन्तभद्रोक्त 'स्व' पदका निवेश करके 'स्वापूर्वार्थ' जैसा एक पद बना लिया है और 'व्यवसायात्मक' पदको ज्योंका त्यों अपनाकर 'स्वापूर्वार्थ-व्यवसायात्मकं ज्ञानं' यह प्रमाणसामान्यका लक्षण प्रकट किया है[2]। विद्यानन्दने यद्यपि संक्षेपमें 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाण कहा है[3] और पीछे उसे 'स्वार्थव्यवसायात्मक' सिद्ध किया है[4], अकलङ्क तथा माणिक्यनन्दिकी तरह स्पष्ट तौर पर 'अनधिगत' या 'अपूर्व' विशेषण उन्होंने नहीं दिया, तथापि सम्यग्ज्ञानको अनधिगतार्थविषयक या अपूर्वार्थविषयक मानना उन्हें अनिष्ट नहीं है उन्होंने जो अपूर्वार्थका खण्डन किया है[5] वह कुमारिलके सर्वथा 'अपूर्वार्थ' का खण्डन है। कथंचिद् अपूर्वार्थ तो उन्हें अभिप्रेत है[6]। अकलङ्कदेवकी तरह स्मृत्यादि प्रमाणोंमें अपूर्वार्थता

---

१ "प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्" **अष्टश०** का० ३६। २ "स्वापूर्वार्थ-व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।',—**परीक्षामु०** १-१। ३ "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्"—**प्रमाणपरी०** पृष्ट ५१। ४ "किं पुनः सम्यग्ज्ञानं? अभिधीयते—स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्..." —**प्रमाणप०** पृ० ५३। ५ 'तत्स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानं मानमितीयता लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्॥"—**तत्त्वार्थश्लो०** पृ० १७४।

६ "सकलदेशकालव्याप्तसाध्यासाधनसम्बद्धोहापोहलक्षणो हि तर्कः प्रमाणयितव्यः, तस्य कथाञ्चिदपूर्वार्थत्वात्।" "नचैतद् गृहीतग्रहणादप्रमाणमिति शङ्कनीयम्, तस्य कथाञ्चिदपूर्वार्थत्वात्। न हि तद्विषयभूतमेकं द्रव्यं स्मृतिप्रत्यक्षग्राह्यं येन तत्र प्रवर्त्तमानं प्रत्यभिज्ञानं गृहीतग्राहि मन्येत तद्गृहीतातीतवर्तमानविवर्त्ततादात्म्यात् द्रव्यस्य कथञ्चिदपूर्वार्थ-

का उन्होंने स्पष्टतया समर्थन किया है। सामान्यतया प्रमाणलक्षण में अपूर्व पदको न रखनेका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष तो अपुर्वार्थग्राही होता ही है और अनुमानादि प्रत्यक्ष से अगृहीत धर्मांशोंमें प्रवृत्त होनेसे अपूर्वार्थ-ग्राहक सिद्ध हो जाते हैं। यदि विद्यानन्द को स्मृत्यादिक अपूर्वार्थविषयक इष्ट न होते तो उनकी प्रमाणता में प्रयोजक अपूर्वार्थताको वे कदापि न बतलाते। इससे स्पष्ट है कि विद्यानन्द भी प्रमाणको अपूर्वार्थग्राही मानते हैं। इस तरह समन्तभद्र और अकलङ्कदेव का प्रमाणसामान्यलक्षण ही उत्तरवर्ती जैन तार्किकोंके लिए आधार हुआ है। आ० धर्मभूषणने न्याय-दीपिकामें विद्यानन्दके द्वारा स्वीकृत 'सम्यग्ज्ञानत्व' रूप प्रमाणके सामान्य-लक्षणको ही अपनाया है और उसे अपनी पूर्वपरम्परानुसार सविकल्पक अगृहीतग्राही एवं स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है तथा धर्मकीर्ति प्रभा-कर, भाट्ट और नैयायिकोंके प्रमाणसामान्यलक्षणों की आलोचना की है।

५. धारावाहिक ज्ञान—

दार्शनिक ग्रन्थोंमें धारावाहिक ज्ञानोंके प्रामाण्य और अप्रमाण्यकी विस्तृत चर्चा पायी जाती है। न्याय-वैशेषिक और मीमांसक उन्हें प्रमाण मानते हैं। पर उनकी प्रमाणताका समर्थन वे अलग-अलग ढंगसे करते हैं। न्याय-वैशेषिकोंका[1] कहना है कि उनसे परिच्छित्ति होती है और लोकमें वे प्रमाण भी माने जाते हैं। अतः वे गृहीतग्राही होने पर भी

त्वेऽपि प्रत्यभिज्ञातस्य तद्विषयस्य नाप्रमाणत्वं लैंगिकादेरप्यप्रमाणत्व-प्रसंगात्। तस्यापि सर्वथैवापूर्वार्थत्वासिद्धेः।"—**प्रमाणप०** पृ० ७०। "स्मृतिः प्रमाणान्तरमुक्तं···नचासावप्रमाणमेव संवादकत्वात् कथञ्चिद-पूर्वार्थग्राहित्वात्···"—**प्रमाणप०** पृ० ६७। "गृहीतग्रहणात्तर्कोऽप्रमाण-मिति चेन्न वै। तस्यापूर्वार्थवेदित्वादुपयोगविशेषतः॥"—**तत्त्वार्थश्लो०** पृ० १९५।

१ "अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिकज्ञानानामधिगतगोचराणां

प्रमाण ही हैं। भाट्टोंका[1] मत है कि उनमें सूक्ष्म काल-भेद है। अतएव वे अनधिगत सूक्ष्म काल-भेदको ग्रहण करनेसे प्रमाण हैं। प्रभाकर मत-वाले[2] कहते हैं कि कालभेदका भान होना तो शक्य नहीं है क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है। परन्तु हाँ, पूर्वज्ञान से उत्तरज्ञानों में कुछ अतिशय (वैशिष्ठ्य) देखनेमें नहीं आता। जिस प्रकार पहले ज्ञानका अनुभव होता है उसी प्रकार उत्तर ज्ञानोंका भी अनुभव होता है। इसलिए धारा-वाहिक ज्ञानोंमें प्रथम ज्ञानसे न तो उत्पत्तिकी अपेक्षा कोई विशेषता है और न प्रतीतिकी अपेक्षासे है। अतः वे भी प्रथम ज्ञानकी ही तरह प्रमाण हैं।

बौद्धदर्शनमें यद्यपि अनधिगतार्थक ज्ञानको ही प्रमाण माना है और इसलिए अधिगतार्थक धारावाहिक ज्ञानोंमें स्वतः अप्रामाण्य स्थापित हो जाता है तथापि धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने[3] पुरुषभेदकी अपेक्षासे

लोकसिद्धप्रमाणभावानां प्रामाण्यं विहन्तीति नाद्रियामहे।······तस्मादर्थ-प्रदर्शनमात्रव्यापारमेव ज्ञानं प्रवर्त्तकं प्रापकं च। प्रदर्शनं च पूर्ववदुत्तरे-षामपि विज्ञानानामभिन्नमिति कथं पूर्वमेव प्रमाणं नोत्तराण्यपि।"—**न्यायवा० तात्पर्य०** पृ० २१।

१ "धारावाहिककेष्वप्युत्तरोत्तरेषां कालान्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रह-णाद् युक्तं प्रामाण्यम्।···तस्मादस्ति कालभेदस्य परामर्शः। तदाधि-क्याच्च सिद्धमुत्तरेषां प्रामाण्यम्।"—**शास्त्रदी०** पृ० १२४-१२६। २ "सन्नपि कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृष्यत इति चेत्; अहो सूक्ष्म-दर्शी देवानांप्रियः!"—(**शास्त्रदी०** पृ० १२५) [अत्र पूर्वपक्षेणोल्लेखः] "व्याप्रियमाणे हि पूर्वविज्ञानकारणकलापे उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न प्रती-तित उत्पत्तितो वा धारावाहिकविज्ञानानि परस्परस्यातिशेरते इति युक्ता सर्वेषामपि प्रमाणता।"—**प्रकरणपं०** पृ० ४३। ३ "यदैकस्मिन्नेव नीलादिवस्तुनि धारावाहीनीन्द्रियज्ञानान्युत्पद्यन्ते तदा पूर्वेणाभिन्नयोग-क्षेमत्वात् उत्तरेषामिन्द्रियज्ञानानामप्रामाण्यप्रसङ्गः। न चैवम् अतोऽनेकान्त

उनमें प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वीकार किया है। क्षणभेददृष्टा (योगी) की अपेक्षासे प्रमाणता और क्षणभेद अदृष्टा व्यावहारिक पुरुषों की अपेक्षासे अप्रमाणता वर्णित की है।

जैनपरम्पराके श्वेताम्बर तार्किकोंने धारावाहिक ज्ञानोंको प्रायः प्रमाण ही माना है—उन्हें अप्रमाण नहीं कहा है। किन्तु अकलङ्क और उनके उत्तरवर्ती सभी दिगम्बर आचार्योंने अप्रमाण बतलाया है। और इसीलिए प्रमाणके लक्षणमें अनधिगत या अपूर्वार्थ विशेषण दिया है। विद्यानन्दका कुछ झुकाव अवश्य उन्हें प्रमाण कहनेका प्रतीत होता है[1]। परन्तु जब वे सर्वथा अपूर्वार्थत्वका विरोध करके कथंचित् अपूर्वार्थ स्वीकार कर लेते हैं तब यही मालूम होता है कि उन्हेंभी धारावाहिक ज्ञानोंमें अप्रामाण्य इष्ट है। दूसरे, उन्होंने परिच्छत्तिविशेषके अभावमें जिस प्रकार प्रमाण-सम्प्लव स्वीकार नहीं किया है[2] उसी प्रकार प्रमितिविशेषके अभावमें धारावाहिक ज्ञानोंको अप्रमाण माननेकाभी उनका अभिप्राय स्पस्ट मालूम होता है। अतः धारावाहिक ज्ञानोंसे यदि प्रमितिविशेष उत्पन्न नहीं होती है

इति प्रमाणसंप्लववादी दर्शयन्नाह पूर्वप्रत्यक्षेण इत्यादि। एतत् परिहरति —तद् यदि प्रतिक्षणं क्षणविवेकदर्शिनोऽधिकृत्योच्यते तदा भिन्नोपयोगितया प्रथक् प्रामाण्यात् नानेकान्तः। अथ सर्वपदार्थेष्वेकत्वाध्यवसायिनः सांव्यवहारिकान् पुरुषानभिप्रेत्योच्यते तदा सकलमेव नीलसन्तानमेकमर्थं स्थिररूपं तत्साध्यां चार्थक्रियामेकात्मिकामध्यवस्यन्तीति प्रामाण्यमप्युत्तरेषामनिष्टमेवेति कुतोऽनेकान्तः?"—**हेतुबिन्दुटी०** लि० पृ० ३९ B।

१ "गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति। तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्॥"—**तत्त्वार्थश्लो०** पृ० १७४। २ "उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसम्प्लवस्यानभ्युपगमात्। सति हि प्रतिपत्तुरुपयोगविशेषे देशादिविशेषसमवधानादागमात्प्रतिपन्नमपि हिरण्यरेतसं स पुनरनुमानात्प्रतिपित्सते।"—**अष्टस०** पृ० ४।

तो उन्हें अप्रमाण (प्रमाण नहीं) कहना अयुक्त नहीं है। न्यायदीपिकाकारने भी प्रथम घटादिज्ञानके अलावा उत्तरवर्ती अवशिष्ट घटादिज्ञानोको अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमितिको उत्पन्न न करनेके कारण अप्रमाण ही स्पष्टतया प्रतिपादन किया है और इस तरह उन्होंने अकलङ्कमार्गका ही समर्थन किया है।

६. प्रामाण्यविचार—

ऐसा कोईभी तर्क ग्रन्थ न होगा जिसमें प्रमाणके प्रामाण्याप्रामाण्यका विचार प्रस्फुटित न हुआ हो। ऐसा मालूम होता है कि प्रारम्भमें प्रामाण्यका विचार वेदोंकी प्रामाणता स्थापित करनेके लिए हुआ था[1]। जब उसका तर्कके क्षेत्रमें प्रवेशमें हुआ तब प्रत्यक्षादि ज्ञानोंकी प्रामाणता और अप्रमाणताका विचार होने लगा। प्रत्येक दार्शनिकोंको अपने तर्क ग्रन्थमें प्रामाण्य और अप्रमाण्य तथा उसके स्वतः और परतः होनेका कथन करना अनिवार्य सा हो गया[2] और यही कारण है कि प्रायः छोटेसे छोटे तर्कग्रन्थमें भी वह चर्चा आज देखने को मिलती है।

---

१ "प्रत्याक्षादिषु दृष्टार्थेषु प्रमाणेषु प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेणैव व्यवहारसिद्धेस्तत्र किं स्वतः प्रामाण्यमुत परत इति विचारेण न नः प्रयोजनम्, अनिर्णय एव तत्र श्रेयान्, अदृष्टे तु विषये वैदिकेऽवगणितद्रविणवितरणादिक्लेशसाध्येषु कर्मसु तत्प्रामाण्यावधारणमन्तरेण प्रेक्षावतां प्रवर्त्तनमनुचितमिति तस्य प्रामाण्यनिश्चयोऽवश्यकर्त्तव्यः, तत्र परत एव वेदस्य प्रामाण्यमिति वक्ष्यामः।"—**न्यायमं०** पृ० १५५। २ "सर्वविज्ञानविषयमिदं तावत्प्रतीक्ष्यताम्। प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः किं परतोऽथवा॥"—**मी० श्लो० चो० श्लो०** ३३। "प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा सर्वविज्ञानगोचरम्। स्वतो वा परतो वेति प्रथमं प्रविविच्यताम्।"—**न्यायमं०** पृ० १४६।

न्याय-वैशेषिक[1] दोनोंको परतः, सांख्य[2] दोनोंको स्वतः, मीमांसक[3] प्रामाण्यको तो स्वतः और अप्रामाण्यको परतः तथा बौद्ध[4] दोनोंको किंचित् स्वतः और दोनोंको ही किंचित् परतः वर्णित करते हैं। जैन-दर्शनमें[5] अभ्यास और अनभ्यासदशामें उत्पत्ति तो दोनोंकी परतः और ज्ञप्ति अभ्यासदशामें स्वतः तथा अनभ्यासदशामें परतः मानी गई है। धर्मभूषणने भी प्रमाणताकी उत्पत्ति परसे ही और निश्चय (ज्ञप्ति) अभ्यस्तविषयमें स्वतः एवं अनभ्यस्त विषयमें परतः बतलाया है।

७. प्रमाणके भेद—

दार्शनिकरूपसे प्रमाणके भेदोंको गिनानेवाली सबसे पुरानी परम्परा कौन है? और किसकी है? इसका स्पष्ट निर्देश तो उपलब्ध दार्शनिक साहित्यमें नहीं मिलता है; किन्तु इतना जरूर कहा जा सकता है कि प्रमाण के स्पष्टतया चार भेद गिनानेवाले न्यायसूत्रकार गौतमसे[6] भी पहले प्रमाणके अनेक भेदोंकी मान्यता रही है; क्योंकि उन्होंने ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इन चारका स्पष्टतया उल्लेख करके उनकी अतिरिक्त प्रमाणताका निरसन किया है तथा शब्दमें ऐतिह्यका और

---

१ "द्वमपि परत इत्येष एव पक्षः श्रेयान्"—**न्यायमं०** पृ० १६०। **कन्दली०** पृ० २२०। २ "प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।" —**सर्वदर्श०** पृ० २७६। ३ "स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्। न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येन पार्यते॥"—**मी० श्लो०** सू० २ श्लो० ४७। ४ "उभयमपि एतत् किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परत इति···"—**तत्त्वसं० पं०** का० ३१२३। ५ 'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च"—**परीक्षामु०** १-१३। "प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात् परतोऽन्यथा॥"—**प्रमाणप०** पृ० ६३। ६ "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।"—**न्यायसू०** १-१-३।

अनुमानमें शेष तीनका अन्तर्भाव हो जानेका कथन किया है[1]। प्रशस्तपादने[2] भी अपने वैशेषिकदर्शनानुसार प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो ही प्रमाणोंका समर्थन करते हुए उल्लिखित प्रमाणोंका इन्हींमें अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है। प्रसिद्धिके आधार पर इतना और कहा जा सकता है कि आठ प्रमाणकी मान्यतः सम्भवतः पौराणिकोंकी है। कुछ भी हो, प्रमाणको अनेकभेदरूप प्रारम्भसे ही माना जा रहा है और प्रत्येक दर्शनकारने कमसे कम प्रमाण माननेका प्रयत्न किया है तथा शेष प्रमाणोंको उसी अपनी स्वीकृत प्रमाणसंख्यामें ही अन्तर्भाव करनेका समर्थन किया है। यही कारण है कि सात, छह, पांच, चार, तीन, दो और एक प्रमाणवादी दार्शनिक जगतमें आविर्भूत हुए हैं। एक ऐसाभी मत रहा जो सात प्रमाण मानता था। छह प्रमाण माननेवाले जैमिनी अथवा भाट्ट, पांच प्रमाण माननेवाले प्राभाकर, चार प्रमाण कहनेवाले नैयायिक, तीन प्रमाण माननेवाले सांख्य, दो प्रमाण स्वीकृत करनेवाले वैशेषिक और बौद्ध तथा एक प्रमाण माननेवाले चार्वाक तो आज भी दर्शन शास्त्रकी चर्चाके विषय बने हुए हैं।

जैनदर्शनके सामने भी यह प्रश्न था कि वह कितने प्रमाण मानता है? यद्यपि मत्यादि पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान या प्रमाण माननेकी परंपरा अति सुप्राचीनकालसे ही आगमोंमें निबद्ध और मौखिक रूपसे सुरक्षित चली आ रही थी, पर जैनेतरोंके लिए वह अलौकिक जैसी प्रतीत होती थी—उसका दर्शनान्तरीय प्रमाणनिरुपणसे मेल नहीं खाता था। इस

---

१ "न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्।"—**न्यायसू०** २-२-१। "शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानाऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः।"—**न्यायसू०** २-२-२। २ देखो, **प्रशस्तपादभाष्य** पृ० १०६-१११।

प्रश्न का उत्तर सर्वप्रथम[1] दार्शनिकरूपसे सम्भवतः प्रथम शताब्दिमें हुए तत्त्वार्थसूत्रकार आ० उमास्वातिने[2] दिया है। उन्होंने कहा कि सम्यग्ज्ञान प्रमाण है और वह मूलमें दो ही भेदरूप है :—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। आ० उमास्वातिका यह मौलिक प्रमाणद्वयविभाग इतना सुविचारपूर्वक और कौशल्यपूर्ण हुआ है कि प्रमाणोंका आनन्त्य भी इन्हीं दोमें समा जाता है। इनसे अतिरिक्त पृथक् तृतीय प्रमाण माननेकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं रहती है। जबकि वैशेषिक और बौद्धोंके प्रत्यक्ष तथा अनुमानरूप द्विविध प्रमाणविभागमें अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। उन्होंने अति संक्षेपमें, मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) इनको भी प्रमाणान्तर होनेका संकेत करके और उन्हें मतिज्ञान कह कर 'आद्ये परोक्षम्' सूत्रके द्वारा परोक्षप्रमाणमें ही अन्तर्भूत कर लिया है[3]। आ० उमास्वातिने इस प्रकार प्रमाणद्वयका विभाग करके उत्तरवर्ती जैनतार्किकोंके लिए प्रशस्त और

---

१ यद्यपि श्वेताम्बरीय स्थानाङ्ग और भगवतीमें भी प्रत्यक्ष-परोक्षरूप प्रमाणद्वयका विभाग निर्दिष्ट है, पर उसे श्रद्धेय पं० सुखलालजी निर्युक्तिकार भद्रबाहुके बादका मानते हैं, जिनका समय विक्रमकी छठी शताब्दि है। देखो, **प्रमाणमी०** भा० टि० पृ० २०। और भद्रबाहुके समयके लिये देखो, श्वे० मुनि विद्वान् श्रीचतुरविजयजीका 'श्रीभद्रबाहु' शीर्षक लेख **'अनेकान्त'** वर्ष ३ कि० १२ तथा 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं?' शीर्षक मेरा लेख, **'अनेकान्त'** वर्ष ६ कि० १०-११ पृ० ३३८। २ "तत्प्रमाणे" "आद्ये परोक्षम्"—"प्रत्यक्षमन्यत्" —**तत्त्वार्थसू०** १-१०, ११, १२। ३ "मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्"—**तत्त्वार्थसू०** १-१४।

सरल मार्ग बना दिया। दर्शनान्तरोंमें प्रसिद्ध उपमानादिकको भी परोक्षमें ही अन्तर्भाव होनेका स्पष्ट निर्देश उनके बादमें होनेवाले पूज्यपादने कर दिया[1]। अकलंकदेवने उसी मार्गपर चलकर परोक्ष-प्रमाणके भेदोंकी स्पष्ट संख्या बतलाते हुए उनकी सयुक्तिक सिद्धि की और प्रत्येकका लक्षण प्रणयन किया[2]। आगे तो परोक्षप्रमाणोंके सम्बन्धमें उमास्वाति और अकलङ्कने जो दिशा निर्धारित की उसीपर सब जैनतार्किक अविरुद्ध-रूपसे चले हैं। अकलङ्कदेवके सामने भी एक प्रश्न उपस्थित हुआ। वह यह कि लोकमें तो इन्द्रियाश्रित ज्ञानको प्रत्यक्ष माना जाता है पर जैन-दर्शन उसे परोक्ष कहता है, यह लोकविरोध कैसा ? इसका समाधान उन्होंने बड़े स्पष्ट और प्राञ्जल शब्दोंमें दिया है। वे कहते हैं[3]—प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१ सांव्यवहारिक और २ मुख्य। लोकमें जिस इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्षको प्रत्यक्ष कहा जाता है वह व्यवहारसे तथा देशतः वैशद्य होनेसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके रूपमें जैनोंको इष्ट है। अतः कोई लोक-विरोध नहीं है। अकलङ्कके इस बहुमुखी प्रतिभाके समाधानने सबको चकित किया। फ़िर तो जैन तर्कग्रंथकारोंने इसे बड़े आदरके साथ एक स्वरसे स्वीकार किया और अपने अपने ग्रन्थोंमें अपनाया। इस तरह सूत्र-कार उमास्वातिने जो प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद निर्धारित किये थे उन्हें ही जैनतार्किकोंने परिपुष्ट और समर्थित किया है। यहाँ यह

---

१ "उमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावात् ।" "अत उपमानागमा-दीनामत्रैवान्तर्भावः"—**सर्वार्थसिद्धि** पृ० ६४।

२ "ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम् ।
प्राङ्नामयोजनात् शेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥"—**लघीय०का०११**।
"परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः"—**लघीय० का०** ३।

३ "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः"—**लघीय० का०** ३।

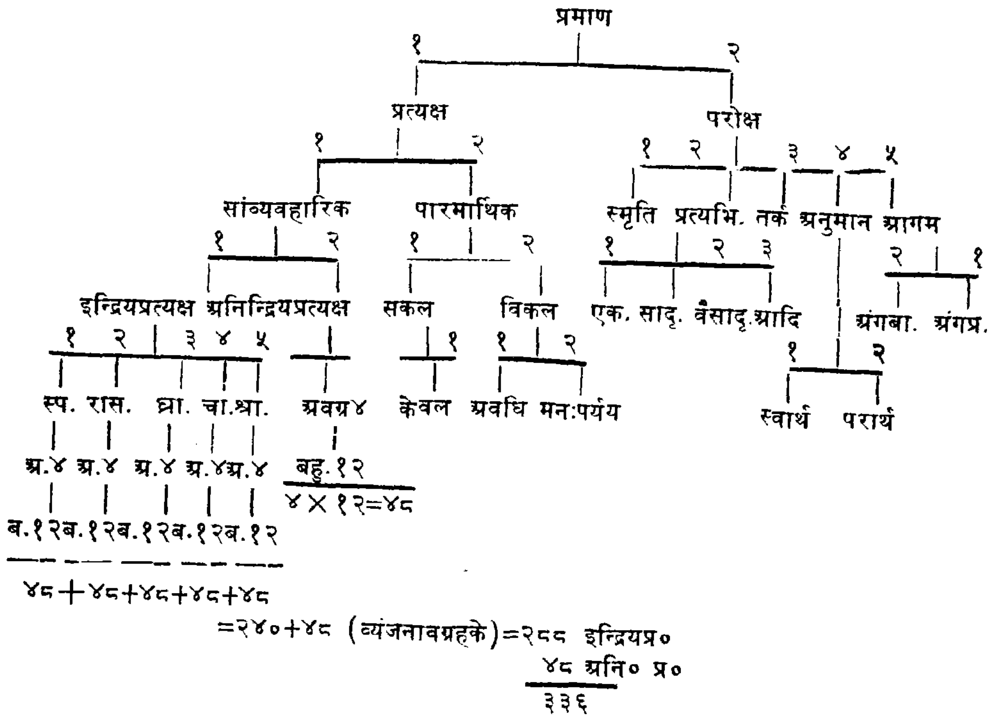
भी कह देना आवश्यक है कि समन्तभद्रस्वामीने[1], जो उमास्वातिके उत्तरवर्ती और पूज्यपादके पूर्ववर्ती हैं, प्रमाणके अन्य प्रकारसे भी दो भेद किये हैं—१ अक्रमभावि और २ क्रमभावि। केवलज्ञान अक्रमभावि है और शेष मत्यादि चार ज्ञान क्रमभावि हैं। पर यह प्रमाणद्वयका विभाग उपयोगके क्रमाक्रमकी अपेक्षासे है। समन्तभद्रके लिये आप्तमीमांसामें आप्त विवेचनीय विषय है। अतः आप्तके ज्ञानको उन्होंने अक्रमभावि और आप्त भिन्न अनाप्त (छद्मस्थ) जीवोंके प्रमाणज्ञानको क्रमभावि बतलाया है इसलिये उपयोगभेद या व्यक्तिभेदकी दृष्टिसे किया गया यह प्रमाणद्वयका विभाग है। आ० धर्मभूषणने सूत्रकार उमास्वाति निर्दिष्ट प्रत्यक्ष और परोक्षरूप ही प्रमाणके दो भेद प्रदर्शित किये हैं और उनके उत्तरभेदोंकी पूर्व परम्परानुसार परिगणना की है। जैनदर्शनमें प्रमाणके जो भेद-प्रभेद किये गये हैं वे इस प्रकार हैं[2]:—

---

१ "तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥"

—आप्तमी० का० १०१।

२ "स्पर्शनादीन्द्रियनिमित्तस्य बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवेषु तदितरेष्वर्थेषु वर्तमानस्य प्रतीन्द्रियमष्टचत्वारिंशद्भेदस्य व्यञ्जनावग्रहभेदैरष्टःचत्वारिंशता सहितस्य संख्याष्टाशीत्युत्तरद्विशती प्रतिपत्तव्या। तथा अतिन्द्रियप्रत्यक्षं बह्वादिद्वादशप्रकारार्थविषयमवग्रहादिविकल्पमष्टचत्वारिंशत्संख्यं प्रतिपत्तव्यम्।"—प्रमाणप० पृ० ६५।


प्रमाण
प्रत्यक्ष
परोक्ष
सांव्यवहारिक
पारमार्थिक
स्मृति
प्रत्यभि.
तर्क
अनुमान
आगम
इन्द्रियप्रत्यक्ष
अनिन्द्रियप्रत्यक्ष
सकल
विकल
एक. सादृ. वैसादृ.आदि
अंगबा.
अंगप्र.
स्प.
रास.
घ्रा.
चा.
श्रा.
अवग्र४
केवल
अवधि
मन:पर्यय
स्वार्थ
परार्थ
अ.४ अ.४ अ.४ अ.४अ.४
बहु.१२
४×१२=४८
ब.१२ब.१२ब.१२ब.१२ब.१२
४८+४८+४८+४८+४८
=२४०+४८ (व्यंजनावग्रहके)=२८८ इन्द्रियप्र०
४८ अनि० प्र०
३३६

८. **प्रत्यक्ष का लक्षण—**

दार्शनिक जगतमें प्रत्यक्षका लक्षण अनेक प्रकारका उपलब्ध होता है। नैयायिक और वैशेषिक सामान्यतया इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षको प्रत्यक्ष कहते हैं[१]। सांख्य श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्तिको और मीमांसक[२] इन्द्रियोंका आत्माके साथ सम्बन्ध होनेपर उत्पन्न होनेवाली बुद्धि (ज्ञान) को प्रत्यक्ष मानते हैं। बौद्धदर्शनमें तीन मान्यतायें हैं :—१ वसुबन्धुकी, २ दिग्नागकी और ३ धर्मकीर्त्तिकी। वसुबन्धुने[३] अर्थजन्य निर्विकल्पक बाधको, दिग्नागने[४] नामजात्यादिरूप कल्पनासे रहित निर्विकल्प ज्ञानको और धर्मकीर्त्तिने[५] निर्विकल्पक तथा अभ्रान्त ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है। सामान्यतया निर्विकल्पकको सभी बौद्ध तार्किकोंने प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। दर्शनान्तरोंमें और भी कितने ही प्रत्यक्ष-लक्षण किये गये हैं। पर वे सब इस संक्षिप्त स्थानपर प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं।

जैनदर्शनमें सबसे पहले सिद्धसेन[६] (न्यायावतारकार) ने प्रत्यक्षका लक्षण किया है। उन्होंने अपरोक्षरूपसे अर्थको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है। इस लक्षणमें अन्योन्याश्रय नामका दोष होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष का लक्षण परोक्षघटित है और परोक्षका लक्षण

---

१ "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्"—**न्यायसूत्र०** १-१-४। २ "तत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्"—**जैमिनि०** १–१–४। ३ "अर्थादिज्ञानं प्रत्यक्षम्"—**प्रमाणस०** पृ० ३२। ४ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।" **प्रमाणसमु०** १–३। ५ "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्" —**न्यायबिन्दु०** पृ० ११।

६ "अपरोक्षतयाऽर्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्। प्रत्यक्षमितरद् ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया।" **न्यायाव०** का० ४।

(प्रत्यक्षभिन्नत्व) प्रत्यक्षघटित है। अकलङ्कदेवने[1] प्रत्यक्षका ऐसा लक्षण बनाया जिससे वह दोष नहीं रहा। उन्होंने कहा कि ज्ञान विशद है—स्पष्ट है वह प्रत्यक्ष है। यह लक्षण अपने आपमें स्पष्ट तो है ही, साथमें बहुत ही संक्षिप्त और अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषोंसे पूर्णतः रहित भी है। सूक्ष्मप्रज्ञ अकलङ्कका यह अकलङ्क लक्षण जैनपरम्परामें इतना प्रतिष्ठित और व्यापक हुआ कि दोनों ही सम्प्रदायोंके श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानोंने बड़े आदरभावसे अपनाया है। जहाँ तक मालूम है फिर दूसरे किसी जैनतार्किकको प्रत्यक्षका अन्य लक्षण बनाना आवश्यक नहीं हुआ और यदि किसीने बनाया भी हो तो उसकी उतनी न तो प्रतिष्ठा हुई है और न उसे उतना अपनाया ही गया है। अकलङ्कदेवने अपने प्रत्यक्ष लक्षणमें उपात्त वैशद्यका[2] भी खुलासा कर दिया है। उन्होंने अनुमादिककी अपेक्षा विशेष प्रतिभास होनेको वैशद्य कहा है। आ० धर्मभूषणने भी अकलङ्कप्रतिष्ठित इन प्रत्यक्ष और वैशद्यके लक्षणों-को अपनाया है और उनके सूत्रात्मक कथनको और अधिक स्फुटित किया है।

९. अर्थ और आलोककी कारणता—

बौद्ध ज्ञानके प्रति अर्थ और आलोकको कारण मानते हैं। उन्होंने चार प्रत्ययों (कारणों) से सम्पूर्ण ज्ञानों (स्वसंवेदनादि) की उत्पत्ति वर्णित की है। वे प्रत्यय ये हैं :—१ समनन्तरप्रत्यय, २ आधिपत्यप्रत्यय, ३ आलम्बनप्रत्यय और ४ सहकारिप्रत्यय। पूर्वज्ञान उत्तरज्ञानकी

---

१ "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्"—**लघीय०** का० ३। प्रत्यलक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा।"—**न्यायवि०** का० ३।

२ "अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्॥"—**लघीय०** का० ४।

उत्पत्तिमें कारण होता है इसलिए वह समनन्तर प्रत्यय कहलाता है। चक्षुरादिक इन्द्रियां आधिपत्य प्रत्यय कही जाती हैं। अर्थ (विषय) आलम्बन प्रत्यय कहा जाता है और आलोक आदि सहकारि प्रत्यय हैं। इस तरह बौद्धोंने इन्द्रियोंके अलावा अर्थ और आलोकको भी कारण स्वीकार किया है। अर्थकी कारणता पर तो यहाँ तक जोर दिया है कि ज्ञान यदि अर्थसे उत्पन्न न हो तो वह अर्थको विषयभी नहीं कर सकता है[1]। यद्यपि नैयायिक आदिने भी अर्थको ज्ञानका कारण माना है पर उन्होंने उतना जोर नहीं दिया। इसका कारण यह है कि नैयायिक आदि ज्ञानके प्रति सीधा कारण सन्निकर्षको मानते हैं। अर्थ तो सन्निकर्ष द्वारा कारण होता है। अतएव जैन तार्किकोंने नैयायिक आदिके अर्थकारणतावाद पर उतना विचार नहीं किया जितना कि बौद्धोंके अर्थालोककारणतावाद पर किया है। एक बात और है, बौद्धोंने अर्थजन्यत्व, अर्थाकारता और अर्थाध्यवसाय इन तीनको ज्ञानप्रामाण्यके प्रति प्रयोजक बतलाया है और प्रतिकर्मव्यवस्था भी ज्ञानके अर्थजन्य होनेमें ही की है। अतः आवरणक्षयोपशमको ही प्रत्येक ज्ञानके प्रति कारण मानने वाले जैनोंके लिए यह उचित और आवश्यक था कि वे बौद्धोंके इस मन्तव्य पर पूर्ण विचार करें और उनके अर्थालोककारणत्वपर सबलताके साथ चर्चा चलाएं तथा जैनदृष्टिसे विषय-विषयीके प्रतिनियमनकी व्यवस्थाका प्रयोजक कारण स्थिर करें। कहा जा सकता है कि इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम सूक्ष्म दृष्टि अकलङ्कदेवने अपनी सफल लेखनी चलाई है और अर्थालोककारणताका सयुक्तिक निरसन किया है। तथा स्वावरणक्षयोपशमको विषय-विषयीका प्रतिनियामक बता कर ज्ञानप्रामाण्यका प्रयोजक संवाद (अर्थाव्यभिचार) को बताया है। उन्होंने

---

१ "नाकरणं विषयः" इति वचनात्।

संक्षेपमें कह दिया[1] कि 'ज्ञान अर्थसे उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि ज्ञान तो 'यह अर्थ है' यही जानता है 'अर्थसे मैं उत्पन्न हुआ' इस बातको वह नहीं जानता। यदि जानता होता तो किसीको विवाद नहीं होना चाहिए था। जैसे घट और कुम्हारको कार्यकारणभावमें किसीको विवाद नहीं है। दूसरी बात यह है कि अर्थ तो विषय (ज्ञेय) है वह कारण कैसे हो सकता है? कारण तो इन्द्रिय और मन हैं। तीसरे, अर्थके रहने पर भी विपरीत ज्ञान देखा जाता है और अर्थाभावमें भी केशोण्डुकादि ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार आलोकभी ज्ञानके प्रति कारण नहीं है, क्योंकि आलोकाभावमें उल्लू आदिको ज्ञान होता है और आलोकसद्भावमें संशयादि ज्ञान देखे जाते हैं। अतः अर्थादिक ज्ञानके कारण नहीं हैं। किन्तु आवरणक्षयोपशमापेक्ष इन्द्रिय और मन ही ज्ञानके कारण है।' इसके साथ ही उन्होंने अर्थजन्यत्व आदिको ज्ञानकी प्रमाणतामें अप्रयोजक बतलाते हुए कहा है[2] कि 'तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और

---

१ "अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः।
अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत्॥"—**लघी०** ५३।

"अर्थस्य तदकारणत्वात्। तस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् अर्थस्य विषयत्वात्।"—**लघी०** स्वो० का० ५२।

"यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः। नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः' इति बालिशगीतम् तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनमावरणविच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके सत्यपि संशयादिज्ञानसम्भवात्। काचाद्युपहतेन्द्रियाणां शंखादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः मुमूर्षाणां यथासम्भवमर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्येति।"—**लघी०** ५७।

१ "न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह।
प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम्॥
नार्थः कारणं विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्तेः अतीततमवत्: न ज्ञानं

तदध्यवसाय ये तीनों मिलकर अथवा प्रत्येक भी प्रमाणतामें कारण नहीं हैं। क्योंकि अर्थ ज्ञानक्षणको प्राप्त न होकर पहले ही नष्ट हो जाता है और ज्ञान अर्थके अभावमें ही होता है, उसके रहते हुए नहीं होता, इसलिए तदुत्पत्ति ज्ञान-प्रामाण्यमें प्रयोजक नहीं है। ज्ञान अमूर्त्त है, इसलिए उसमें आकार सम्भव नहीं है। मूर्त्तिक दर्पणादिमें ही आकार देखा जाता है। अतः तदाकारता भी नहीं बनती है। ज्ञानमें अर्थ नहीं और न अर्थ ज्ञानात्मक है जिससे ज्ञानके प्रतिभासमान होने पर अर्थका भी प्रतिभास हो जाय। अतः तदध्यवसायभी उत्पन्न नहीं होता। जब ये तीनों बनते ही नहीं तब वे प्रामाण्यके प्रति कारण कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते हैं। अतएव जिस प्रकार अर्थ अपने कारणोंसे होता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपने (इन्द्रिय-क्षयोपशमादि) कारणों से होता है[1]। इसलिए संवाद (अर्थव्यभिचार)को ही ज्ञानप्रामाण्यका कारण मानना सङ्गत और उचित है।' अकलङ्कदेवका यह सयुक्तिक निरूपण ही उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द, प्रभाचन्द आदि सभी जैन नैयायिकों-के लिए आधार हुआ है। धर्मभूषणने भी इसी पूर्वपरम्पराका अनुसरण करके बौद्धोंके अर्थालोककारणवादकी सुन्दर समालोचना की है।

तत्कार्यं तदभाव एव भावात्, तद्भावे चाऽभावात् भविष्य नार्थसारूप्य-भृद्विज्ञानम्, अमूर्त्तत्वात्। मूर्त्ता एव हि दर्पणादयः मूर्त्तमुखादिप्रतिबि-म्बधारिणो दृष्टाः, नामूर्त्तं मूर्त्तप्रतिबिम्बभृत्, अमूर्त्तं च ज्ञानम्, मूर्त्तिधर्मा-भावात्। न हि ज्ञानेऽर्थोऽस्ति तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेत शब्दवत्। ततः तदध्यवसायो न स्यात्। कथमेतदविद्यमानं त्रितयं ज्ञानप्रामाण्यं प्रत्युपकारकं स्यात् अलक्षणत्वेन?" **लघीय०** स्वो० **का०** ५८।

१ "स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः॥—**लघीय०**का० ५९।

१०. सन्निकर्ष—

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि नैयायिक और वैशेषिक सन्निकर्षको प्रत्यक्षका स्वरूप मानते हैं। पर वह निर्दोष नहीं है। प्रथम तो, वह अज्ञानरूप है और इसलिए वह अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमिति के प्रति करण-प्रमाण ही नही बन सकता है तब वह प्रत्यक्षका स्वरूप कैसे हो सकता है ? दूसरे, सन्निकर्षको प्रत्यक्षका लक्षण माननेमें अव्याप्ति नामका दोष आता है; क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय विना सन्नकर्षके ही रूपादिका ज्ञान कराती है। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि चक्षुरिन्द्रिय अर्थको प्राप्त करके रूपज्ञान कराती है। कारण, चक्षुरिन्द्रिय दूर स्थित होकर ही पदार्थज्ञान कराती हुई प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे प्रतीत होती है। तीसरे आप्तमें प्रत्यक्ष-ज्ञानके अभावका प्रसङ्ग आता है, क्योंकि आप्तके इन्द्रिय या इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षपूर्वक ज्ञान नहीं होता। अन्यथा सर्वज्ञता नहीं बन सकती है। कारण, सूक्ष्मादि पदार्थोंमें इन्द्रियार्थसन्निकर्ष सम्भव नहीं है[1]। अतः सन्निकर्ष अव्याप्त होने तथा अज्ञानात्मक होनेसे प्रत्यक्षका लक्षण नहीं हो सकता है।

११. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—

इन्द्रिय और अनिन्द्रिय जन्य ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है। [2]सांव्यवहारिक उसे इसलिए कहते हैं कि लोकमें दूसरे दर्शनकार इन्द्रिय और मन सापेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। वास्तवमें तो जो ज्ञान परनिरपेक्ष एवं आत्ममात्र सापेक्ष तथा पूर्ण निर्मल है वही ज्ञान प्रत्यक्ष है। अतः लोकव्यवहारको समन्वय करनेकी दृष्टिसे अक्षजन्य ज्ञानको भी प्रत्यक्ष कहनेमें कोई अनौचित्य नहीं है। सिद्धान्तकी भाषामें तो उसे

---

१ **सर्वार्थसि०** १-१२। तथा **न्यायविनश्चय** का० १६७।

२ "सांव्यवहारिकं इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्—**लघी०** स्वो०का० ४।

परोक्ष ही कहा गया है। जैनदर्शनमें संव्यावहारिक प्रत्यक्षके जो मतिज्ञान-रूप है, भेद और प्रभेद सब मिलकर ३३६ बताये गए हैं। जिन्हें एक नक्शेके द्वारा पहले बता दिया गया है।

१२. मुख्य प्रत्यक्ष—

दार्शनिक जगतमें प्राय: सभीने एक ऐसे प्रत्यक्षको स्वीकार किया है, जो लौकिक प्रत्यक्षसे भिन्न है और जिसे अलौकिक प्रत्यक्ष[1], योगि-प्रत्यक्ष[2] या योगिज्ञानके नामसे कहा गया है। 'यद्यपि किसी किसीने इस प्रत्यक्षमें मनकी अपेक्षा भी वर्णित की है तथापि योगजधर्मका प्रामुख्य होनेके कारण उसे अलौकिक ही कहा गया है। कुछ ही हो, यह अवश्य है कि आत्मामें एक अतीन्द्रिय ज्ञान भी सम्भव है। जैनदर्शनमें ऐसे ही आत्ममात्र सापेक्ष साक्षात्मक अतीन्द्रिय ज्ञानको मुख्य प्रत्यक्ष या पारमार्थिक प्रत्यक्ष माना गया है और जिस प्रकार दूसरे दर्शनोंमें अलौकिक प्रत्यक्षके भी परिचित्तज्ञान, तारक, कैवल्य या युक्त, युञ्जान आदिरूपसे भेद पाये जाते हैं उसी प्रकार जैनदर्शनमें भी विकल, सकल अथवा अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान रूपसे मुख्यप्रत्यक्षके भी भेद वर्णित किये गये हैं। विशेष यह कि नैयायिक और वैशेषिक प्रत्यक्षज्ञानको अतीन्द्रिय मानकर भी उसका अस्तित्व केवल नित्य-ज्ञानाधिकरण ईश्वरमें ही बतलाते हैं। पर जैनदर्शन प्रत्येक आत्मामें उसका सम्भव प्रतिपादन करता है और उसे विशिष्ट आत्मशुद्धिसे पैदा होनेवाला बतलाता है। आ० धर्मभूषणने भी अनेक युक्तियोंके साथ ऐसे ज्ञानका उपपादन एवं समर्थन किया है।

१२. सर्वज्ञता—

भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें सर्वज्ञतापर बहुत ही व्यापक और विस्तृत

---

१ "एवं प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम्।"—**सिद्धान्तमु०पृ० ४७।**

२ "भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिप्रत्यक्षम्।"—**न्यायबिन्दु पृ० २०।**

विचार किया गया है। चार्वाक और मीमांसक ये दो ही दर्शन ऐसे है जो सर्वज्ञता का निषेध करते हैं। शेष सभी न्याय-वैशेषिक, योग-सांख्य, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शन सर्वज्ञताका स्पष्ट विधान करते हैं। चार्वाक इन्द्रियगोचर, भौतिक पदार्थोंका ही अस्तित्व स्वीकार करते हैं, उनके मतमें परलोक, पुण्यपाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थ नहीं हैं। भूतचैतन्यके अलावा कोई नित्य अतीन्द्रिय आत्मा भी नहीं है। अतः चार्वाक दर्शन-में अतीन्द्रियार्थदर्शी सर्वज्ञ आत्माका सम्भव नहीं है। मीमांसक परलोक, पुण्य-पाप, नित्य आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको मानते अवश्य हैं पर उनका कहना है कि धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थो का ज्ञान वेदके द्वारा ही हो सकता है[1]। पुरुष तो रागादिदोषोंसे युक्त हैं। चूँकि रागादि-दोष स्वाभाविक हैं और इसलिए वे आत्मा से कभी नहीं छूट सकते हैं। अतएव रागादि दोषोंके सर्वदा बने रहनेके कारण प्रत्यक्षसे धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होना सर्वथा असम्भव है। न्याय-वैशेषिक ईश्वरमें सर्वज्ञत्व माननेके अतिरिक्त दूसरे योगी आत्माओंमें भी स्वीकार करते हैं[2]। परन्तु उनका वह सर्वज्ञत्व मोक्ष-प्राप्तिके बाद नष्ट हो जाता है। क्योंकि वह योगजन्य होनेसे अनित्य है। हाँ, ईश्वरका सर्वज्ञत्व नित्य एवं शाश्वत है। प्रायः यही मान्यता सांख्य, योग और वेदान्तकी है। इतनी विशेषता है कि वे आत्मामें सर्वज्ञत्व न मानकर बुद्धितत्त्वमें ही सर्वज्ञत्व मानते हैं जो मुक्त अवस्था में छूट जाता है।

---

१ "चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयितुमलम्, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्।"—**शाबरभा०** १-१-२। २ "अस्मद्विशिष्टानां तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्म-सामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते। वियुक्तानां पुनः···।"—**प्रशस्तपा० भा० पृ० १८७।**

मीमांसक दर्शन[1] जहाँ केवल धर्मज्ञताका निषेध करता है और सर्वज्ञताके मानमें इष्टापत्ति प्रकट करता है वहाँ बौद्धदर्शनमें[2] सर्वज्ञताको अनुपयोगी बतलाकर धर्मज्ञता को प्रश्रय दिया गया है। यद्यपि शान्तरक्षित[3] प्रभृति बौद्ध तार्किकों ने सर्वज्ञताका भी साधन किया है। पर वह गौण है[4]। मुख्यतया बौद्धदर्शन धर्मज्ञवादी ही प्रतीत होता है।

जैनदर्शनमें आगमग्रन्थों और तर्कग्रन्थोंमें सर्वत्र धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनोंका ही प्रारम्भसे प्रतिपादन एवं प्रबल समर्थन किया गया है। षट्खण्डागमसूत्रोंमें[5] सर्वज्ञत्व और धर्मज्ञत्वका स्पष्टतः समर्थन मिलता है। आ० कुन्दकुन्दने[6] प्रवचनसारमें विस्तृतरूपसे सर्वज्ञताकी सिद्धि की है। उत्तरवर्ती समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलङ्क, हरिभद्र, विद्यानन्द प्रभृति जैन तार्किकोंने धर्मज्ञत्वको सर्वज्ञत्वके भीतरही गर्भित करके सर्वज्ञत्व पर महत्वपूर्ण प्रकरण लिखे हैं। समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाको तो अकलङ्कदेवने[7] 'सर्वज्ञविशेषपरीक्षा' कहा है। कुछ भी हो, सर्वज्ञताके

---

१ "धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥"—**तत्त्वसं०** का० ३१२८। तत्त्वसंग्रहमें यह श्लोक कुमारिलके नामसे उद्धृत हुआ है। २ "तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्। कीटसंख्यापरिज्ञाने तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥ हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः। यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥"—**प्रमाणवा०** २-३१, ३२। ३ "स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते। साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते।"—**तत्त्वसं०** का ३३०९। ४ "मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसम्प्रापकहेतुज्ञत्वसाधनं भगवतोऽस्माभिः क्रियते। यत्पुनः अशेषार्थपरिज्ञातृत्वसाधनमस्य तत् प्रासङ्गिकम्।"—**तत्त्वसं०** पं० पृ० ८३३। ५ "सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभागे सव्वं समं जाणदि पस्सदि···"—खट्खं० पयडिअणु० सू० ७८। ६ देखो, प्रवचनसार, ज्ञानमीमांसा। ७ देखो, अष्टश० का० ११४।

सम्बन्धमें जितना अधिक चिन्तन जैनदर्शनने किया है और भारतीयदर्शन-शास्त्रको तत्सम्बन्धी विपुल साहित्यसे समृद्ध बनाया है उतना अन्य दूसरे दर्शनने शायद ही किया हो।

अकलङ्कदेवने[1] सर्वज्ञत्वके साधनमें अनेक युक्तियोंके साथ एक युक्ति बड़े मार्केकी कही है वह यह कि सर्वज्ञके सद्भावमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है इसलिए उसका अस्तित्व होना ही चाहिए। उन्होंने जो भी बाधक हो सकते हैं उन सबका सुन्दर ढङ्गसे निराकरण भी किया है। एक दूसरी महत्वपूर्ण युक्ति उन्होंने यह दी है[2] कि 'आत्मा 'ज्ञ'—ज्ञाता है और उसके ज्ञानस्वभावको ढकनेवाले आवरण दूर होते हैं। अतः आवरणोंके विच्छिन्न हो जानेपर ज्ञस्वभाव आत्माके लिए फ़िर ज्ञेय—जानने योग्य क्या रह जाता है? अर्थात् कुछभी नहीं। अप्राप्यकारी ज्ञानसे सकलार्थपरिज्ञान होना अवश्यम्भावी है? इन्द्रियाँ और मन सकलार्थपरिज्ञानमें साधक न होकर बाधक हैं वे जहाँ नहीं हैं और आवरणोंका पूर्णतः अभाव है वहाँ त्रैकालिक और त्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थोंका साक्षात् ज्ञान होनेमें कोई बाधा नहीं है। वीरसेनस्वामी[3] और आचार्य विद्यानन्दने[4] भी इसी आशयके एक महत्त्वपूर्ण श्लोकको[5] उद्धृत करके ज्ञस्वभाव आत्मामें सर्वज्ञताका उपपादन किया है जो वस्तुतः अकेला ही सर्वज्ञताको सिद्ध करनेमें समर्थ एवं पर्याप्त है। इस तरह हम देखते हैं कि जैनपरम्परामें

---

१ देखो, अष्टश० का० ३।

२ "ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम्॥"—**न्यायवि०** का० ४६५। तथा देखो, का० ३६१, ३६२। ३ देखो, जयधवला प्र० भा० पृ० ६६। ४ देखो, अष्टस० पृ० ५०।

५ 'ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने॥"

मुख्य और निरुपाधिक एवं निरवधि सर्वज्ञता मानी गई है। वह सांख्य-योगादिकी तरह जीवन्मुक्त अवस्था तक ही सीमित नहीं रहती, मुक्त अवस्थामें भी अन्तकाल तक बनी रहती है। क्योंकि ज्ञान आत्माका मूलभूत निजी स्वभाव है और सर्वज्ञता आवरणाभावमें उसीका विकसित पूर्णरूप है। इतरदर्शनोंकी तरह वह न तो मात्र आत्ममनः सयोगादि जन्य है और न योगजविभूति ही है। आ० धर्मभूषणने स्वामी समन्तभद्रकी सरणिसे सर्वज्ञताका साधन किया है और उन्हींकी सर्वज्ञत्वसाधिका कारिकाओंका स्फुट विवरण किया है। प्रथम तो सामान्य सर्वज्ञका समर्थन किया है। पीछे 'निर्दोषत्व' हेतुके द्वारा अरहन्त जिनको ही सर्वज्ञ सिद्ध किया है।

१४. परोक्ष—

जैनदर्शनमें प्रमाणका दूसरा भेद परोक्ष है। यद्यपि बौद्धोंने[1] परोक्ष शब्दका प्रयोग अनुमानके विषयभूत अर्थमें किया है। क्योंकि उन्होंने दो प्रकारका अर्थ माना है—१ प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष तो साक्षात्क्रियमाण है और परोक्ष उससे भिन्न है तथापि जैन परम्परामें[2] 'परोक्ष' शब्दका प्रयोग प्राचीन समयसे परोक्ष ज्ञानमें ही होता चला आ रहा है। दूसरे प्रत्यक्षता और परोक्षता वस्तुतः ज्ञाननिष्ठ धर्म है। ज्ञानको प्रत्यक्ष एवं परोक्ष होने से अर्थभी उपचारसे प्रत्यक्ष और परोक्ष कहा जाता है। यह अवश्य है कि जैन दर्शनके इस 'परोक्ष' शब्द का व्यवहार और उसकी परिभाषा दूसरों को कुछ विलक्षण-सी मालूम होगी परन्तु

---

१ "द्विविधो अर्थः प्रत्यक्षः परोक्षश्च। तत्र प्रत्यक्षविषयः साक्षात्क्रियमाणः प्रत्यक्षः। परोक्षः पुनरसाक्षात्परिच्छिद्यमानोऽनुमेयत्वादनुमानविषयः।"—**प्रमाणप० पृ० ६५। न्यायवा० तात्प० पृ० १५८।**

२ "जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमत्थेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं॥"—**प्रवचनसा० गा० ५८।**

वह इतनी सुनिश्चित और वस्तुस्पर्शी है कि शब्द को तोड़े मरोड़े बिना ही सहजमें आर्थिक बोध हो जाता है। परोक्षकी जैनदर्शनसम्मत परिभाषा विलक्षण इसलिए मालूम होगी कि लोकमें इन्द्रियव्यापार रहित ज्ञानको परोक्ष कहा गया है[१]। जबकि जैनदर्शनमें इन्द्रियादि परकी अपेक्षासे होने वाले ज्ञानको परोक्ष कहा है[२]। वास्तवमें 'परोक्ष' शब्दसे भी यही अर्थ ध्वनित होता है। इस परिभाषाको ही केन्द्र बनाकर अकलङ्कदेवने परोक्ष की एक दूसरी परिभाषा रची है। उन्होंने अविशद ज्ञानको परोक्ष कहा है[३]। जान पड़ता है कि अकलङ्कदेवका यह प्रयत्न सिद्धान्त मतका लोकके साथ समन्वय करनेकी दृष्टिसे हुआ है। बादमें तो अकलङ्कदेवकृत यह परोक्ष-लक्षण जैनपरम्परामें इतना प्रतिष्ठित हुआ है कि उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने[४] उसे अपनाया है। यद्यपि सबकी दृष्टि परोक्षको परापेक्ष मानने की ही रही है।

आ. कुन्दकुन्दने[५] परोक्षका लक्षण तो कर दिया था, परन्तु उसके भेदोंका कोई निर्देश नहीं किया था। उनके पश्चाद्वर्ती आ० उमास्वातिने परोक्षके भेदोंको भी स्पष्टतया सूचित कर दिया और मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये दो भेद बतलाये। मतिज्ञानके भी मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये पर्याय नाम कहे। चूंकि मति मतिज्ञान सामान्यरूप है। अतः मतिज्ञानके चार भेद हैं। इनमें श्रुतको और मिला देनेपर परोक्षके फलतः उन्होंने पाँचभी भेद सूचित कर दिए और पूज्यपादने उपमानादिक के प्रमाणान्तरत्वका निराकरण करते हुए उन्हें परोक्षमें ही अन्तर्भाव हो जानेका संकेत कर दिया। लेकिन परोक्षके पाँच भेदोंकी सिलसिलेवार

---

१ देखो, **सर्वार्थसि०** १–१२। २ **सर्वार्थसि०** १–११। ३ "ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता।"—**लघीय० स्वो०** का० ३। ४ परीक्षामु० २–१, **प्रमाणपरी०** पृ० ६६। ५ **प्रवचनसा०** १-५८।

व्यवस्था सर्वप्रथम अकलङ्कदेवने की है[1]। इसके बाद माणिक्यनन्दि आदि ने परोक्षके पाँच ही भेद वर्णित किये हैं। हाँ, आचार्य वादिराजने[2] अवश्य परोक्षके अनुमान और आगम ये दो भेद बतलाये हैं। पर इन दो भेदोंकी परम्परा उन्हीं तक सीमित रही है, आगे नहीं चली, क्योंकि उत्तरकालीन किसीभी ग्रन्थकारने उसे नहीं अपनाया। कुछ भी हो, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन्हें सभीने निर्विवाद परोक्ष-प्रमाण स्वीकार किया है। अभिनव धर्मभूषणने भी इन्हीं पाँच भेदोंका कथन किया है।

१५. स्मृति—

यद्यपि अनुभूतार्थविषयक ज्ञानके रूपमें स्मृतिको सभी दर्शनोंने स्वीकार किया है। पर जैनदर्शनके सिवाय उसे प्रमाण कोई नहीं मानते हैं। साधारणतया सबका कहना यही है कि स्मृति अनुभव के द्वारा गृहीत विषयमें ही प्रवृत्त होती है, इसलिए गृहीतग्राही होनेसे वह प्रमाण नहीं है[3]। न्याय-वैशेषिक, मीमांसक और बौद्ध सबका प्रायः यही अभिप्राय है। जैनदार्शनिकोंका कहना है कि प्रामाण्यमें प्रयोजक अविसंवाद है। जिस प्रकार प्रत्यक्षसे जाने हुए अर्थमें विसंवाद न होनेसे वह प्रमाण माना जाता हैं उसी प्रकार स्मृति से जाने हुए अर्थमें भी कोई विसंवाद नहीं होता और जहाँ होता है वह स्मृत्याभास है[4]। अतः स्मृति प्रमाणही होना

---

१ **लघीय०** का० १० और **प्रमाणसं०** का २। २ "तच्च (परोक्षं) द्विविधमनुमानमागमश्चेति। अनुमानमपि द्विविधं गौणमुख्यविकल्पात्। तत्र गौणमनुमानं त्रिविधम्, स्मरणम्, प्रत्यभिज्ञा, तर्कश्चेति······।"—**प्रमाणनि०** पृ० ३३। ३ "सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं समान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति, तद्विषया तदूनविषया वा न तु तदधिकविषया, सोऽयं वृत्त्यन्तराद्विशेषः स्मृतेरिति विमृशति।"—**तत्त्ववैशा०** १-११। ४ देखो, **प्रमाणपरीक्षा** पृ० ६९।

चाहिए। दूसरे, विस्मरणादिरूप समारोपका वह व्यवच्छेद करती है इस-लिए भी वह प्रमाण है। तीसरे अनुभव तो वर्त्तमान अर्थको ही विषय करता है और स्मृति अतीत अर्थको विषय करती है। अत: स्मृति कथं-चिद् अगृहीतग्राही होनेसे प्रमाण ही है।

१६. प्रत्यभिज्ञान—

पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्ती वस्तुको विषय करनेवाले प्रत्ययको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। प्रत्यवमर्श, संज्ञा और प्रत्यभिज्ञा ये उसीके पर्याय नाम हैं। बौद्ध चूंकि क्षणिकवादी हैं इसलिए वे उसे प्रमाण नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि पूर्व और उत्तर अवस्थाओंमें रहनेवाला जब कोई एकत्व है नहीं तब उसको विषय करनेवाला एक ज्ञान कैसे हो सकता है ? अत: 'यह वही है' यह ज्ञान सादृश्यविषयक है। अथवा प्रत्यक्ष और स्मरणरूप दो ज्ञानोंका समुच्चय है[१]। 'यह' अंशको विषय करनेवाला ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और 'वह' अंशको ग्रहण करनेवाला ज्ञानस्मरण है, इस तरह वे दो ज्ञान हैं। अतएव यदि एकत्वविषयक ज्ञान हो भी तो वह भ्रान्त है—अप्रमाण है। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक और मीमांसक जो कि स्थिर-वादी हैं, एकत्व विषयक ज्ञानको प्रत्यभिज्ञानात्मक प्रमाण तो मानते हैं। पर वे उस ज्ञानको स्वतंत्र प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार करते हैं[२]। जैनदर्शनका मन्तव्य है[३] कि प्रत्यभिज्ञान न तो बौद्धोंकी तरह अप्रमाण

---

१ "ननु च तदेवेत्यतीतप्रतिभासस्य स्मरणरूपत्वात्, इदमिति संवेद-नस्य प्रत्यक्षरूपत्वात् संवेदनद्वितयमेवैतत् तादृशमेवेदमिति स्मरणप्रत्यक्ष-संवेदनद्वितयवत्। ततो नैकंज्ञानं प्रत्यभिज्ञाख्यं प्रतिपद्यमानं सम्भवति।" **—प्रमाणप॰** पृ॰ ६९। २ देखो, **न्यायदी॰** पृ॰ ५८का फुटनोट। ३ "स्म-रणप्रत्यक्षजन्यस्य पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्येकद्रव्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानस्यैकस्य सुप्रतीतत्वात्। न हि तदिति स्मरणं तथाविधद्रव्यव्यवसायात्मकं तस्यातीत

है और न न्याय-वैशेषिक आदिकी तरह प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। किन्तु वह प्रत्यक्ष और स्मरणके अनन्तर उत्पन्न होनेवाला और पूर्व तथा उत्तर पर्यायोंमें रहनेवाले वास्तविक एकत्व, सादृश्य आदिको विषय करनेवाला स्वतन्त्र ही परोक्ष-प्रमाणविशेष है। प्रत्यक्ष तो मात्र वर्त्तमान पर्यायको ही विषय करता है और स्मरण अतीत पर्यायको ग्रहण करता है। अतः उभयपर्यायवर्ती एकत्वादिकको जाननेवाला संकलनात्मक (जोड़रूप) प्रत्यभिज्ञान नामका जुदा ही प्रमाण है। यदि पूर्वोत्तरपर्यायव्यापी एकत्व-का अपलाप किया जावेगा तो कहीं भी एकत्वका प्रत्यय न होनेसे एक सन्तानकी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः प्रत्यभिज्ञानका विषय एक-त्वादिक वास्तविक होनेसे वह प्रमाण ही है—अप्रमाण नहीं। और विराट् प्रतिभास न होनेसे उसे प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं कहा जासकता है। किन्तु स्पष्ट प्रतीति होनेसे वह परोक्ष प्रमाणका प्रत्यभिज्ञान नामक भेद-विशेष है। इसके एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्यप्रत्य-भिज्ञान आदि अनेक भेद जैनदर्शनमें माने गये हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि आचार्य विद्यानन्दने[1] प्रत्यभिज्ञानके एकत्वप्रत्यभिज्ञान और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान ये दो ही भेद बतलाये हैं। लेकिन दूसरे सभी जैनतार्किकोंने उल्लिखित अनेक—दोसे अधिक भेद गिनाये हैं। इसे एक मान्यताभेद ही कहा जासकता है। धर्मभूषणने एकत्व, सादृश्य और वैसादृश्य विषयक तीन प्रत्यभिज्ञानोंको उदाहरणद्वारा कण्ठोक्त कहा है

विवर्त्तमात्रगोचरत्वात्। नापीदमिति संवेदनं तस्य वर्त्तमानविवर्त्तमात्रविषय-त्वात्। ताभ्यामुपजन्यं तु संकलनज्ञानं तदनुवादपुरस्सरं द्रव्यं प्रत्यवमृशत् ततोऽन्यदेव प्रत्यभिज्ञानमेकत्वविषयं तदपह्नवे क्वचिदेकान्वयाव्यवस्थानात् सन्तानैकत्वसिद्धिरपि न स्यात्।"—**प्रमाणप०** पृ० ६९, ७०।

१ देखो, **तत्त्वार्थश्लो०** पृ० १९०, **अष्टस०** पृ० २७९, **प्रमाणपरी०** पृ० ६९।

और यथाप्रतीति अन्य प्रत्यभिज्ञानोंको भी स्वयं जाननेकी सूचना की है। इससे यह मालूम होता है कि प्रत्यभिज्ञानोंकी दो या तीन आदि कोई निश्चित संख्या नहीं है। अकलङ्कदेव[1], माणिक्यनन्दि[2] और लघु अनन्तवीर्यने[3] प्रत्यभिज्ञानके बहुभेदोंकी ओर स्पष्टतया संकेत भी किया है। इस उपर्युक्त विवेचनसे यही फलित होता है कि दर्शन और स्मरणसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी संकलनात्मक ज्ञान हों वे सब प्रत्यभिज्ञान प्रमाण समझना चाहिए। भले ही वे एकसे अधिक क्यों न हों, उन सबका प्रत्यभिज्ञानमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। यही कारण है कि नैयायिक जिस सादृश्यविषयक ज्ञानको उपमान नामका अलग प्रमाण मानता है वह जैनदर्शनमें सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है। उपमानको पृथक् प्रमाण माननेकी हालतमें वैसादृश्य, प्रतियोगित्व, दूरत्व आदि विषयक ज्ञानों को भी उसे पृथक् प्रमाण माननेका आपादन किया गया है[4]। परन्तु जैनदर्शनमें इन सबको संकलनात्मक होनेसे प्रत्यभिज्ञानमें ही अन्तर्भाव कर लिया है।

१७. तर्क —

सामान्यतया विचारविशेषका नाम तर्क है। उसे चिन्ता, ऊहा, ऊहापोह आदि भी कहते हैं। इसे प्रायः सभी दर्शनकारोंने माना है। न्यायदर्शनमें[5] वह एक पदार्थान्तररूपसे स्वीकृत किया गया है। तर्कके प्रामाण्य और अप्रामाण्यके सम्बन्धमें न्यायदर्शनका[6] अभिमत है कि तर्क न तो प्रमाणचतु-

---

१ देखो, **लघीय०** का २१। २ **परीक्षामु०** ३-५-१०।

३ **प्रमेयर०** ३-१०।

४ "उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्।
यदि किञ्चविशेषेण प्रमाणान्तरमिष्यते ॥

प्रमितोऽर्थः प्रमाणानां बहुभेदः प्रसज्यते।"—**न्यायवि०** का० ४७२। तथा का० १९,२०। ५ देखो **न्यायसूत्र** १-१-१। ६ "तर्को न प्रमाणसंग्रहीतो न प्रमाणान्तरमपरिच्छेदकत्वात्······प्रमाणविषयविभागात्तु

ष्टयके अन्तर्गत कोई प्रमाण है और न प्रमाणान्तर है क्योंकि वह अपरिच्छेदक है। किन्तु परिच्छेदकप्रमाणोंके विषयका विभाजक—युक्तायुक्त विचारक होनेसे उनका यह अनुग्राहक—सहकारी है। तात्पर्य यह कि प्रमाणसे जाना हुआ पदार्थ तर्कके द्वारा पुष्ट होता है। प्रमाण जहाँ पदार्थोंको जानते हैं वहाँ तर्क उनका पोषण करके उनकी प्रमाणताके स्थितीकारणमें सहायता पहुँचाता है[1]। हम देखते हैं कि न्यायदर्शनमें तर्कको प्रारम्भमें सभी प्रमाणोंके सहायकरूपसे माना गया है। किन्तु पीछे उदयनाचार्य[2] वर्द्धमानोपाध्याय[3] आदि पिछले नैयायिकोंने विशेषतः अनुमान प्रमाणमें ही व्यभिचारशङ्काके निवर्तक और परम्परया व्याप्ति-

---

प्रमाणानामनुग्राहकः। यः प्रमाणानां विषयस्तं विभजते। कः पुनर्विभागः? युक्तायुक्तविचारः। इदं युक्तमिदमयुक्तिमिति। यत्तत्र युक्तं भवति तदनुजानाति नत्ववधारयति। अनवधारणात् प्रमाणान्तरं न भवति।"—**न्यायवा०** पृ० १७।

१ "तर्कः प्रमाणसहायो न प्रमाणमिति प्रत्यक्षसिद्धत्वात्।"—**न्यायवा० ता० परिशु०** पृ० ३२७। "तथापि तर्कस्यारोपिताव्यवस्थितसत्त्वौपाधिकसत्वविषयत्वेनानिश्चायकतया प्रमारूपत्वाभावात्। तथा च संशयात्प्रच्युतो निर्णयं चाप्राप्तः तर्क इत्याहुः अन्यत्राचार्याः। संशयो हि दोलायितानेककोटिकः। तर्कस्तु नियतां कोटिमालम्ब्यते।"—**तात्पर्यपरिशु०** पृ० ३२६। २ "अनभिमतकोटावनिष्टप्रसंगेनानियतकोटिसंशयादिनिवृत्तिरूपोऽनुमितिविषयविभागस्तर्केण क्रियते।"—**तात्पर्यपरिशु०** पृ० ३२५। "तर्कः शङ्कावधिर्मतः।···यावदाशङ्कं तर्कप्रवृत्तेः। तेन हि वर्त्तमाने सोपाधिकोटौ तदायत्तव्यभिचारकोटौ वाऽनिष्टमुपनयतेच्छा विच्छिद्यते। विच्छिन्नविपक्षेच्छश्च प्रमाता भूयोदर्शनोपलब्धसाहचर्यं लिङ्गमनाकुलोऽधितिष्ठति।"—**न्यायकु०** ३-७। ३ "तर्कसहकृतभूयोदर्शनजसंस्कारसचिवप्रमाणेन व्याप्तिर्गृह्यते।"—**न्यायकुसु० प्रकाश०** ३-७।

ग्राहकरूपसे तर्कको स्वीकार किया है। तथा व्याप्तिमें ही तर्कका उपयोग बतलाया है[1]। विश्वनाथ पञ्चाननका कहना है[2] कि हेतुमें अप्रयोजकत्वादिकी शङ्काकी निवृत्तिके लिए तर्क अपेक्षित होता है। जहाँ हेतुमें अप्रयोजकत्वादिकी शङ्का नहीं होती है वहाँ तर्क अपेक्षित भी नहीं होता है। तर्कसंग्रहकार अन्नम्भट्टने[3] तो तर्कको अयथार्थानुभव (अप्रमाण) ही बतलाया है। इस तरह न्यायदर्शनमें तर्ककी मान्यता अनेक तरह की है पर उसे प्रमाणरूपमें किसीने भी स्वीकार नहीं किया। बौद्ध तर्कको व्याप्तिग्राहक मानते तो हैं पर उसे प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प कहकर अप्रमाण स्वीकार करते हैं। मीमांसक[4] ऊहके नामसे तर्कको प्रमाण मानते हैं।

जैनतार्किक प्रारम्भसे ही तर्कके प्रामाण्यको स्वीकार करते हैं और उसे सकलदेशकाल व्यापी अविनाभावरूप व्याप्तिका ग्राहक मानते आये हैं। व्याप्तिग्रहण न तो प्रत्यक्षसे हो सकता है; क्योंकि वह सम्बद्ध और वर्त्तमान अर्थको ही ग्रहण करता है और व्याप्ति सर्वदेशकालके उपसंहारपूर्वक होती है। अनुमानसे भी व्याप्तिका ग्रहण सम्भव नहीं है। कारण, प्रकृत अनुमानसे भी व्याप्तिका ग्रहण माननेपर अन्योन्याश्रय और अन्य अनुमानसे माननेपर अनवस्था दोष आता है। अतः व्याप्तिके ग्रहण करनेके लिए तर्कको प्रमाण मानना आवश्यक एवं अनिवार्य है। धर्मभूषणने भी तर्कको पृथक् प्रमाण सयुक्तिक सिद्ध किया है।

१८. अनुमान—

यद्यपि चार्वाकके सिवाय न्याय-वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक और बौद्ध सभी दर्शनोंने अनुमानको प्रमाण माना है और उसके स्वार्थानुमान

---

१ "तत्र का व्याप्तिर्यत्र तर्कोपयोगः। न तावत् स्वाभाविकत्वम्···।" —**न्यायकुसु० प्रकाश०** ३-७। २ देखो, **न्यायसूत्रवृत्ति** १-१-४०। ३ देखो, **तर्कसं०** पृ० १५६। ४ "त्रिविधश्च ऊहः मंत्रसामसंस्कारविषयः।" —**शावरभा०** ६-१-१।

तथा परार्थानुमान ये दो भेद भी प्रायः सभीने स्वीकार किये हैं। पर लक्षणके विषयमें सबकी एकवाक्यता नहीं है। नैयायिक[1] पाँचरूप हेतुसे अनुमेयके ज्ञानको अथवा अनुमितिकरण (लिङ्गपरामर्श) को अनुमान मानते हैं। वैशेषिक[2], सांख्य[3] और बौद्ध[4] त्रिरूप लिङ्गसे अनुमेयार्थज्ञानको अनुमान कहते हैं। मीमांसक[5] (प्रभाकरके अनुगामी) नियतसम्बन्धैकदर्शनादि चतुष्टय कारणों (चतुर्लक्षण लिङ्ग)से साध्यज्ञान को अनुमान वर्णित करते हैं।

जैन दार्शनिक अविनाभावरूप एकलक्षण साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान प्रतिपादन करते हैं। वास्तवमें जिस हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव (विना—साध्यके अभावमें-अ–साधनका न–भाव–होना) अर्थात् अन्यथानुपपत्ति निश्चित है उस साध्याविनाभावि हेतुसे जो साध्यका ज्ञान होता है वही अनुमान है। यदि हेतु साध्यके साथ अविनाभूत नहीं है

१ देखो, **न्यायवा०** १-१-५। २ "लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमानं लैङ्गिकम्। लिंगं पुनः—यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते तदभावे च नास्त्येव तल्लिगमनुमापकम् ॥……यदनुमेयेनार्थेन देशविशेषे कालविशेषे वा सहचरितमनुमेयधर्मान्विते चान्यत्र सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धमनुमेयविपरीते च सर्वस्मिन् प्रमाणतोऽसदेव तदप्रसिद्धार्थस्यानुमापकं लिङ्गं भवतीति।"—**प्रशस्तपा० भा०** पृ० १००। ३ **माठवृ०** का० ५। ४ "अनुमानं लिंगादर्थदर्शनम् लिङ्गं पुनस्त्रिरूपमुक्तम्। तस्माद्यदनुमेयेऽर्थे ज्ञानमुत्पद्यतेऽग्निरत्र अनित्यः शब्दः इति वा तदनुमानम्।"—**न्यायप्र०** पृ० ७। ५ "ज्ञातसम्बन्धनियमस्यैकदेशस्य दर्शनात्। एक देशान्तरे बुद्धिरनुमानमबाधिते ॥…तस्मात्पूर्णमिदमनमानुकारणपरिगणनम्—नियतसम्बन्धैकदेशदर्शनं सम्बन्धनियमस्मरणं चाबाधकञ्चाबाधितविषयत्वं चेति।"—**प्रकरणपञ्जि०** पृ० ६४, ७६।

तो वह साध्यका अनुमापक नहीं हो सकता है और यदि साध्यका अविनाभावी है तो नियमसे वह साध्यका ज्ञान करायेगा। अतएव जैन तार्किकोंने त्रिरूप या पञ्चरूप आदि लिंग से जनित ज्ञानको अनुमान न कह कर अविनाभावी साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमानका लक्षण कहा है[१]। आचार्य धर्मभूषणने भी अनुमानका यही लक्षण बतलाया है और उसका सयुक्तिक विशद व्याख्यान किया है।

१६. अवयवमान्यता—

परार्थानुमान प्रयोगके अवयवोंके सम्बन्धमें उल्लेखयोग्य और महत्व की चर्चा है, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे जानने योग्य है। दार्शनिक परम्परा में सबसे पहिले गौतमने[२] परार्थानुमान प्रयोगके पाँच अवयवोंका निर्देश किया है और प्रत्येकका स्पष्ट कथन किया है। वे अवयय ये हैं—१ प्रतिज्ञा २ हेतु, ३ उदाहरण, ४ उपनय और निगमन। उनके टीकाकार वात्स्यायनने[३] नैयायिकोंकी दशावयवमान्यताका भी उल्लेख किया है। इससे कम या और अधिक अवयवोंकी मान्यताका उन्होंने कोई संकेत नहीं किया। इससे मालूम होता है कि वात्स्यायनके सामने सिर्फ दो मान्यताएँ थीं, एक पञ्चावयवकी, जो स्वयं सूत्रकारकी है और दूसरी दशावयवोंकी, जो दूसरे

---

१ "लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्। लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः॥"—**लघीय०** का० १२। "साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्···।"—**न्यायवि०** का० १७०। "साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्।"—**परीक्षामु०** ३–१४। **प्रमाणपरी०** पृ० ७०।

२ "प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।"—**न्यायसूत्र** १-१-३२

३ "दशावयवानित्येके नैयायिका वाक्ये संचक्षते—जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं संशयव्युदास इति।"—**न्यायवात्स्या० भा०** १-१-३२।

किन्हीं नैयायिकोंकी है। आगे चलकर हमें उद्योतकरके न्यायवार्त्तिकमें[1] खण्डन सहित तीन अवयवोंकी मान्यताका निर्देश मिलता है। यह मान्यता बौद्ध विद्वान् दिग्नागकी है। क्योंकि वात्स्यायनके बाद उद्योतकरके पहले दिग्नागने[2] ही अधिकसे अधिक तीन अवयव स्वीकृत किये हैं। सांख्य-विद्वान् माठर यदि दिग्नागके पूर्ववर्ती हैं तो तीन अवयवोंकी मान्यता माठरकी[3] समझना चाहिए। वाचस्पति मिश्रने[4] दो अवयव (हेतु और दृष्टान्त) की मान्यताका उल्लेख किया है और तीन अवयवनिषेधकी तरह उसका निषेध किया है। यह द्व्यवयवकी मान्यता बौद्ध तार्किक धर्म-कीर्त्तिकी है, क्योंकि हेतुरूप एक अवयवके अतिरिक्त हेतु और दृष्टान्त दो अवयवोंको भी धर्मकीर्त्तिने[5] ही स्वीकार किया है तथा दिग्नागसम्मत पक्ष, हेतु और दृष्टान्तमें से पक्ष (प्रतिज्ञा) को निकाल दिया है। अतः वाचस्पति मिश्रने धर्मकीर्त्तिकी ही द्व्यवयव मान्यताका उल्लेख किया है और उसे प्रतिज्ञाको माननेके लिए संकेत किया है। यद्यपि जैनविद्वा-

१ "अपरे त्र्यवयवमिति × × × त्र्यवयवमपि वाक्यं यथा न भवति तथोपनयनिगमनयोरर्थान्तरभावं वर्णयन्तो वक्ष्यामः।"—**न्यायवा०** पृ. १०७, १०८। २ "पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते इति········एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्येच्यन्ते।"—**न्यायप्र०** पृ० १,२। ३ "पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्।"—**माठरवृ०** का० ५। ४ "त्र्यव-यवग्रहणमुपलक्षणार्थम्, द्व्यवयवमपीत्यपि दृष्टव्यम्········त्र्यवयवमपी-त्यपिना द्व्यवयवप्रतिषेध समुच्चिनोतिउपनयनिगमनयोरित्यत्र प्रतिज्ञाया अपीति दृष्टव्यम्।"—**न्यायवा० तत्प०** पृ० २६६, २६७। ५ "अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि···।"—**वादन्या०** पृ० ६१। "तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः। ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः।"—**प्रमाणवा०** १-१२८।

नोंने[1] भी दो अवयवोंको माना है पर उनकी मान्यता उपर्युक्त मान्यता-से भिन्न है। ऊपरकी मान्यतामें तो हेतु और दृष्टान्त ये दो अवयव हैं और जैन विद्वानों की मान्यतामें प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव हैं। जैन तार्किकोंने प्रतिज्ञाका समर्थन[2] और दृष्टान्तका[3] निराकरण किया है। तीन अवयवोंकी मान्यता सांख्यों (माठर का० ५) और बौद्धोंके अलावा मीमांसकों (प्रकरणपं० पृ० ८३-८५) की भी है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि लघु अनन्तवीर्य (प्रमेयर० ३-३६) और उनके अनुसर्ता हेमचन्द्र (प्रमाणमी० २-१-८) मीमांसकोंकी चार अवयव मान्यताका भी उल्लेख करते हैं यदि इनका उल्लेख ठीक है तो कहना होगा कि चार अवयवोंकों मानने वाले भी कोई मीमांसक रहे हैं। इस तरह हम देखते हैं कि दशावयव[4] और पञ्चावयवकी मान्यता नैयायिकों की है। चार और तीन अवयवोंकी मीमांसकों, तीन अवयवोंकी सांख्यों, तीन, दो और एक अवयवोंकी बौद्धों और दो अवयवोंकी मान्यता जैनोंकी है। वादिदेवसूरि-ने[5] धर्मकीर्त्तिकी तरह विद्वान्के लिए अकेले हेतुका भी प्रयोग बतलाया है। पर अन्य सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर विद्वानोंने परार्थानुमानप्रयोग के कमसे कम दो अवयव अवश्य स्वीकृत किये हैं। प्रतिपाद्योंकेअनुरोधसे तो तीन, चार और पाँचभी अवयव माने हैं। आ० धर्मभूषणने पूर्व पर-म्परानुसार वादकथाकी अपेक्षा दो और वीतरागकथाकी अपेक्षा अधिक अवयवोंके भी प्रयोगका समर्थन किया हैं।

---

१ "एतद्द्वयमेवानुमानांगं नोदाहरणम्।"—**परीक्षामु०** ३-३७। २ देखो, **परीक्षामु०** ३-३४। ३ देखो, **परीक्षामु०** ३-३८-४३। ४ निर्युक्तिकार भद्रबाहुने (दश० नि० गा० १३७) भी दशावयवोंका कथन किया है पर वे नैयायिकोंसे भिन्न हैं। ५ देखो, **स्याद्वादरत्नाकर** पृ० ५४८।

२०. **हेतुका लक्षण**—

हेतुके लक्षणसम्बन्धमें दार्शनिकोंका भिन्न भिन्न मत है। वैशेषिक[1], सांख्य[2] और बौद्ध[3] हेतुका त्रैरूप्य लक्षण मानते हैं। यद्यपि हेतुका त्रिरूप लक्षण अधिकांशतः बौद्धोंका ही प्रसिद्ध है, वैशेषिक और सांख्यों-का नहीं। इसका कारण यह है कि त्रैरूप्यके विषयमें जितना सूक्ष्म और विस्तृत विचार बौद्ध विद्वानोंने किया है तथा हेतुबिन्दु जैसे तद्विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है[4] उतना वैशेषिक और सांख्य विद्वानोंने न तो विचार ही किया है और न कोई उस विषयके स्वतन्त्र ग्रंथ ही लिखे हैं। पर हेतुके त्रैरूप्यकी मान्यता वैशेषिक एवं सांख्योंकी भी है। और वह बौद्धोंकी अपेक्षा प्राचीन है। क्योंकि बौद्धोंकी त्रैरूप्यकी मान्यता तो वसुबन्धु और मुख्यतया दिग्नागसे ही प्रारम्भ हुई जान पड़ती है। किन्तु वैशेषिक और सांख्योंके त्रैरूप्यकी परम्परा बहुत पहलेसे चली आरही है। प्रशस्तपादने[5] अपने प्रशस्तपादभाष्य (पृ० १०० में काश्यप और (कणाद[6]) कथित दो पद्योंको उद्धृत किया है, जिनमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और

---

१ देखो, **प्रस्तावना** पृ० ४५ का फुटनोट। २ **सांख्यका०** माठर वृ० ५।
३ "हेतुस्त्रिरूपः। किं पुनस्त्रैरूप्यम्? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षे चासत्त्वमिति," —**न्यायप्र०** पृ० १। यही वजह है कि तर्कग्रन्थोंमें बौद्धाभिमत ही त्रैरूप्य का विस्तृत खण्डन पाया जाता है और 'त्रिलक्षण-कदर्थन' जैसे ग्रन्थ रचे गये हैं। ५ ये दिग्नाग (४२५A.D.) के पूर्ववर्ती हैं और लगभग तीसरी चौथी शताब्दी इनका समय माना जाता है।
६ उद्योतकरने 'काश्यपीयम्' शब्दोंके साथ न्यायवार्त्तिक (पृ० ६९) में कणादका संशयलक्षणवाला 'सामान्यप्रत्यक्षात्' आदि सूत्र उद्धृत किया है। इससे मालूम होता है कि काश्यप कणादका ही नामान्तर था, जो वैशेषिकदर्शनका प्रणेता एवं प्रवर्त्तक है।

विपक्षव्यावृत्ति इन तीन रूपोंका स्पष्ट प्रतिपादन एवं समर्थन है और माठरने अपनी सांख्यकारिकावृत्तिमें उनका निर्देश किया है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि त्रिरूप लिङ्ग को वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध तीनोंने स्वीकार किया है।

नैयायिक[1] पूर्वोक्त तीन रूपोंमें अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इन दो रूपोंको और मिलाकर पाँचरूप हेतुका कथन करते हैं। यह त्रैरूप्य और पाँचरूप्यकी मान्यता अति प्रसिद्ध है और जिसका खण्डन मण्डन न्यायग्रन्थोंमें बहुलतया मिलता है। किन्तु इनके अलावा भी हेतुके द्विलक्षण, चतुर्लक्षण और षड्लक्षण एवं एकलक्षणकी मान्यताओंका उल्लेख तर्कग्रन्थोंमें पाया जाता है। इनमें चतुर्लक्षणकी मान्यता संभवतः मीमांसकोंकी मालूम होती है, जिसका निर्देश प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् प्रभाकरानुयायी शालिकानाथने[2] किया है। उद्योतकर[3] और वाचस्पति मिश्रके[4] अभिप्रायानुसार पंचलक्षण की तरह द्विलक्षण, त्रिलक्षण और

---

१ "गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम्; तच्च पञ्चलक्षणम्, कानि पुनः पञ्चलक्षणानि? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षधर्मत्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति।......एतैः पंचभिर्लक्षणैरुपपन्नं लिङ्गमनुमापकं भवति।"—**न्यायमं०** पृ० १०१। न्यायकलि० पृ० २। न्यायवा० ता० पृ० १७१। २ देखो, प्रस्तावना पृ० ४२ का फुटनोट। ३ "साध्ये व्यापकत्वम्, उदाहरणे चासम्भवः। एवं द्विलक्षणस्त्रिलक्षणश्च हेतुर्लभ्यते।"—**न्यायवा०** पृ० ११६। "च शब्दात् प्रत्यक्षागमाविरुद्धं चेत्येवं चतुर्लक्षणं पंचलक्षणमनुमानमिति।"—**न्यायवा०** पृ० ४६। ४ "एतदुक्तं भवति, अबाधितविषयमसत्प्रतिपक्षं पूर्ववदिति ध्रुव कृत्वा शेषवदित्येका विधा, सामान्यतोदृष्टमिति द्वितीया, शेषवत्सामान्यतोदृष्टमिति तृतीया, तदेवं त्रिविधमनुमानम्। तत्र चतुर्लक्षणं द्वयम्। एकं पंचलक्षणमिति।" —**न्यायवा०** ता० पृ० १७४।

चतुर्लक्षणकी मान्यताएँ नैयायिकोंकी ज्ञात होती हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जयन्तभट्ट[1]ने पञ्चलक्षण हेतुका ही समर्थन किया है, उन्होंने अपञ्चलक्षणको हेतु नहीं माना। पिछले नैयायिक शङ्करमिश्रने[2] हेतुकी गमकतामें जितने रूप प्रयोजक एवं उपयोगी हों उतने रूपोंको हेतु-लक्षण स्वीकार किया है और इस तरह उन्होंने अन्वयव्यतिरेकी हेतुमें पाँच और केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी हेतुओंमें चार ही रूप गमकतोपयोगी बतलाये हैं। यहां एक खास बात और ध्यान देनेकी है वह यह कि जिस अविनाभावको जैनतार्किकोंने हेतुका लक्षण प्रतिपादन किया है, उसे जयन्तभट्ट[3] और वाचस्पतिने[4] पंच लक्षणोंमें समाप्त माना है। अर्थात् अविनाभावके द्वारा ही सर्व रूपोंके ग्रहण हो जाने पर जोर दिया है, पर वे अपनी पंचलक्षण या चार लक्षणवाली नैयायिक परम्पराके मोहका त्याग नहीं कर सके। इस तरह नैयायिकोंके यहाँ कोई एक निश्चित पक्ष

---

१ "केवलान्वयी हेतुर्नास्त्येव अपञ्चलक्षणस्य हेतुत्वाभावात्। केवलव्यतिरेकी तु क्वचिद् विषयेऽन्वयव्यतिरेकमूलः प्रवर्त्तते नात्यन्तमन्वयबाह्यः।" —**न्यायकलि०** पृ० १०। २ "केवलान्वयिसाध्यको हेतुः केवलान्वयी। अस्य च पक्षसत्त्वसपक्षसत्वाबाधितासत्प्रतिपक्षितत्वानि चत्वारि रूपाणि गमकत्वौपयिकानि। अन्वयव्यतिरेकिणस्तु हेतोर्विपक्षासत्त्वेन सह पंच। केवलव्यतिरेकेणः सपक्षसत्वव्यतिरेकेण चत्वारि। तथा च यस्य हेतोर्यावन्ति रूपाणि गमकतौपयिकानि स हेतुः।" —**वैशेषि० उप०** पृ० ६७। ३ "एतेषु पंचलक्षणेषु अविनाभावः समाप्यते। अविनाभावो व्याप्तिर्नियमः प्रतिबन्धः साध्याविनाभावित्वमित्यर्थः।"—**न्यायकलि०** पृ० २। ४ "यद्यप्यविनाभावः पंचसु चतुर्षु वा रूपेषु लिङ्गस्य समाप्यते इत्यविनाभावेनैव सर्वाणि लिङ्गरूपाणि सङ्गृह्यन्ते, तथापीह प्रसिद्धसच्छब्दाभ्यां द्वयोः सङ्ग्रहे गोवलीवर्दन्यायेन तत्परित्यज्य विपक्षव्यतिरेकासत्प्रतिक्षत्वाबाधितविषयत्वानि सङ्गृह्णाति।"—**न्यायवा० ता०** पृ० १७८।

रहा मालूम नहीं होता। हाँ, उनका पाँचरूप हेतुलक्षण अधिक एवं मुख्य प्रसिद्ध रहा और इसीलिये उसीका खण्डन दूसरे तार्किकोंने किया है।

बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्तिने 'अपरे' शब्दोंके साथ, जिसका अर्चटने[1] 'नैयायिक और मीमांसकों आदि' अर्थ किया है, हेतुकी पंचलक्षणोंके साथ ज्ञातत्त्वको मिलाकर षड्लक्षण मान्यता का भी उल्लेख किया है। यद्यपि यह षड्लक्षणवाली मान्यता न तो नैयायिकोंके यहाँ उपलब्ध होती है और न मीमांसकों के यहाँ ही पाई जाती है फिर भी सम्भव है कि अर्चट के सामने किसी नैयायिक या मीमांसक आदिका हेतुको षड्लक्षण मानने-का पक्ष रहा हो और जिसका उल्लेख उन्होंने किया है। यह भी सम्भव है कि प्राचीन नैयायिकोंने जो ज्ञायमान लिङ्गको और भाट्टोंने ज्ञातिता को अनुमितिमें कारण माना है और जिसकी आलोचना विश्वनाथ पंचाननने[2] की है उसीका उल्लेख अर्चटने किया हो।

एकलक्षणकी मान्यता असन्दिग्धरूपसे जैन विद्वानोंकी है, जो अविनाभाव या अन्यथानुपपत्तिरूप है और अकलङ्कदेवके भी पहिलेसे चली आ रही है। उसका मूल सम्भवतः समन्तभद्रस्वामीके **'सधर्मेणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधितः'** (आप्तमी० का० १०६) इस वाक्यके **'अविरोधत'**:

---

१ "षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे नैयायिकमीमांसकादयो मन्यन्ते। कानि पुनः षड्रूपाणि हेतोस्तैरिष्यन्ते इत्याह···त्रीणि चैतानि पक्षधर्मान्वय-व्यतिरेकाख्याणि, तथा अबाधितविषयत्वं चतुर्थं रूपम् तथा विवक्षितैक-संख्यत्वं रूपान्तरं···तथा ज्ञातत्वं च ज्ञानविषयत्वं च, नह्यज्ञातो हेतुः स्वसत्तामात्रेण गमको युक्त इति।"—**हेतुबि० पृ० ६८, हेतुबि० टी० पृ० २०५।** २ "प्राचीनास्तु व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं लिङ्गमनुमितिकरण-मिति वदन्ति। तद्दूषयति अनुमायां ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि।" —**सि० मु० पृ० ५०।** "भाट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियम्। ज्ञानजन्या ज्ञातता प्रत्यक्षा तया ज्ञानमनुमीयते।"—**सि० मु० पृ० ११९।**

पदमें सन्निहित है। अकलङ्कदेवने[1] उसका वैसा विवरण भी किया है। और विद्यानन्दने[2] तो उसे स्पष्टतः हेतुलक्षणका ही प्रतिपादक कहा है। अकलङ्कके पहिले एक पात्रकेशरी या पात्रस्वामी नामके प्रसिद्ध जैनाचार्य भी हो गये हैं जिन्होंने त्रैरूप्यका कदर्थन करनेके लिए **'त्रिलक्षणकदर्थन'** नामक ग्रन्थ रचा है और हेतुका एकमात्र **'अन्यथानुपपन्नत्व'** लक्षण स्थिर किया है। उनके उत्तरवर्ती सिद्धसेन[3] अकलङ्क, वीरसेन[4], कुमारनन्दि, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, वादिराज, वादिदेवसूरि और हेमचन्द्र आदि सभी जैनतार्किकोंने अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) को ही हेतुका लक्षण होनेका सबलताके साथ समर्थन किया है। वस्तुतः अविनाभाव ही हेतुकी गमतामें प्रयोजक है। त्रैरूप्य या पाञ्चरूप्य तो गुरुभूत एवं अविनाभावका ही विस्तार हैं। इतना ही नहीं दोनों अव्यापक भी हैं। कृत्तिकोदयादि हेतु पक्षधर्म नहीं हैं फिर भी अविनाभाव रहनेसे गमक देखे जाते हैं। आ० धर्मभूषणने भी त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्यकी सोपपत्तिक आलोचना करके **'अन्यथानुपपन्नत्व'** को ही हेतुलक्षण सिद्ध किया है और निम्न दो कारिकाओंके द्वारा अपने वक्तव्यको पुष्ट किया है :—

---

१ "सपक्षेणैव साध्यस्य साधर्म्यादित्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्यम्, अविरोधात् इत्यन्यथानुपपत्तिं च दर्शयता केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं तत्पुत्रत्वादिवत्। एकलक्षणस्य तु गमकत्वं "नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते" इति बहुलमन्यथानुपपत्तेरेव समाश्रयणात्।—**अष्टश० आप्तमी० का० १०६**। २ "भगवन्तो हि हेतुलक्षणमेव प्रकाशयन्ति, स्याद्वादस्य प्रकाशितत्वात्।"—**अष्टस० पृ० २८६**। ३ सिद्धसेनने 'अन्यथानुपपन्नत्व' को 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्'–(**न्यायवा०का० २१**) शब्दों द्वारा दोहराया है और 'ईरितम्' शब्दका प्रयोग करके उसकी प्रसिद्धि एवं अनुसरण ख्यापित किया है। ४ देखो, **धवला० पु० १३, पृ० २४६**।

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥
अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ॥

इनमें पिछली कारिका आचार्य विद्यानन्दकी स्वोपज्ञ है और वह प्रमाणपरीक्षामें उपलब्ध है। परन्तु पहली कारिका किसकी है ? इस सम्बन्धमें यहाँ कुछ विचार किया जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि यह कारिका त्रैरूप्य खण्डनके लिए रची गई है और वह बड़े महत्वकी है। विद्यानन्दने अपनी उपर्युक्त कारिका भी इसीके आधार पर पाँचरूप्यका खण्डन करनेके लिए बनाई है। इस कारिकाके कर्तृत्वसम्बन्धमें ग्रन्थकारोंका मतभेद है। सिद्धिविनिश्चय-टीकाके कर्त्ता अनन्तवीर्यने[1] उसका उद्गम सीमन्धरस्वामीसे बतलाया है। प्रभाचन्द्र[2] और वादिराज[3] कहते हैं कि उक्त कारिका सीमन्धरस्वामीके समवशरणसे लाकर पद्मावतीदेवीने पात्रकेशरी अथवा पात्रस्वामीके लिए समर्पित की थी। विद्यानन्द[4] उसे वार्त्तिककारकी कहते हैं। वादिदेवसूरि[5] और शांतिरक्षित[6] पात्रस्वामीकी प्रकट करते हैं। इस तरह इस कारिकाके कर्तृत्वका अनिर्णय बहुत पुरातन है।

देखना यह है कि उसका कर्ता है कौन ? उपर्युक्त सभी ग्रन्थकार ईसाकी आठवीं शताब्दीसे ११वीं शताब्दीके भीतर हैं और शान्तरक्षित (७०५-७६३ ई०) सबमें प्राचीन हैं। शान्तरक्षितने पात्रस्वामीके नामसे और भी कितनी ही कारिकाओं तथा पदवाक्यादिकोंका उल्लेख करके उनका आलोचन किया है। इससे वह निश्चितरूपसे मालूम हो

---

१ **सिद्धिविनि०** टी० पृ० ३००A। २ देखो, **गद्यकथाकोशगत पात्रकेशरीकी कथा**। ३ **न्यायवि०** वि० २-१५४ पृ. १७७। ४ **तत्त्वार्थश्लो०** पृ० २०४। ५ **स्या० रत्ना०** पृ० ५२१। ६ **तत्त्वसं०** पृ० ४०६।

जाता है कि शान्तरक्षितके सामने पात्रस्वामीका कोई ग्रन्थ अवश्यही रहा है। जैनसाहित्यमें पात्रस्वामीकी दो रचनाएँ मानी जाती हैं—१ त्रिलक्षणकदर्थन और दूसरी पात्रकेशरीस्तोत्र। इनमें दूसरी रचना तो उपलब्ध है, पर पहली रचना उपलब्ध नहीं है। केवल ग्रन्थान्तरों आदिमें उसके उल्लेख मिलते हैं। 'पात्रकेशरीस्तोत्र' एक स्तोत्र ग्रन्थ है और उसमें आप्तस्तुतिके बहाने सिद्धान्तमतका प्रतिपादन है। इसमें पात्रस्वामीके नाम से शांतिरक्षितके द्वारा तत्त्वसंग्रहमें उद्धृत कारिकाएँ, पद, वाक्यादि कोई नहीं पाये जाते। अतः यही सम्भव है कि वे त्रिलक्षणकदर्थनके हों; क्योंकि प्रथम तो ग्रन्थका नाम ही यह बताता है कि उसमें त्रिलक्षणका कदर्थन—खण्डन—किया गया है। दूसरे, पात्रस्वामीकी अन्य तीसरी आदि कोई रचना नहीं सूनी जाती, जिसके वे कारिकादि सम्भावनास्पद होते। तीसरे, अनन्तवीर्यकी चर्चासे मालूम होता है कि उस समय एक आचार्यपरम्परा ऐसी भी थी, जो 'अन्यथानुपपत्ति' वार्त्तिकको त्रिलक्षणकदर्थनका बतलाती थी। चौथे, वादिराजके[1] उल्लेख और श्रवणबेलगोलाकी मल्लिषेणप्रशस्तिगत पात्रकेशरी विषयक प्रशंसापद्य[2] से भी उक्त वार्त्तिकादि त्रिलक्षणकदर्थनके जान पड़ते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि पात्रकेशरी नामके एक ही विद्वान् जैन साहित्यमें माने जाते हैं और जो दिग्नाग (४२५ ई०) के उत्तरवर्ती एवं अकलङ्कके पूर्वकालीन हैं। अकलङ्कने उक्त वार्त्तिकको न्यायविनिश्चय (का० ३२३ के रूपमें)में दिया है और सिद्धिविनिश्चयके 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामके छठवें प्रस्तावके आरम्भमें उसे स्वामी का 'अमलालीढ' पद कहा है। अकलङ्कदेव शान्तरक्षितके[3] समकालीन हैं।

---

१ देखो, **न्यायवि० वि०**। २ "महिमा स पात्रकेशरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्। पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम् ॥" ३ शान्तरक्षितका समय ७०५ से ७६२ और अकलङ्कदेवका समय ७२० से ७८० ई० माना जाता है। देखो, **अकलङ्कग्र०** की प्र० पृ० ३२।

और इसलिए यह कहा जा सकता है पात्रस्वामीकी जो रचना (त्रिलक्षण-कदर्थन) शान्तरक्षितके सामने रही वह अकलङ्कदेवके भी सामने अवश्य रही होगी। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षितके लिए जो उक्त वार्त्तिकका कर्त्ता निर्भ्रान्तिरूपसे पात्रस्वामी विवक्षित हैं वही अकलङ्कदेवको 'स्वामी' पदसे अभिप्रेत हैं। इसलिए स्वामी तथा 'अन्यथानुपपन्नत्व' पद (वार्त्तिक) का सहभाव और शान्तिरक्षितके सुपरिचित उल्लेख इस बातको माननेके लिए हमें सहायता करते हैं कि उपयुक्त पहली कारिका पात्रस्वामीकी ही होनी चाहिए। अकलङ्क और शान्तरक्षितके उल्लेखोंके बाद विद्यानन्दका उल्लेख आता है। जिसके द्वारा उन्होंने उक्त वार्त्तिकको वार्त्तिकारका बतलाया है। यह वार्त्तिककार राजवार्त्तिककार अकलङ्कदेव मालूम नहीं होते[1]; क्योंकि उक्त वार्त्तिक (कारिका) राजवार्त्तिकमें नहीं है, न्यायविनिश्चयमें है। विद्यानन्दने राजवार्त्तिकके पदवाक्यादिको ही राजवार्त्तिककार (तत्त्वार्थवार्त्तिककार) के नामसे उद्धृत किया है, न्यायविनिश्चय आदिके नहीं। अतः विद्यानन्द का 'वार्त्तिककार' पदसे अन्यथानुपपत्ति' वार्त्तिकके कर्त्ता वार्त्तिककार--पात्रस्वामीही अभिप्रेत हैं। यद्यपि वार्त्तिककारसे न्यायविनिश्चयकार अकलङ्कदेवका ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि न्यायविनिश्चयमें वह वार्त्तिक मूलरूपमें उपलब्ध है, किन्तु विद्यानन्दने न्यायविनिश्चयके पदवाक्यादिको 'न्यायविनिश्चय' के नामसे अथवा 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' आदिरूपसे ही सर्वत्र उद्धृत किया है। अतः वार्त्तिककारसे पात्रस्वामी ही विद्यानन्दको विवक्षित जान पड़ते हैं। यह हो सकता है कि वे 'पात्रस्वामी' नामकी अपेक्षा वार्त्तिक और वार्त्तिककार नामसे अधिक परिचित होंगे, पर उनका अभिप्राय उसे राजवार्त्तिककारके कहनेका तो प्रतीत नहीं होता।

---

१ कुछ विद्वान् वार्त्तिककारसे राजवार्त्तिककारका ग्रहण करते हैं। देखो, **न्यायकुमु० प्र० प्र० पृ० ७६ और अकलङ्क० टि० पृ० १६४।**

अब अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र तथा वादिराजके उल्लेख आते हैं। सो वे मान्यताभेद या आचार्यपरम्पराश्रुतिको लेकर हैं। उन्हें न तो मिथ्या-कहा जा सकता है और न विरुद्ध। हो सकता है कि पात्रस्वामीने अपने इष्टदेव सीमन्धरस्वामीके स्मरणपूर्वक और पद्मावतीदेवीकी सहायतासे उक्त महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट अमलालीढ—निर्दोषपद (वार्त्तिक) की रचना की होगी और इस तरहपर अनन्तवीर्य आदि आचार्योंने कर्तृत्व विषयक अपनी अपनी परिचितिके अनुसार उक्त उल्लेख किये हैं। यह कोई असम्बद्ध, काल्पनिक एवं अभिनव बात नहीं है। दिगम्बर परंपरा में ही नहीं श्वेताम्बर परम्परा, वैदिक और बौद्ध सभी भारतीय परम्पराओंमें है। समस्त द्वादशांग श्रुत, मनःपर्यय आदि ज्ञान, विभिन्न विभूतियां मंत्रसिद्धि, ग्रन्थसमाप्ति, सङ्कटनिवृत्ति आदि कार्य परमात्म-स्मरण, आत्म-विशुद्धि, तपोविशेष, देवादिसाहाय्य आदि यथोचित कारणों से होते हुए माने गये हैं। अतः ऐसी बातोंके उल्लेखोंको बिना परीक्षाके एकदम अन्धभक्ति या काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। श्वेताम्बर विद्वान् माननीय पं० सुखलालजीका यह लिखना कि "इसके (कारिकाके) प्रभाव के कायल अतार्किक भक्तोंने इसकी प्रतिष्ठा मनगढ़न्त ढङ्गसे बढ़ाई। और यहाँ तक वह बढ़ी कि खुद तर्कग्रन्थ लेखक आचार्यभी उस कल्पित ढङ्गके शिकार बने…इस कारिकाको सीमन्धरस्वामीके मुखमेंसे अन्धभक्ति के कारण जन्म लेना पड़ा…इस कारिकाके सम्भवतः उद्भावक पात्रस्वामी दिगम्बर परम्पराके ही हैं; क्योंकि भक्तपूर्ण उन मनगढ़न्त कल्पनाओंकी सृष्टि केवल दिगम्बरीय परम्परा तकही सीमित है।" (प्रमाणमी० भा० पृ० ८४) केवल अपनी परम्पराका मोह और पक्षग्राहिता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उनकी इन पंक्तियों और विचारोंके सम्बन्धमें विशेष कर अन्तिम पंक्तिमें कुछ लिखा जा सकता है। इस संक्षिप्त स्थान पर हमें उनसे यही कहना है कि निष्पक्ष विचारके स्थान पर एक विद्वान्को निष्पक्ष विचार ही प्रकट करना चाहिए। दूसरोंको भ्रममें डालना एवं

एवं स्वयं भ्रामक प्रवृत्ति करना ठीक नहीं है।

२१. हेतु-भेद—

दार्शनिक परम्परामें सर्वप्रथम कणादने[1] हेतुके भेदोंको गिनाया है। उन्होंने हेतुके पाँच भेद प्रदर्शित किये हैं। किन्तु टीकाकार प्रशस्तपाद[2] उन्हें निदर्शन मात्र मानते हैं 'पाँच ही हैं' ऐसा अवधारण नहीं बतलाते। इससे यह प्रतीत होता है कि वैशेषिक दर्शनमें हेतुके पाँचसे भी अधिक भेद स्वीकृत किये गये हैं। न्यायदर्शनके प्रवर्त्तक गौतमने[3] और सांख्य-कारिकाकार ईश्वरकृष्णने पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट ये तीन भेद कहे हैं। मीमांसक हेतुके कितने भेद मानते हैं, यह मालूम नहीं हो सका। बौद्ध दर्शनमें[4] स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि ये तीन भेद हेतुके बतलाये हैं। तथा अनुपलब्धिके ग्यारह भेद किये हैं[5]। इनमें प्रथमके दो हेतुओंको विधिसाधक और अन्तिम अनुपलब्धि हेतुको निषेधसाधक ही वर्णित किये हैं[6]।

जैनदर्शनके उपलब्ध साहित्यमें हेतुओंके भेद सबसे पहले अकलङ्कदेव-

---

१ "अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्।" —**वैशेषि० सू०** ९-२-१। २ "शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम्। कस्मात्? व्यतिरेकदर्शनात्। तद्यथा—अध्वर्युरोश्रावयन् व्यवहितस्य हेतुर्लिङ्गम् चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकाशस्य च जलप्रसा-दोऽगस्त्योदयस्येति। एवमादि तत्सर्वमस्येदमिति सम्बन्धमात्रवचनात् सिद्धम्।"—**प्रशस्तपा०** पृ० १०४। ३ "अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च।"—**न्यायसू०** १-१-५। ४ "त्रीण्येव लिङ्गानि" "अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति।"—**न्यायबि०** पृ० ३५। ५ "सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा।"—**न्यायबि०** पृ० ४७। ६ "अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ" "एकः प्रतिषेधहेतुः"—**न्यायबि०**पृ० ३९।

के प्रमाणसंग्रहमें मिलते हैं। उन्होंने[1] सद्भावसाधक ६ और सद्भावप्रतिषेधक ३ इस तरह नौ उपलब्धियों तथा असद्भावसाधक ६ अनुपलब्धियों का वर्णन करके इनके और भी अवान्तर भेदोंका संकेत करके इन्हींमें अन्तर्भाव हो जानेका निर्देश किया है। साथ ही उन्होंने धर्मकीर्तिके इस कथनका कि 'स्वभाव और कार्यहेतु भावसाधक ही हैं तथा अनुपलब्धि ही अभावसाधक है' निरास करके उपलब्धिरूप स्वभाव और कार्य हेतुको भी अभावसाधक सिद्ध किया है[2]। अकलङ्कदेव के इसी मन्तव्य को लेकर माणिक्यनन्दि[3], विद्यानन्द[4] तथा वादिदेवसूरिने[5] उपलब्धि और अनुपलब्धिरूपसे समस्त हेतुओंका संग्रह करके दोनोंको विधि और निषेधसाधक बतलाया है और उनके उत्तर भेदोंको परिगणित किया है। आ० धर्मभूषणने भी इसी अपनी पूर्वपरम्परा के अनुसार कतिपय हेतु-भेदोंका वर्णन किया है। न्यायदीपिका और परीक्षामुख के अनुसार हेतुओंके निम्न भेद हैं[6]:—

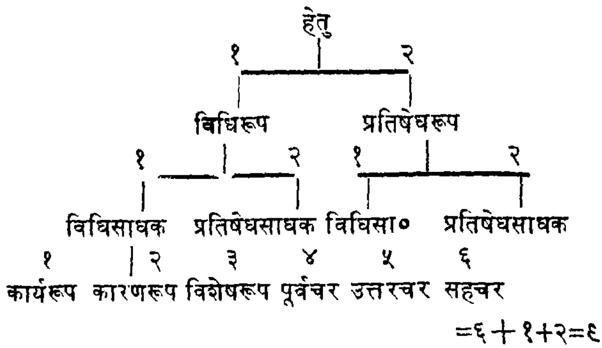
---

१ "सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्धयः ॥
तथाऽसद्व्यवहाराय स्वभावानुपलब्धयः ।
सद्वृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्धयः ॥"—**प्रमाणसं० का०** २९, ३०। तथा इनकी स्वोपज्ञवृत्ति देखें।

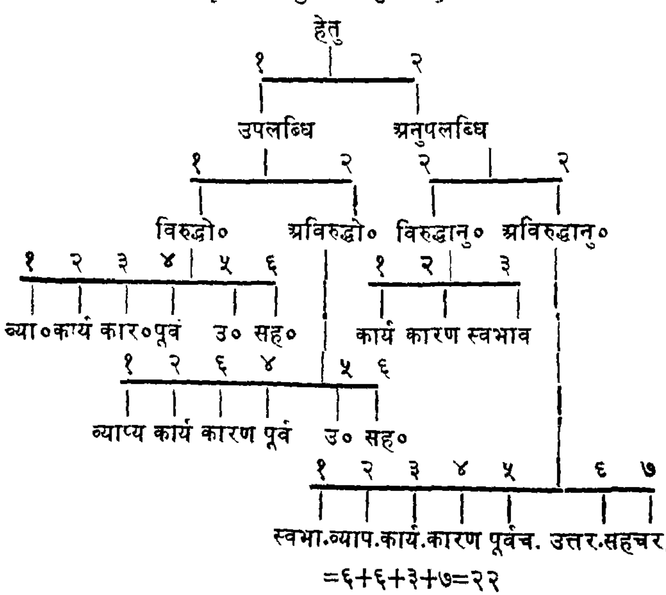
२ "नानुपलब्धिरेव अभावसाधनी···।"—**प्रमाणसं०** का० ३०।

३ देखो, **परीक्षामुख** ३–५७ से ३–९३ तकके सूत्र। ४ देखो, **प्रमाणपरी०** पृ० ७२-७४। ५ देखो, **प्रमाणनयतत्त्वालोक** का तृतीय परिच्छेद। ६ प्रमाणपरीक्षानुसार हेतुभेदों को वहीं से जानना चाहिए।

[न्यायदीपिकाके अनुसार]



[परीक्षामुखके अनुसार]



२२. हेत्वाभास—

नैयायिक[1] हेतुके पाँच रूप मानते हैं । अतः उन्होंने एक एक रूपके अभावमें पाँच हेत्वाभास माने हैं । वैशेषिक[2] और बौद्ध[3] हेतुके तीन रूप स्वीकार करते हैं । इसलिए उन्होंने तीन हेत्वाभास माने हैं । पक्षधर्मत्वके अभावसे असिद्ध, सपक्षसत्त्वके अभावसे विरुद्ध और विपक्षासत्वके अभावसे सन्दिग्ध अथवा अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास वर्णित किये हैं । सांख्य[4] भी चूंकि हेतुको त्रैरूप्य मानते हैं । अतः उन्होंने भी मुख्यतया तीन ही हेत्वाभास स्वीकृत किये हैं । प्रशस्तपादने[5] एक अनध्यवसित नामके चौथे हेत्वाभासका भी निर्देश किया है जो नया ही मालूम होता है और प्रशस्तपादका स्वोपज्ञ है क्योंकि वह न तो न्यायदर्शनके पाँच हेत्वाभासोंमें है, न कणादकथित तीन हेत्वाभासोंमें है और न उनके पूर्ववर्ती किसी सांख्य या बौद्ध विद्वान्ने बतलाया है । हाँ, दिग्नागने[6] अनैकान्तिक हेत्वाभासके भेदोंमें एक विरुद्धाव्यभिचारी जरूर बतलाया है जिसके न्याय-

---

१ "सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकाला हेत्वाभासाः ।"—**न्यायसू०** १-२-४ । "हेतोः पञ्च लक्षणानि पक्षधर्मत्वादीनि उक्तानि । तेषामेकैकापाये पंच हेत्वाभासा भवन्ति । असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमाः ।"—**न्यायकलिका** पृ० १४ । **न्यायमं०** पृ० १०१ । २ "अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ।"—**वैशे० सू०** ३-१-१५ । "यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते । तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ।। विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं **काश्यपोऽब्रवीत्** ।।"—**प्रशस्त०** पृ० १०० । ३ "असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः ।"—**न्यायप्र०** पृ० ३ । ४ "अन्ये हेत्वाभासाः चतुर्दश असिद्धानैकान्तिकविरुद्धादयः ।"—**माठरवृ०** ५ । ५ "एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वमुक्तं भवति ।"—**प्रशस्तपा० भा०** पृ० ११६ । ६ देखो, **न्यायप्रवेश** पृ० ३ ।

प्रवेशगत वर्णन और प्रशस्तपादभाष्यगत अनध्यवसितके वर्णनका आशय प्रायः एक है और स्वयं जिसे प्रशस्तपादने[1] असाधारण कहकर अनध्यवसित हेत्वाभास अथवा विरुद्ध हेत्वाभासका एक भेद बतलाया है। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि प्रशस्तपादने वैशेषिकदर्शन सम्मत तीन हेत्वाभासोंके अलावा इस चौथे हेत्वाभासकी भी कल्पना की है। अज्ञात नामके हेत्वाभासको भी माननेका एक मत रहा है। हम पहले कह आए हैं कि अर्चटने नैयायिक और मीमांसकोंके नामसे ज्ञातव्य सहित षड्लक्षण हेतुका निर्देश किया है। सम्भव है ज्ञातत्वरूपके अभावसे अज्ञातनामका हेत्वाभास भी उन्हींके द्वारा कल्पित हुआ हो। अकलङ्कदेवने[2] इस हेत्वाभासका उल्लेख करके असिद्धमें अन्तर्भाव किया है। उनके अनुगामी माणिक्यनन्दि[3] आदिने भी उसे असिद्ध हेत्वाभासरूपसे उदाहृत किया है।

जैन विद्वान् हेतुका केवल एकही अन्यथानुपपन्नत्व-अन्यथानुपपत्तिरूप मानते हैं। अतः यथार्थमें उनका हेत्वाभास भी एक ही होना चाहिए। इस सम्बन्धमें सूक्ष्मप्रज्ञ अकलङ्कदेवने[4] बड़ी योग्यतासे उत्तर दिया है। वे कहते हैं कि वस्तुतः हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिञ्चित्कर अथवा असिद्ध। विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध ये उसीके विस्तार हैं। चूंकि अन्यथानुपपत्तिका अभाव अनेक प्रकारसे होता है इसलिए हेत्वा-

---

१ देखो, **प्रशस्तपा० भा०** ११८, ११९।

२ "साध्येऽपि कृतकत्वादिः अज्ञातः साधनाभासः। तदसिद्धलक्षणेन अपरो हेत्वाभासः, सर्वत्र साध्यार्थसम्भवाभावनियमासिद्धेः अर्थज्ञाननिवृत्तिलक्षणत्वात्।"—**प्रमाणसं० स्वो०** का ४४। ३ **परीक्षामु०** ६-२७,२८। ४ "साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं ततोऽपरे। विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अकिञ्चित्करविस्तराः।"—**न्यायवि० का०** २९९। "असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने। अन्यथासम्भवाभावभेदात्स बहुधा स्मृतः विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः—**न्यायवि० का०** ३६५, ३६६।

भासके असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचारी और अकिञ्चित्कर ये चारभी भेद हो सकते हैं या अकिञ्चित्करको सामान्य और शेषको उसके भेद मानकर तीन हेत्वाभास भी कहे जा सकते हैं। अतएव जो हेतू त्रिलक्षणात्मक होनेपर भी अन्यथानुपपन्नत्वसे रहित हैं वे सब अकिञ्चित्कर हेत्वाभास हैं[1]। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अकलङ्कदेवने पूर्वसे प्रसिद्ध इस अकिंचितत्कर हेत्वाभासकी कल्पना कहाँसे की है? क्योंकि वह न तो कणाद और दिग्नाग कथित तीन हेत्वाभासोंमें है और न गौतमस्वीकृत पाँच हेत्वाभासोंमें है? श्रद्धेय पं० सुखलालजीका कहना है[2] कि 'जयन्तभट्टने अपनी न्यायमंजरी (पृ० १६३)में अन्यथासिद्धापरपर्याय अप्रयोजक नामक एक नए हेत्वाभासको माननेका पूर्व पक्ष किया है जो वस्तुतः जयन्तके पहिले कभीसे चला आता हुआ जान पड़ता है।…अतएव यह सम्भव है कि अप्रयोजक या अन्यथासिद्ध माननेवाले किसी पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थके आधारपर ही अकलङ्कने अकिंचित्कर हेत्वाभासकी अपने ढङ्गसे नई सृष्टि की हो।' निःसन्देह पण्डितजीकी सम्भावना और समाधान दोनों हृदयको लगते हैं। जयन्तभट्टने[3] इस हेत्वाभासके सम्बन्धमें कुछ विस्तारसे बहुत सुन्दर विचार किया है। वे[4] पहले तो उसे विचार करते करते

---

१ "अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः।

अकिंचित्कारकान् सर्वांस्तान् वयं सङ्गिरामहे॥—**न्यायवि०** का० ३७०। २ **प्रमाणमी० भा०** टि० पृ० ६७। ३ देखो, **न्यायमं०** पृ० १६३-१६६ (प्रमेय प्रकरण)। ४ "आस्ताँ तर्हि षष्ठ एवायं हेत्वाभासः सम्यग् हेतुतां तावद्यथोक्तनयेन नाश्नुते एव न च तेष्वन्तर्भवतीति बलात् षष्ठ एवावतिष्ठते। कथं विभागसूत्रमिति चेद्, अतिक्रमिष्याम इदं सूत्रम्, अनतिक्रामन्तः सुस्पष्टमपीममप्रयोजकं हेत्वाभासमपह्नवीमहि न चैवं युक्तमतो वरं सूत्रातिक्रमो न वस्त्वतिक्रम इति। ××× "तदेनं हेत्वाभासमसिद्धवर्ग एव निक्षिपामः।" ××× अथवा सर्वहेत्वाभासानुवृत्तमिद

साहसपूर्वक छठवाँही हेत्वाभास मान लेते हैं और यहाँ तक कह देते हैं कि विभागसूत्रका उलंघन होता है तो होने दो सुस्पष्ट दृष्ट अप्रयोजक (अन्यथासिद्ध) हेत्वाभासका अपह्नव नहीं किया जा सकता है और न वस्तुका उलंघन। किन्तु पीछे उसे असिद्धवर्गमें ही शामिल कर लेते हैं। अन्तमें 'अथवा'के साथ कहा है कि अन्यथासिद्धत्व (अप्रयोजकत्व) सभी हेत्वभासवृत्ति सामान्यरूप है, छठवाँ हेत्वाभास नहीं। इसी अन्तिम अभिमतको न्यायकलिका (पृ० १५)में[1] स्थिर रखा है। पण्डितजीकी सम्भावनासे प्रेरणा पाकर जब मैंने 'अन्यथासिद्ध'को पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थोंमें खोजना प्रारम्भ किया तो मुझे उद्योतकरके न्यायवार्त्तिकमें[2] अन्यथासिद्ध हेत्वाभास मिल गया जिसे उद्योतकरने असिद्धके भेदोंमें गिनाया है। वस्तुतः अन्यथासिद्ध एकप्रकारका अप्रयोजक या अकिंचित्कर हेत्वाभासही है। जो हेतु अपने साध्यको सिद्ध न कर सके उसे अन्यथासिद्ध अथवा अकिंचित्कर कहना चाहिए। भलेही वह तीनों अथवा पाँचों रूपोंसे युक्त क्यों न हो। अन्यथासिद्धत्व अन्यथानुपपन्नत्वके अभाव–अन्यथाउपपन्नत्वसे अतिरिक्त कुछ नहीं है। यही वजह है कि अकलङ्कदेवने सर्वलक्षणसम्पन्न होने पर भी अन्यथानुपपन्नत्वरहित हेतुओंको अकिंचित्कर हेत्वाभासकी संज्ञा दी है। अतएव ज्ञात होता है कि उद्योतकरके अन्यथासिद्धत्वमें से ही अकलङ्कने अकिंचित्कर हेत्वाभास की कल्पना की है। आ० माणिक्यनन्दिने इसका चौथे हेत्वाभासके रूपमें वर्णन किया है[3] पर वे उसे हेत्वाभासके

मन्यथासिद्धत्वं नाम रूपमिति न षष्ठोऽयं हेत्वाभासः।—पृ० १६६।

१ "अप्रयोजकत्वं च सर्वहेत्वाभासानामनुगतं रूपम्। अनित्याः परमाणवो मूर्त्तत्वात् इति सर्वलक्षणसम्पन्नोऽप्यप्रयोजक एव।" २ "सोऽयमसिद्धत्व भवति प्रज्ञापनीयधर्मसमानः, आश्रयासिद्धः, **अन्यथासिद्धश्चेति।**" —पृ० १७५। ३ **परीक्षामुख** ६-२१।

लक्षणके विचार समयमें ही हेत्वाभास मानते हैं[1]। वादकालमें नहीं। उस समय तो पक्षमें दोष दिखा देनेसे ही व्युत्पन्नप्रयोगको दूषित बतलाते हैं। तात्पर्य यह कि वे अकिञ्चित्करको स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेमें खास जोर भी नहीं देते। श्वेताम्बर विद्वानोंने[2] असिद्धादि पूर्वोक्त तीन ही हेत्वाभास स्वीकृत किये हैं, उन्होंने अकिंचित्करको नहीं माना। माणिक्यनन्दिने अकिंचित्करको हेत्वाभास माननेकी जो दृष्टि बतलाई है उस दृष्टिसे उसका मानना उचित है। वादिदेवसूरि[3] और यशोविजयने[4] यद्यपि अकिंचित्करका खण्डन किया है पर वे उस दृष्टिको मेरे ख्यालमें ओझल कर गये हैं। अन्यथा वे उस दृष्टिसे उसके औचित्यको जरूर स्वीकार करते। आ० धर्मभूषणने अपने पूज्य माणिक्यनन्दिका अनुसरण किया है और उनके निर्देशानुसार अकिंचित्करको चौथा हेत्वाभास बताया है।

इस तरह न्यायदीपिकामें आये हुए कुछ विशेष विषयोंपर तुलनात्मक विवेचन किया है। मेरी इच्छा थी कि आगम, नय, सप्तभंगी, अनेकान्त आदि शेष विषयोंपर भी इसी प्रकारका कुछ विचार किया जावे पर अपनी शक्ति, साधन, समय और स्थानको देखते हुए उसे स्थगित कर देना पड़ा।

---

१ "लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्।" —**परीक्षा०** ६-३८। २ **न्यायाव० का०** २३, **प्रमाणनय०** ६-४७। ३ **स्याद्वादरत्ना०** पृ० १२३०। ४ **जैनतर्कभा०** पृ० १८।

न्यायदीपिका में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार—

आ० धर्मभूषणने अपनी प्रस्तुत रचनामें अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया है तथा उनके कथनसे अपने प्रतिपाद्य विषयको पुष्ट एवं प्रमाणित किया है। अतः यह उपयुक्त जान पड़ता है कि उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका यहाँ कुछ परिचय दे दिया जाय। प्रथमतः न्यायदीपिकामें उल्लिखित हुए निम्न जैनेतर ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका परिचय दिया जाता है :—

(क) ग्रन्थ—१ न्यायविन्दु।

(ख) ग्रन्थकार—१ दिग्नाग, २ शालिकानाथ, ३ उदयन और ४ वामन।

न्यायविन्दु—यह बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्त्तिका रचा हुआ बौद्ध-न्यायका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें प्रमाण-सामान्यलक्षणका निर्देश, उसके प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो भेदोंका स्वीकार एवं उनके लक्षण, प्रत्यक्षके भेदों आदिका वर्णन किया गया है। द्वितीय-परिच्छेदमें अनुमानके स्वार्थ, परार्थ भेद, स्वार्थका लक्षण, हेतुका त्रैरूप्य लक्षण और उसके स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि इन तीन भेदों आदिका कथन किया है। और तीसरे परिच्छेदमें परार्थ अनुमान हेत्वाभास, दृष्टान्त, दृष्टान्ताभास आदिका निरूपण किया गया है। न्याय-दीपिका पृ० १०पर इस ग्रन्थके नामोल्लेख पूर्वक दो वाक्यों और पृ० २५ पर इसके 'कल्पनापोढमभ्रान्तम्'प्रत्यक्षलक्षणकी समालोचना की गई है। प्रत्यक्षके इस लक्षणमें जो 'अभ्रान्त' पद निहित है वह खुद धर्मकीर्त्तिका ही दिया हुआ है। इसके पहले बौद्धपरम्परामें 'कल्पनापोढ' मात्र प्रत्यक्षका लक्षण स्वीकृत था। धर्मकीर्त्ति बौद्धदर्शनके उन्नायक युग-प्रधान थे। इनका अस्तित्व समय ईसाकी सातवीं शताब्दि (६३५ ई०) माना जाता है। ये नालन्दा विश्वविद्यालयके आचार्य धर्मपालके शिष्य

थे। न्यायविन्दुके अतिरिक्त प्रमाणवार्त्तिक, वादन्याय, हेतुविन्दु, सन्तानान्तरसिद्धि, प्रमाणविनश्चय और सम्बन्धपरीक्षा आदि इनके बनाए हुए ग्रन्थ हैं। अभिनव धर्मभूषण न्यायविन्दु आदिके अच्छे अभ्यासी थे।

१. **दिग्नाग**–ये बौद्ध सम्प्रदायके प्रमुख तार्किक विद्वानोंमें से हैं। इन्हें बौद्धन्यायका प्रतिष्ठापक होनेका श्रेय प्राप्त है, क्योंकि अधिकांशतः बौद्ध-न्यायके सिद्धान्तों की नींव इन्होंने डाली थी। इन्होंने न्याय, वैशेषिक और मीमांसा आदि दर्शनोंके मन्तव्योंकी आलोचनास्वरूप और स्वतन्त्ररूप अनेक प्रकरण ग्रन्थ रचे हैं। न्यायप्रवेश, प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणसमुच्चय-वृत्ति, हेतुचक्रडमरू, आलम्बनपरीक्षा और त्रिकालपरीक्षा आदि ग्रंथ इनके माने जाते हैं[1]। इनमें न्यायप्रवेश और प्रमाणसमुच्चय मुद्रित भी हो चुके।

---

१ उद्योतकर (६०० ई०) ने **न्यायवा०** पृ० १२८, १६८ पर हेतुवार्त्तिक और हेत्वाभासवार्तिक नामके दो ग्रन्थोंका उल्लेख किया है, जो सम्भवतः दिग्नागके ही होना चाहिए, क्योंकि वाचस्पति मिश्रके तात्पर्यटीका (पृ० २८९) गत संदर्भको ध्यानसे पढ़नेसे वैसा प्रतीत होता है। **न्यायवा०** भूमिका पृ० १४१, १४२ पर इनको किसी बौद्ध विद्वान्के प्रकट भी किये हैं। उद्योतकरके पहले बौद्ध परम्परामें सबसे अधिक प्रसिद्ध प्रबल और अनेक ग्रन्थोंका रचनाकार दिग्नाग ही हुआ है जिसका न्यायवार्त्तिक में जगह जगह कदर्थन किया गया है।

इन ग्रन्थोंके सम्बन्धमें मैंने माननीय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यसे दर्यापत्त किया था। उन्होंने मुझे लिखा है—'दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयके अनुमानपरिच्छेदके ही वे श्लोक होने चाहिए जिसे उद्योतकर हेतुवार्त्तिक या हेत्वाभासवार्त्तिक कहते हैं। स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मालूम होते यही "हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः" इस कारिकाकी स्ववृत्ति टीकामें कर्णकगोमिने लिखा है–"वर्णितः आचार्यदिग्नागेन प्रमाणसमुच्चयादिषु"। सम्भव है इसमें आदि शब्दसे हेतुचक्रडमरूका निर्देश हो।' परन्तु उद्योत-करने जो इस प्रकार लिखा है—"एवं विरुद्धविशेषणविरुद्धविशेष्याश्च

है। न्याय-प्रवेशपर तो जैनाचार्य हरिभद्रसूरिकी 'न्यायप्रवेशवृत्ति नामक टीका है और इस वृत्तिपर भी जैनाचार्य पार्श्वदेव कृत 'न्यायप्रवेशवृत्ति-पंजिका नामकी व्याख्या है। दिग्नागका समय ईसाकी चौथी और पाँचवीं शताब्दी (३४५-४२५ई०)के लगभग है। आ० धर्मभूषणने न्यायदीपिका पृ० ११९ पर इनका नामोल्लेख करके 'न याति' इत्यादि एक कारिका उद्धृत की है, जो सम्भवतः इन्हींके किसी अनुपलब्ध ग्रन्थकी होगी।

द्रष्टव्याः। एषां तूदाहरणानि **हेत्वाभासवार्त्तिके** द्रष्टव्यानि स्वयं चाभ्यूह्यानि" (पृ० १६८)। इससे तो यह मालूम होता है कि यहाँ उद्योतकर किसी 'हेत्वाभासवार्त्तिक' नामक ग्रंथका ही उल्लेख कर रहे हैं जहाँ 'विरुद्धविशेषणविरुद्धविशेष्यो' के उदाहरण प्रदर्शित किये हैं और वहाँसे जिन्हें देखनेका यहाँ संकेतमात्र किया है। 'हेत्वाभासवार्त्तिके' पदसे कोई कारिका या श्लोक प्रतीत नहीं होता। यदि कोई कारिका या श्लोक होता तो उसे उद्धृत भी किया जा सकता था। अतः 'हेत्वाभासवार्त्तिक' नामका कोई ग्रन्थ रहा हो, ऐसा उक्त उल्लेखसे साफ मालूम होता है।

इसी तरह उद्योतकरके निम्न उल्लेखसे 'हेतुवार्त्तिक ग्रन्थके भी होने की सम्भावना होती है—"यद्यपि **हेतुवार्त्तिकं** ब्रुवाणेनोक्तम्—सप्तिकासम्भवे षट्प्रतिषेधादेकद्विपदपर्युदासेन त्रिलक्षणो हेतुरिति। एतदप्ययुक्तम् ......' (पृ० १२८) यहाँ हेतुवार्त्तिककारके जिन शब्दोंको उद्धृत किया है वे गद्य में हैं। श्लोक या कारिकारूप नहीं हैं। अतः सम्भव है कि न्यायप्रवेशकी तरह 'हेतुवार्त्तिक गद्यात्मक स्वतन्त्र रचना हो और जिसका कर्णकगोमिने आदि शब्दसे संकेत भी किया हो। यह भी सम्भव है कि प्रमाणसमुच्चयके अनुमानपरिच्छेदकी स्वोपज्ञ वृत्तिके उक्त पदवाक्यादि हों। और उनकी मूल कारिकाओंको हेत्वाभासवार्त्तिक एवं हेतुवार्त्तिक कहकर उल्लेख किया हो। फिर भी जबतक 'हेतुचक्रडमरू' और प्रमाणसमुच्चयका अनुमानपरिच्छेद सामने नहीं आता और दूसरे पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते तबतक निश्चयपूर्वक अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

२. **शालिकानाथ**—ये प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक दार्शनिक विद्वानोंमें एक प्रसिद्ध विद्वान् हो गये हैं। इन्होंने प्रभाकर गुरुके सिद्धान्तोंका बडे जोरोंके साथ प्रचार और प्रसार किया है। उन (प्रभाकर)के वृहती नामके टीका-ग्रन्थपर, जो प्रसिद्ध मीमांसक शबरस्वामीके शाबर-भाष्यकी व्याख्या है, इन्होंने 'ऋजुविमला' नामकी पंजिका लिखी है। प्रभाकरके सिद्धान्तोंका विवरण करनेवाला इनका 'प्रकरणपंजिका नामका वृहद् ग्रन्थ भी है। ये ईसाकी आठवीं शताब्दीके विद्वान् माने जाते हैं। न्यायदीपिकाकारने पृ० १९ पर इनके नामके साथ 'प्रकरणपंजिका' के कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं।

३. **उदयन**—ये न्यायदर्शनके प्रतिष्ठित आचार्योंमें हैं। नैयायिक परम्परामें ये 'आचार्य' के नामसे विशेष उल्लिखित हैं। जो स्थान बौद्ध-दर्शनमें धर्मकीर्त्ति और जैनदर्शनमें विद्यानन्दस्वामीको प्राप्त है वही स्थान न्यायदर्शनमें उदयनाचार्यका है। ये शास्त्रार्थी और प्रतिभाशाली विद्वान् थे। न्यायकुसुमांजली, आत्मतत्त्वविवेक, लक्षणावली, प्रशस्तपादभाष्यकी टीका किरणावली और वाचस्पति मिश्रकी न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकापर लिखी गई तात्पर्यपरिशुद्धि टीका, न्यायपरिशिष्ट नामकी न्यायसूत्रवृत्ति आदि इनके बनाये हुए ग्रन्थ हैं। इन्होंने अपनी लक्षणावली[1] शक सम्बत् ९०६ (९८४ ई०) में समाप्त की है। अतः इनका अस्तित्व-काल दशवीं शताब्दी है। न्यायदीपिका (पृ० २१)में इनके नामोल्लेखके साथ 'न्यायकुसुमांजलि' (४-६) के 'तन्मे प्रमाणं शिवः' वाक्यको उद्धृत किया गया है। और उदयनाचार्यको 'यौगाग्रसर'लिखा हैं। अभिनव धर्म-भूषण इनके न्यायकुसुमांजलि, किरणावली आदि ग्रन्थोंके अच्छे अध्येता थे। न्यायदी० पृ० ११० पर किरणावली (पृ० २९७, ३००,३०१) गत

---

१ "तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेष्वदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ॥"—**लक्षणा०** पृ० १३

निरुपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्तिका भी खण्डन किया गया है। यद्यपि किरणावली और न्यायदीपिकागत लक्षणमें कुछ शब्दभेद है। पर दोनों-की रचनाको देखते हुए भिन्न ग्रन्थकारकी रचना प्रतीत नहीं होते। प्रत्युत किरणावलीकारकी ही वह रचना स्पष्टतः जान पड़ती है। दूसरी बात यह है, कि अनौपाधिक सम्बन्धको व्याप्ति मानना उदयनाचार्यका मत माना गया है। वैशेषिकदर्शनसूत्रोपस्कार (पृ० ६०)में 'नाप्यनौपाधिकः सम्बन्धः' शब्दोंके साथ पहिले पूर्व पक्षमें अनौपाधिकरूप व्याप्ति-लक्षणकी आलोचना करके बादमें उसे ही सिद्धान्तमत स्थापित किया है। यहाँ 'नाप्यनौपाधिकः' पर टिप्पण देते हुए टिप्पणकारने 'आचार्यमतं दूषयन्नाह' लिखकर उसे आचार्य (उदयनाचार्य)का मत प्रकट किया है। मैं पहले कह आया हूँ कि उदयन आचार्यके नामसे भी उल्लेखित किये जाते हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि अनौपाधिक—निरुपाधिक सम्बन्धको व्याप्ति मानना उदयनाचार्यका सिद्धान्त हैं और उसीकी न्याय-दीपिकाकारने आलोचना की है। उपस्कार और किरणावलीगत व्याप्ति तथा उपाधिके लक्षणसम्बन्धी संदर्भ भी शब्दशः एक हैं, जिससे टिप्पण-कारके अभिप्रेत 'आचार्य' पदसे उदयनाचार्य ही स्पष्ट ज्ञात होते हैं। यद्यपि प्रशस्तपादभाष्यकी व्योमवती टीकाके रचयिता व्योमशिवाचार्य भी आचार्य कहे जाते हैं, परन्तु उन्होंने व्याप्तिका उक्त लक्षण स्वीकार नहीं किया। बल्कि उन्होंने सहचरित सम्बन्ध अथवा स्वाभाविक सम्बन्धको व्याप्ति माननेकी ओरही संकेत किया है[१]। वाचस्पति मिश्रने भी अनौपा-धिक सम्बन्धको व्याप्ति न कहकर स्वाभाविक सम्बन्धको व्याप्ति कहा है[२]।

४. **वामन**—इनका विशेष परिचय यथेष्ट प्रयत्न करनेपर भी मालूम नहीं हो सका। न्यायदीपिकाके द्वारा उद्धृत किये गए वाक्यपरसे

---

१ देखो, **व्योमवती टीका** पृ० ५६३, ५७८। देखो **न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका** पृ० १६५, ३४५।

इतना जरूर मालूम हो जाता है कि वे अच्छे ग्रन्थकार और प्रभावक विद्वान् हुए हैं। न्यायदीपिका पृ० १२४ पर इनके नामके उल्लेखपूर्वक इनके किसी ग्रन्थका 'न शास्त्रमसद्द्रव्येष्वर्थवत्' वाक्य उद्धृत किया गया है।

अब जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। धर्मभूषणने निम्न जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया है।

(क) **ग्रन्थ—१ तत्त्वार्थसूत्र, २ आप्तमीमांसा, ३ महाभाष्य, ४ जैनेन्द्रव्याकरण, ५ आप्तमीमांसाविवरण, ६ राजवार्त्तिक और राजवार्त्तिकभाष्य, ७ न्यायविनिश्चय, ८ परीक्षा-मुख, ९ तत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिक तथा भाष्य, १० प्रमाण परीक्षा, ११ पत्र-परीक्षा, १२ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और १३ प्रमाणनिर्णय।**

(ख) **ग्रन्थकार—१ स्वामीसमन्तभद्र, २ अकलङ्कदेव, ३ कुमारनन्दि, ४ माणिक्यनन्दि और ५ स्याद्वादविद्यापति** (वादिराज)।

१. **तत्त्वार्थसूत्र**—यह आचार्य उमास्वाति अथवा उमास्वामीकी अमर रचना है। जो थोड़ेसे पाठभेदके साथ जैनपरम्पराके दोनों ही दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें समानरूपसे मान्य हैं और दोनों ही सम्प्रदायोंके विद्वानोंने इसपर अनेक बड़ी बड़ी टीकाएँ लिखी हैं। उनमें आ० पूज्यपादकी तत्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), अकलंकदेवका तत्वार्थ-वार्त्तिक, विद्यानन्दका तत्वार्थश्लोकवार्त्तिक, श्रुतसागरसूरिकी तत्वार्थ-वृत्ति और श्वेताम्बर पपम्परामें प्रसिद्ध तत्वार्थभास ये पाँच टीकाएँ तो तत्वार्थसूत्र की विशाल, विशिष्ट और महत्वपूर्ण व्याख्याएँ हैं। आचार्य महोदयने इस छोटीसी दशाध्यायात्मक अनूठी कृतिमें समस्त जैन तत्व-ज्ञानको संक्षेपमें 'गागरमें सागर'की तरह भरकर अपने विशाल और सूक्ष्म ज्ञानभण्डारका परिचय दिया है। यही कारण है कि जैनपरम्परामें तत्त्वा-र्थसूत्रका बहुत बड़ा महत्त्व है और उसका वही स्थान है जो हिन्दूसम्प्र-दायमें गीताका है। इस ग्रन्थरत्नके रचयिता आ० उमास्वाति विक्रमकी

पहली शताब्दीके विद्वान् हैं। न्यायदीपिकाकारने तत्त्वार्थसूत्रके अनेक सूत्रोंको न्यायदी० (पृ० ४,३४,३६,३८,११३,१२२) में बड़ी श्रद्धाके साथ उल्लेखित किया है और उसे महाशास्त्र तक भी कहा है, जो उपयुक्त ही है। इतना ही नहीं, न्यायदीपिकाकी भव्य इमारत भी इसी प्रतिष्ठित तत्त्वार्थसूत्रके 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्रका आशय लेकर निर्मित की गई है।

आप्तमीमांसा—स्वामी समन्तभद्रकी उपलब्ध कृतियोंमें यह सबसे प्रधान और असाधारण कृति है। इसे 'देवागमस्तोत्र भी कहते हैं। इसमें दश परिच्छेद और ११४ पद्य (कारिकाएँ) हैं। इसमें आप्त (सर्वज्ञ) की मीमांसा—परीक्षा की गई है। जैसा कि उसके नामसे ही प्रकट है। अर्थात् इसमें स्याद्वादनायक जैन तीर्थंकरको सर्वज्ञ सिद्ध करके उनके स्याद्वाद (अनेकान्त) सिद्धान्तकी सयुक्तिक सुव्यवस्था की है और स्याद्वादविद्वेषी एकान्तवादियोंमें आप्ताभासत्व (असार्वज्ञ्य) बतलाकर उनके एकान्त सिद्धान्तोंकी बहुत ही सुन्दर युक्तियोंके साथ आलोचना की है। जैनदर्शनके आधारभूत स्तम्भ ग्रन्थोंमें आप्तमीमांसा पहला ग्रन्थ है। इसके ऊपर भट्ट अकलङ्कदेवने 'अष्टशती' विवरण (भाष्य), आ० विद्यानन्दने 'अष्टसहस्री' (आप्तमीमांसालंकार या देवगमालंकार) और वसुनन्दिने 'देवागमवृत्ति' टीकाएँ लिखी हैं। ये तीनों टीकाएं उपलब्ध भी हैं। पण्डित जयचन्दजीकृत इनकी एक टीका हिन्दी भाषामें भी है। श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने इसकी दो और अनुपलब्ध टीकाओं की सम्भावना की है[1]। एक तो वह जिसका संकेत आ० विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें 'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मंगलवचनमनुतन्यते' इस वाक्यमें आए हुए 'केचित्' शब्दके द्वारा किया है। और

---

१ देखो, **स्वामीसमन्तभद्र** । श्वेताम्बर विद्वान् श्रीमान् पं० सुखलालजी इन्हें भाष्यको स्वोपज्ञ माननेके कारण विक्रमकी तीसरीसे पाँचवीं शताब्दीका अनुमानित करते हैं। देखो, **ज्ञानबिन्दुकी प्रस्तावना**।

१ **स्वामीसमन्तभद्र** पृ० १९९, २००।

दूसरी 'देवागमपद्यवार्त्तिकालंकार' है, जिसकी सम्भावना युक्त्यनुशासनटीका (पृ० ६४) के 'इति देवागमपद्यवार्त्तिकालंकारे निरूपितप्रायम् ।' इस वाक्य में पड़े हुए 'देवागमपद्यवार्त्तिकालंकारे' पदसे की है। परन्तु पहली टीकाके होनेकी सूचना तो कुछ ठीक मालूम होती है, क्योंकि आ० विद्यानन्द भी उसका संकेत करते हैं। लेकिन पिछली टीकाके सद्भाव-का कोई आधार या उल्लेख अब तक प्राप्त नहीं हुआ। वास्तवमें बात यह है कि आ० विद्यानन्द 'देवागमपद्यवार्तिकालंकारे' पदके द्वारा अपनी पूर्वरचित दो प्रसिद्ध टीकाओं—देवागमालंकार (अष्टसहस्री और पद्य-वार्तिकालंकार (श्लोकवार्तिकालंकार) का उल्लेख करते हैं और उनके देखनेकी प्रेरणा करते हैं। पद्यका अर्थ श्लोक प्रसिद्ध ही है और अलंकार शब्दका प्रयोग दोनोंके साथ रहनेसे समस्यन्त एक वचनका प्रयोग भी असंगत नहीं है। अतः 'देवागमपद्यवार्तिकालंकार' नामकी कोई आप्त-मीमांसाकी टीका रही है, यह विना पुष्ट प्रमाणोंके नहीं कहा जा सकता। आ० अभिनव धर्मभूषणने आप्तमीमांसाकी अनेक कारिकाएँ प्रस्तुत न्यायदीपिकामें बड़ी कृतज्ञताके साथ उद्धृत की है।

महाभाष्य—ग्रन्थकारने न्यायदीपिका पृ० ४१ पर निम्न शब्दोंके साथ महाभाष्यका उल्लेख किया है :—

'तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे—'

परन्तु आज यह ग्रन्थ उपलब्ध जैन साहित्यमें नहीं है। अतः विचार-णीय है कि इस नामका कोई ग्रथ है या नहीं? यदि है तो उसकी उपलब्धि आदिका परिचय देना चाहिए। और यदि नहीं हैं तो आ० धर्मभूषणने किस आधारपर उसका उल्लेख किया है? इस सम्बन्धमें अपनी ओरसे कुछ विचार करनेके पहले मैं कह दूं कि इस ग्रन्थके अस्तित्व विषयमें जितना अधिक ऊहापोहके साथ सूक्ष्म विचार और अनुसन्धान मुख्तारसा० ने किया है[1] उतना शायद ही अबतक दूसरे विद्वान्ने किया हो। उन्होंने

---

१ देखो, **स्वामीसमन्तभद्र** प० २१२ से २४३ तक।

अपने 'स्वामीसमन्तभद्र' ग्रन्थ के ३१ पेजोंमें अनेक पहलुओंसे चिन्तन किया है और वे इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि स्वामीसमन्तभद्र रचित महाभाष्य नामका कोई ग्रन्थ रहा जरूर है पर उसके होनेके उल्लेख अब तक तेरहवीं शताब्दीके पहलेके नहीं मिलते हैं। जो मिलते हैं वे १३वीं, १४वीं और १५वीं शताब्दीके हैं। अतः इसके लिए प्राचीन साहित्यको टटोलना चाहिए।

मेरी विचारणा—

किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकारके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिए अधिकांशतः निम्न साधन अपेक्षित होते हैं :—

(१) ग्रन्थोंके उल्लेख।

(२) शिलालेखादिकके उल्लेख।

(३) जनश्रुति-परम्परा।

१. जहाँ तक महाभाष्यके ग्रन्थोल्लेखोंकी बात है और वे अब तक जितने उपलब्ध हो सके हैं उन्हें मुख्तारसा०ने प्रस्तुत किये ही हैं। हाँ, एक नया ग्रन्थोल्लेख हमें और उपलब्ध हुआ है। वह अभयचन्द्रसूरिकी स्याद्वादभूषणनामक लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तिका है, जो इस प्रकार है :—

"परीक्षितं विरचितं **स्वामिसमन्तभद्राद्यैः** सूरिभिः। कथं न्यक्षेण विस्तरेण। क्व अन्यत्र **तत्त्वार्थमहाभाष्यादौ**···"—**लघी०** ता० पृ०६७।

ये अभयचन्द्रसूरि तथा 'गोम्मटसार' की मन्दप्रबोधिका टीका और प्रक्रियासंग्रह (व्याकरणविषयक टीकाग्रन्थ) के कर्ता अभयचन्द्रसूरि यदि एक हैं और जिन्हें डा० ए० एन० उपाध्ये[1] तथा मुख्तारसा०[2] ईसाकी १३वीं और वि०की १४वीं शताब्दीका विद्वान् स्थिर करते हैं तो उनके इस

---

१ देखो, **अनेकान्त** वर्ष ४ किरण १ पृ० ११६। २ देखो, **स्वामीसमन्तभद्र** पृ० २२४ का फुटनोट।

उल्लेख से महाभाष्यके विषयमें कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। **प्रथम** तो यह, कि यह उल्लेख मुख्तारसा० के प्रदर्शित उल्लेखों के समसामयिक है, उसका शृङ्खलाबद्ध पूर्वाधार अभी प्राप्त नहीं है जो स्वामीसमन्तभद्रके समय तक पहुँचाये। दूसरे यह, कि अभयचन्द्रसूरि इस उल्लेखके विषयमें अभ्रान्त प्रतीत नहीं होते। कारण, वे अकलङ्कदेवकी लघीयस्त्रयगत जिस कारिकाके **'अन्यत्र'** पदका **'स्वामीसमन्तभद्राादिसूरि'** शब्दका अध्याहार करके **'तत्त्वार्थमहाभाष्य'** व्याख्यान करते हैं वह सूक्ष्म समीक्षण करने पर अकलङ्कदेवको अभिप्रेत मालूम नहीं होता। बात यह है कि अकलङ्कदेव वहाँ 'अन्यत्र' पदके द्वारा कालादिलक्षणको जाननेके लिये अपने पूर्वरचित तत्त्वार्थ राजवार्त्तिकभाष्यकी सूचना करते जान पड़ते हैं, जहां (**राजवार्तिक** ४—४२) उन्होंने स्वयं कालादि आठका विस्तारसे विचार किया है।

यद्यपि प्रक्रियासंग्रहमें भी अभयचन्द्र सूरि ने सामन्तभद्री महाभाष्यका उल्लेख किया है और इस तरह उनके ये दो उल्लेख हो जाते हैं। परन्तु इनका पूर्वाधार क्या है? सो कुछ भी मालूम नहीं होता। अतः प्राचीन साहित्य परसे इसका अनुसन्धान करनेकी अभी भी आवश्कता बनी हुई है।

२. अबतक जितने भी शिलालेखों आदिका संग्रह किया गया है उनमें महाभाष्य या तत्त्वार्थमहाभाष्यका उल्लेखवाला कोई शिलालेखादि उपलब्ध नहीं है। जिससे इस ग्रंथके अस्तित्व विषयमें कुछ सहायता मिल सके। तत्त्वार्थसूत्रके तो शिलालेख मिलते भी हैं[1] पर उसके महाभाष्यका कोई शिलालेख नहीं मिलता।

३. जनश्रुति–परम्परा जरूर ऐसी चली आ रही है कि स्वामी समन्तभद्रने तत्वार्थसूत्रपर 'गन्धहस्ति' नामका भाष्य लिखा है जिसे महाभाष्य और

---

१ अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन ॥—शि० १०८।
श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यंभवति प्रजानाम् ॥—शि० १०५ (२५४)

तत्त्वार्थभाष्य या तत्त्वार्थमहाभाष्य भी कहा जाता है और आप्तमीमांसा उसका पहला प्रकरण है। परन्तु जनश्रुतिका पुष्ट और पुराना कोई आधार नहीं है। मालूम होता है कि इसके कारण पिछले ग्रंथोल्लेख ही है अभी गत ३१ अक्तूबर(सन् १९०४) में कलकत्ता में हुए वीरशासन-महोत्सवपर श्री संस्करण सेठी मिले। उन्होंने कहा कि गन्धहस्ति महाभाष्य एक जगह सुरक्षित है और वह मिल सकता है। उनकी इस बातको सुनकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई और प्रेरणा की कि उसकी उपलब्धि आदि-की पूरी कोशिश करके उसकी सूचना हमें दें। इस कार्य में होनेवाले व्ययके भारको उठाने के लिये वीरसेवा मन्दिर, सरसावा प्रस्तुत है। परन्तु उन्होंने आज तक कोई सूचना नहीं की। इस तरह जनश्रुतिका आधारभूत पुष्ट प्रमाण नहीं मिलनेसे महाभाष्यका अस्तित्व संदिग्ध कोटिमें आज भी स्थित है।

आ० अभिनव धर्मभूषणके सामने अभयचन्द्र सूरिके उपर्युक्त उल्लेख रहे हैं और उन्हींके आधारपर उन्होंने न्यायदीपिकामें स्वामिसमन्त-भद्रकृत महाभाष्यका उल्लेख किया जान पड़ता है। उन्हें यदि इस ग्रन्थकी प्राप्ति हुई होती तो वे उसके भी किसी वाक्यादिको जरूर उध्दृत करते और अपने विषयको उससे ज्यादा प्रमाणित करते। अतः यह निश्चयरूपसे कहा जा सकता है कि आचार्य धर्मभूषण यतिका उल्लेख महाभाष्यकी प्राप्ति-हालतका मालूम नही होता। केवल जनश्रुतिके आधार और उसके भी आधारभूत पूर्ववर्ती ग्रन्थोलेखोंपरसे किया गया जान पड़ता है।

४. जैनेन्द्रव्याकरण—यह आचार्य पूज्यपादका, जिनके दूसरे नाम देवनन्दि और जिनेन्द्रबुद्धि,[1] प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण व्याकरणग्रन्थ

---

१ "यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्।।"
श्रवण० शि० नं० ४० (६४)

है[२]। श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीके शब्दोंमें यह 'पहला जैन व्याकरण' है। इस ग्रंथकी जैनपरम्परामें बहुत प्रतिष्ठा रही है। भट्टाकलङ्कदेव आदि अनेक बड़े बड़े आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें इसके सूत्रोंका बहुत उपयोग किया है। महाकवि धनंजय (नाममालाके कर्ता) ने तो इसे 'अपश्चिम रत्न' (बेजोड़ रत्न) कहा है[३]। इस ग्रन्थपर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इस समय केवल निम्न चार टीकाएँ उपलब्ध हैं :—१अभयनन्दिकृत महावृत्ति, २ प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर, ३ आर्य श्रुतिकीर्तिकृत पंचवस्तु प्रक्रिया और ४ पं० महाचन्द्रकृत लघुजैनेन्द्र। इस ग्रंथ के कर्ता आ० पूज्यपादका समय ईसाकी पाँचवी और विक्रमकी छठी शताब्दी माना जाता है। जैनेन्द्रव्याकरणके अतिरिक्त इनकी रची हुई—१ तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), २ समाधितन्त्र, ३ इष्टोपदेश, ४ और दशभक्ति(संस्कृत) ये कृतियाँ उपलब्ध हैं। सारसंग्रह, शब्दावतारन्यास, जैनेन्द्रन्यास और वैद्यकका कोई ग्रंथ ये अनुपलब्ध रचनाएँ, है जिनके ग्रन्थों, शिलालेखों आदिमें उल्लेख मिलते हैं। अभिनव धर्मभूषणने न्यायदीपिका पृ० ११ पर इस ग्रंथके नामोल्लेखके बिना और पृ० १३ पर नामोल्लेख करके दो सूत्र उद्धृत किये हैं।

आप्तमीमांसाविवरण—ग्रंथकारने न्यायदीपिका पृ० ११५ पर इसका नामोल्लेख किया है और उसे श्रीमदाचार्यपादका बतलाकर उसमें कपिलादिकोंकी आप्ताभासताको विस्तारसे जाननेकी प्रेरणा की है। यह आप्तमीमांसाविवरण आप्तमीमांसापर लिखीगई अकलङ्कदेवकी 'अष्टशती' नामक विवृत्ति और आचार्य विद्यानन्दरचित आप्तमीमांसालंकृति—'अष्ट-

---

२ इस ग्रन्थ और ग्रन्थकारके विशेष परिचयके लिये 'जैन साहित्य और इतिहासके देवनन्दि और उनका जैनेन्द्रव्याकरण' निबन्ध और समाधितन्त्रकी प्रस्तावना देखें। ३ "प्रमाणामकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणं। धनञ्जयकवे काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्।"—**नाममाला**।

सहस्रीको छोड़कर कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है और न अकलङ्कदेव तथा विद्यानन्दके सिवाय कोई 'श्रीमदाचार्यपाद' नामके आचार्य ही हैं। वसुनन्दि ने भी यद्यपि 'आप्तमीमांसा' पर देवागमवृत्ति' टीका लिखी है परन्तु वह आप्तमीमांसाकी कारिकाओंका शब्दानुसारी अर्थस्फोट ही करती हैं— उसमें कपिलादिकोंकी आप्ताभासताका विस्तारसे वर्णन नहीं है। अतः न्यायदीपिकाकारको 'आप्तमीमांसाविवरण'से अष्टशती और अष्टसहस्री विवक्षित हैं। ये दोनों दार्शनिक टीकाकृतियाँ बहुत ही महत्वपूर्ण और गूढ हैं। अष्टशती तो इतनी दुरूह और जटिल है कि बिना अष्टसहस्रीके उसके मर्मको समझना बहुत मुश्किल है। जैनदर्शनसाहित्यमें ही नहीं, समग्र भारतीय दर्शनसाहित्यमें इनकी जोड़का प्रायः विरला ही कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ या टीकाग्रन्थ हो।

राजवार्त्तिक और भाष्य—गौतमके न्यायसूत्रपर प्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकरके 'न्यायवार्त्तिक' की तरह आ० उमास्वाति विरचित तत्वार्थसूत्रपर अकलङ्कदेवने गद्यात्मक 'तत्वार्थवार्त्तिक' नामक टीका लिखी है। जो राजवर्त्तिकके नामसे भी व्यवहृत होती है। और उसके वार्त्तिकोंपर उद्योतकरकी ही तरह स्वयं अकलङ्कदेवका रचागया भाष्य है जो 'तत्वार्थवार्त्तिकभाष्य या 'राजवार्त्तिकभाष्य' भी कहा जाता है। यह भाष्य राजवार्त्तिकके प्रत्येक वार्त्तिकका विशद व्याख्यान है। इसकीभाषा बड़ी सरल और प्रसन्न है जबकि प्रत्येक वार्त्तिक अत्यन्त गम्भीर और दुरूह है। एकही जगह अकलंकदेवकी इस चेतश्चमत्कारी प्रतिभाकी विविधताको पाकर सहृदय पाठक साश्चर्य आनन्दविभोर हो उठता है और श्रद्धासे उसका मस्तक नत होजाता है। अकलंकदेवने अपना यह राजवार्त्तिक आ० पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिको आधार बनाकर लिखा है जो तत्त्वार्थसूत्रकी समग्र टीकाओं में पहली टीका है उन्होंने उसके अर्थगौरवपूर्ण प्रायः प्रत्येक वाक्यको राजवार्त्तिकका वार्त्तिक बनाया है। फिरभी राजवार्त्तिकमें सर्वार्थसिद्धसे कुछभी पुनरुक्ति एवं निरर्थकता मालूम नहीं होती। राजवार्त्तिककी यह विशेपता है

वह प्रत्येक विषयकी अन्तिम व्यवस्था अनेकान्तका आश्रय लेकर करताहै। तत्त्वार्थसूत्रकी समस्त टीकाओंमें राजवार्त्तिक प्रधान टीका है। या श्रीमान् पं० सुखलालजीके शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि "राजवार्त्तिक गद्य, सरल और विस्तृत होनेसे तत्त्वार्थके संपूर्ण टीका ग्रन्थोंकी गरज अकेला ही पूरी करता है।" वस्तुतः जैनदर्शनका बहुविध एवं प्रामाणिक अभ्यास करनेके लिए केवल राजवार्त्तिकका अध्ययन पर्याप्त है। न्यायदीपिकाकारने न्या० दी० पृ०३१ और ३५ पर राजवार्त्तिकका तथा पृ० ६ और ३२ पर उनके भाष्यका जुदा जुदा नामोल्लेख करके कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं।

न्यायविनिश्चय—यह अकलङ्कदेवकी उपलब्ध दार्शनिक कृतियोंमें अन्यतम कृति है। इसमें तीन प्रस्ताव (परिच्छेद) है और तीनों प्रस्तावोंको मिलाकर कुल ४८० कारिकाएँ हैं। पहला प्रत्यक्ष प्रस्ताव है जिसमें दर्शनान्तरीय प्रत्यक्षलक्षणोंकी आलोचनाके साथ जैनसम्मत प्रत्यक्ष-लक्षणका निरूपण किया गया है और प्रासगिक कतिपय दूसरे विषयोंका भी विवेचन किया गया है। दूसरे अनुमान प्रस्तावमें अनुमान-का लक्षण साधन, साधनाभास, साध्य, साध्याभास आदि अनुमानके परिकरका विवेचन है और तीसरे प्रस्तावमें प्रवचनका स्वरूप आदिका विशिष्ट निश्चय किया गया है। इस तरह इस न्यायविनिश्चयमें जैन-न्यायकी रूपरेखा बांधकर उसकी प्रस्थापना की गई है। यह ग्रन्थ भी अकलङ्कदेवके दूसरे ग्रंथोंकीही तरह दुर्बोध और गम्भीर है। इसपर आ० स्याद्वादविद्यापति वादिराजसूरिकी न्यायविनिश्चयविवरण अथवा न्याय-विनिश्चयालंकार नामकी वैदुष्यपूर्ण विशाल टीका है। अकलङ्कदेवकी भी इसपर स्वोपज्ञ विवृत्ति होनेकी सम्भावना की जाती है, क्योंकि लघीयस्त्रय और प्रमाणसंग्रहपर भी उनकी स्वोपज्ञ विवृत्तियाँ हैं। तथा कतिपय वैसे उल्लेख भी मिलते हैं। न्यायविनिश्चय मूल अकलङ्कग्रन्थत्रयमें मुद्रित हो चुका है। वादिराज सूरिकृत टीका अभी अमुद्रित है। आ० धर्मभूषणने इस ग्रन्थके नामोल्लेखके साथ न्यायदीपिका पृ० २४ पर

इसकी अर्धकारिका और पृष्ठ ७० एक पूरी कारिका उद्धृत की है।

परीक्षामुख—यह आचार्य माणिक्यनन्दिकी असाधारण और अपूर्व कृति है। तथा जैनन्यायका प्रथम सूत्रग्रन्थ है। यद्यपि अकलङ्कदेव जैन-न्यायकी प्रस्थापना कर चुके थे और अनेक महत्वपूर्ण स्फुट प्रकरण भी लिख चुके थे। परंतु गौतमके न्यायसूत्र, दिग्नागके न्यायप्रवेश, न्यायमुख आदिकी तरह जैनन्यायको सूत्रबद्ध करनेवाला 'न्यायसूत्र' ग्रन्थ जैन-परम्परामें अब तक नहीं बन पाया था। इस कमीकी पूर्त्तिको सर्वप्रथम आ० माणिक्यनन्दिने प्रस्तुत 'परीक्षामुख' लिखकर किया। माणिक्यनन्दि-की यह अकेली एक ही अमर रचना है जो भारतीय न्यायसूत्रग्रन्थोंमें अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यह अपूर्व ग्रन्थ संस्कृत भाषामें निबद्ध है। छह परिच्छेदोंमें विभक्त है और इसकी सूत्रसंख्या सब मिलाकर २०७ है। सूत्र बड़े सरल, सरस तथा नपे तुले हैं। साथमें गम्भीर, तलस्पर्शी और अर्थगौरवको लिए हुए हैं। आदि और अन्तमें दो पद्य हैं। अक-लंकदेवके द्वारा प्रस्थापित जैनन्यायको इसमें बहुत ही सुन्दर ढंगसे ग्रथित किया गया है। लघु अनन्तवीर्यने तो इसे अकलंकके वचनरूप समुद्र-को[1] मथकर निकाला गया **'न्यायविद्यामृत**—न्यायविद्याका अमृत बतलाया है[2]। इस ग्रन्थरत्नका महत्व इसीसे ख्यापित हो जाता है कि इसपर अनेक महत्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गई हैं। आ० प्रभाचन्द्रने १२ हजार श्लोकप्रमाण 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' नामकी विशालकाय टीका

---

१ अकलङ्कके वचनोंसे 'परीक्षामुख' कैसे उद्धृत हुआ है, इसके लिए मेरा **'परीक्षामुखसूत्र और उसका उद्गम'** शीर्षक लेख देखें। **'अनेकान्त'** वर्ष ५ किरण ३-४ पृ० ११६-१२८।

२ "अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥" **प्रमेयर०** पृ० २।

लिखी है। इनके पीछे १२ वीं शताब्दीके विद्वान् लघु अनन्तवीर्यने प्रसन्न रचनाशैलीवाली **'प्रमेयरत्नमाला'** टीका लिखी है। यह टीका है तो छोटी, पर इतनी विशद है कि पाठकको बिना कठिनाईके सहजमें ही अर्थबोध हो जाता है। इसकी शब्दरचनासे हेमचन्द्राचार्य भी प्रभावित हुए हैं और उन्होंने अपनी प्रमाणमीमांसामें शब्दशः तथा अर्थशः उसका अनुसरण किया है। न्यायदीपिकाकारने परीक्षामुखके अनेक सूत्रोंको नामनिर्देश और बिना नामनिर्देशके उद्धृत किया है। वस्तुतः आ० धर्मभूषणने इस सूत्र-ग्रन्थका खूब ही उपयोग किया है। न्यायदीपिकाके आधारभूत ग्रन्थोंमें परीक्षामुखका नाम लिया जा सकता है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक और भाष्य—आ० उमास्वातिके तत्त्वार्थ-सूत्रपर कुमारिलके 'मीमांसाश्लोकवार्त्तिक' और धर्मकीर्तिके 'प्रमाण-वार्त्तिक' की तरह पद्यात्मक विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक रचा है और उसके पद्यवार्त्तिकोंपर उन्हींने स्वयं गद्यमें भाष्य लिखा है जो तत्त्वार्थश्लो-कवार्त्तिकभाष्य' और 'श्लोकवार्त्तिकभाष्य' इन नामोंसे कथित होता है। आचार्यप्रवर विद्यानन्दने इसमें अपनी दार्शनिक विद्याका पूरा ही खजाना खोलकर रख दिया है और प्रत्येकको उसका आनन्दरसास्वाद लेने-के लिये निःस्वार्थ आमंत्रण दे रखा है श्लोकवार्त्तिकके एक सिरेसे दूसरे सिरे तक चले जाइये, सर्वत्र तार्किकता और गहन विचारणा समव्याप्त है। कहीं मीमांसादर्शनके नियोग भावनादिपर उनके सूक्ष्म एवं विशाल पाण्डि-त्यकी प्रखर किरणें अपना तीक्ष्ण प्रकाश डाल रहीं हैं तो कहीं न्यायदर्शन-के निग्रहस्थानादिरूप प्रगाढ तमको निष्कासित कर रहीं हैं और कहीं बौद्ध दर्शनकी हिममय चट्टानोंको पिघला पिघला कर दूर कर रही हैं। इस तरह श्लोकवार्त्तिकमें हमें विद्यानन्दके अनेकमुख पाण्डित्य और सूक्ष्म-प्रज्ञताके दर्शन होते हैं। यही कारण है कि जैनतार्किकोंमें आचार्य विद्या-नन्दका उन्नत स्थान है। श्लोकवार्त्तिक के अलावा विद्यानन्दमहोदय, अष्ट-सहस्री, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा और

युक्त्यनुशासनालङ्कार आदि दार्शनिक रचनाएँ उनकी बनाई हुई है। इनमें विद्यानन्दमहोदय, जो श्लोकवार्त्तिककी रचनासे भी पहलेकी[1] विशिष्ट रचना है और जिसके उल्लेख तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ० २७२, ३८५) तथा अष्टसहस्त्री (पृ०२८९, २९०) में पाये जाते हैं, अनुपलब्ध है। शेषकी रचनाएँ उपलब्ध हैं और सत्यशासनपरीक्षाको छोड़कर मुद्रित भी हो चुकी हैं। आ० विद्यानन्द अकलङ्कदेवके उत्तरकालीन और प्रभाचन्द्राचार्यके पूर्ववर्ती है। अतः इनका अस्तित्व-समय नवमी शताब्दी माना जाता है[2]। अभिनव धर्मभूषणने न्यायदीपिकामें इनके श्लोकवार्त्तिक और भाष्यका कई जगह नामोल्लेख करके उनके वाक्योंको उद्धृत किया है।

प्रमाणपरीक्षा—विद्यानन्दकी ही यह अन्यतम कृति है। यह अकलङ्कदेवके प्रमाणसंग्रहादि प्रमाणविषयक प्रकरणोंका आश्रय लेकर रची गई है। यद्यपि इसमें परिच्छेद-भेद नहीं है तथापि प्रमाणमात्रको अपना प्रतिपाद्य विषय बनाकर उसका अच्छा निरूपण किया गया है। प्रमाणका सम्यग्ज्ञानत्व लक्षण करके उसके भेद, प्रभेदों, प्रमाणका विषय तथा फल और हेतुओंकी इसमें सुन्दर एवं विस्तृत चर्चा की गई है। हेतु-भेदोंके निदर्शक कुछ संग्रहश्लोकोंको तो उद्धृत भी किया है। जो पूर्ववर्ती किन्हीं जैनाचार्योंके ही प्रतीत होते हैं। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक[3] और अष्टसहस्त्री[4] की तरह यहाँ[5] भी प्रत्यभिज्ञानके दो ही भेद गिनाये हैं। जबकि अक-

---

१ पूर्ववर्तित्वके लिए '**तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण**' शीर्षक मेरा द्वितीय लेख देखें, **अनेकान्त** वर्ष ५ किरण १०-११ पृ ३८०। देखो, न्यायकुमुद द्वि० भा० की प्रस्तावना पृ० ३० और स्वामी समन्तभद्र पृ० ४८। ३ 'तद्विधैकत्वसादृश्यगोचरत्वेन निश्चतम्'—त० श्लो० पृ० १९०। ४ 'तदेवेदं तत्सदृशमेवेदमित्येकत्वसादृश्यविषयस्थ द्विविधप्रत्यभिज्ञानस्य ...'—**अष्टस०** पृ० २७९। ५ 'द्विविधं हि प्रत्यभिज्ञानं ...' **प्रमाणप०** पृ० ६९।

लङ्क[1] और माणिक्यनन्दिने[2] दोसे ज्यादा कहे हैं और यही मान्यता जैन-परम्परामें प्रायः सर्वत्र प्रतिष्ठित हुई है इससे मालूम होता है कि प्रत्यभिज्ञानके दो भेदोंकी मान्यता विद्यानन्दकी अपनी है। आ० धर्मभूषणने पृ० १७ पर इस ग्रन्थकी नामोल्लेखके साथ एक कारिका उद्धृत की है।

पत्रपरीक्षा—यह भी आचार्य विद्यानन्दकी रचना है। इसमें दर्शनान्तरीय पत्रलक्षणोंकी समालोचनापूर्वक जैनदृष्टिसे पत्रका बहुत सुन्दर लक्षण किया है तथा प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवोंको ही अनुमानाङ्ग बतलाया है। न्यायदीपिका पृ० ८१ पर इसग्रन्थका नामोल्लेख हुआ है और उसमें अवयवोंके विचारकको विस्तारसे जाननेकी सूचना की है।

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड—यह आ० माणिक्यनन्दिके 'परीक्षामुख' सूत्र-ग्रन्थपर रचा गया प्रभाचन्द्राचार्यका बृहत्काय टीकाग्रंथ है। इसे पिछले लघु अनन्तवीर्य (प्रमेयरत्नमालाकार) ने 'उदारचन्द्रिका' की उपमा दी और अपनी कृति—प्रमेयरत्नमालाको उसके सामने जुगनूके सदृश बतलाया है इससे प्रमेयकमलमार्त्तण्डका महत्व स्थापित हो जाता है। निःसन्देह मार्त्तण्डके प्रदीप्त प्रकाशमें दर्शनान्तरीय प्रमेय स्फुटतया भासमान होते हैं। स्वतत्त्व, परतत्त्व और यथार्थता, अयथार्थताका निर्णय करनेमें कठिनाई नहीं मालूम होती। इस ग्रन्थके रचयिता आ० प्रभाचन्द्र ईसाकी १० वीं और ११वीं शताब्दी (९८०से१०६५ ई०) के विद्वान् माने जाते हैं[3]। इन्होंने प्रमेयकमलमार्त्तण्डके अलावा न्यायकुमुदचन्द्र, तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, शाकटायनन्यास, शब्दाम्भोजभास्कर, प्रवचनसारसरोजभास्कर, गद्यकथाकोश, रत्नकरण्डश्रावकाचारटीका और समाधितंत्रटीका आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। इनमें गद्यकथाकोश स्वतन्त्र कृति है और शेष

---

१ देखो, लघीय०का० २१। २ देखो, परीक्षामु० ३-५ से ३-१०। ३ देखो, न्यायकुमुद द्वि० भा० प्र० पृ० ५८ तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड प्रस्ता० पृ० ६७।

टीका कृतियाँ हैं। धर्मभूषणने न्यायदीपिका पृ० ३० पर तो इस ग्रंथका केवल नामोल्लेख और ५४ पर नामोल्लेखके साथ एक वाक्यको भी उद्धृत किया है।

प्रमाण-निर्णय—न्यायविनिश्चयविवरणटीकाके कर्त्ता आ० वादिराजसूरिका यह स्वतन्त्र तार्किक प्रकरण ग्रंथ है। इसमें प्रमाणलक्षण-निर्णय, प्रत्यक्षनिर्णय, परोक्षनिर्णय और आगमनिर्णय ये चार निर्णय (परिच्छेद) हैं, जिनके नामोंसे ही ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट मालूम हो जाता है। न्या० दी० पृ० ११ पर इस ग्रन्थके नामोल्लेखके साथ एक वाक्यको उद्धृत किया है।

कारूण्यकलिका—यह सन्दिग्ध ग्रन्थ है। न्यायदीपिकाकारने पृ० १११ पर इस ग्रन्थका निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

'प्रपञ्चितमेतदुपाधिनिराकरणं **कारुण्यकलिकायामिति** विरम्यते'

परन्तु बहुत प्रयत्न करनेपर भी हम यह निर्णय नहीं कर सके कि यह ग्रन्थ जैनरचना है या जैनेतर। अथवा स्वयं ग्रन्थकारकी ही न्यायदीपिकाके अलावा यह अन्य दूसरी रचना है। क्योंकि अब तकके मुद्रित जैन और जैनेतर ग्रन्थोंकी प्राप्त सूचियोंमें भी यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। अतः ऐसा मालूम होता है कि यह या तो नष्ट हो चुका है या किसी लायब्रेरीमें असुरक्षित रूपमें पड़ा है। यदि नष्ट नहीं हुआ और किसी लायब्रेरीमें है तो इसकी खोज होकर प्रकाशमें आना चाहिए। यह बहुत ही महत्वपूर्ण और अच्छा ग्रन्थ मालूम होता है। न्यायदीपिकाकारके उल्लेखसे विदित होता है कि उसमें विस्तारसे उपाधिका निराकरण किया गया है। सम्भव है गदाधरके 'उपाधिवाद' ग्रन्थका भी इसमें खण्डन हो।

स्वामीसमन्तभद्र—ये वीरशासनके प्रभावक, सम्प्रसारक और खास युगके प्रवर्त्तक महान् आचार्य हुये हैं सुप्रसिद्ध तार्किक भट्टाकलङ्कदेवने इन्हें कलिकालमें स्याद्वादरूपी पुण्योदधिके तीर्थका प्रभावक बतलाया

है[1]। आचार्य जिनसेनने इनके वचनोंको भ० वीरके वचनतुल्य प्रकट किया है[2] और एक शिलालेखमें[3] तो भ० वीरके तीर्थकी हजारगुणी वृद्धि करनेवाला भी कहा है। आ० हरिभद्र और विद्यानन्द जैसे बड़े बड़े आचार्योंने उन्हें **'वादिमुख्य' 'आद्यस्तुतिकार' 'स्याद्वादन्यायमार्गका प्रकाशक'** आदि विशेषणों द्वारा स्मृत किया है इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरवर्ती आचार्योंने जितना गुणगान स्वामी समन्तभद्रका किया है उतना दूसरे आचार्यका नहीं किया। वास्तवमें स्वामी समन्तभद्रने वीरशासनकी जो महान् सेवा की है वह जैनवाङ्मयके इतिहासमें सदा स्मरणीय एवं अमर रहेगी। आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र), युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र रत्नकरण्डश्रावकाचार और जिनशतक (जिनस्तुतिशतक) ये पांच उपलब्ध कृतियाँ इनकी प्रसिद्ध हैं। तत्त्वानुशासन, जीवसिद्धि, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका और गन्धहस्तिमहाभाष्य इन ५ ग्रन्थोंके भी इनके द्वारा रचे जानेके उल्लेख ग्रन्थान्तरोंमें मिलते हैं[4]। परन्तु अभी तक कोई उपलब्ध नहीं हुआ। गन्धहस्तिमहाभाष्य (महाभाष्य) के सम्बन्धमें मैं पहिले विचार कर आया हूँ। स्वामीसमन्तभद्र बौद्ध विद्वान् नागार्जुन (१८१ई०) के समकालीन या कुछ ही समय बादके और दिग्नाग (३४५-४२५ई०) के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं[5]। अर्थात् इनका अस्तित्व-समय प्रायः ईसाकी दूसरी और तीसरी शताब्दी है कुछ विद्वान् इन्हें दिग्नाग (४२५ई० और धर्मकीर्ति (६३५ई०) के उत्तरकालीन अनुमानित करते हैं[6]।

---

१ देखो, **अष्टशती** पृ० २। २ देखो, **हरिवंशपुराण** १-३०। ३ देखो, **वेलूर तालुकेका शिलालेख** नं० १७। ४ इन ग्रन्थोंके परिचयके लिये मुख्तार सा० का **'स्वामीसमन्तभद्र'** ग्रन्थ देखें। ५ देखो, **'नागार्जुन और स्वामीसमन्तभद्र'** तथा **'स्वामीसमन्तभद्र और दिग्नागमें पूर्ववर्ती कौन'** शीर्षक दो मेरे निबन्ध **'अनेकान्त'** वर्ष ७ किरण १-२ और वर्ष ५ कि० १२। ६ देखो, **न्यायकुमुद** द्वि० भा० का प्राक्कथन और प्रस्तावना।

अर्थात् ५वीं और सातवीं शताब्दी बतलाते हैं। इस सम्बन्धमें जो उनकी दलीलें हैं उनका युक्तिपूर्ण विचार अन्यत्र[1] किया है। अतः इस संक्षिप्त स्थानपर पुनः विचार करना शक्य नहीं है। न्यायदीपिकाकारने न्याय-दीपिकामें अनेक जगह स्वामी समन्तभद्रका नामोल्लेख किया है और उनके प्रसिद्ध दो स्तोत्रों—देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा) और स्वयम्भूतोत्र-से अनेक कारिकाओं को उद्धृत किया है।

भट्टाकलङ्कदेव—ये 'जैनन्यायके प्रस्थापक' के रूपमें स्मृत किये जाते हैं जैनपम्पराके सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर तार्किक इनके द्वारा प्रतिष्ठित 'न्यायमार्ग' पर ही चले हैं। आगे जाकर तो इनका वह 'न्यायमार्ग' 'अकलङ्कन्याय' के नामसे प्रसिद्ध हो गया। तत्त्वार्थवार्तिक, अष्टशती, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय और प्रमाणसंग्रह आदि इनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। ये प्रायः सभी दार्शनिक कृतियाँ हैं और तत्त्वार्थ-वार्त्तिकभाष्यको छोड़कर सभी गूढ एवं दुरवगाह हैं। अनन्तवीर्यादि टीका-कारोंने इनके पदोंकी व्याख्या करनेमें अपनेको असमर्थ बतलाया है। वस्तुतः अकलङ्कदेवका वाङ्मय अपनी स्वाभाविक जटिलताके कारण विद्वानोंके लिए आज भी दुर्गम और दुर्बोध बना हुआ है। जबकि उन-पर टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। जैन साहित्यमें ही नहीं, बल्कि भारतीय दर्शनसाहित्यमें अकलङ्कदेवकी सर्व कृतियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इनकी कतिपय कृतियोंका कुछ परिचय पहले करा आये हैं। श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने इनका अस्तित्वकाल अन्तःपरीक्षा आदि प्रमाणोंके आधारपर ईसाकी आठवीं शताब्दी (७२०से७८० ई०) निर्धारित किया है[2]। न्यायदीपिकामें धर्मभूषणजीने कई जगह इनके नाम-

---

१ देखो, '**क्या स्वामीसमन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन है ?**' नामक मेरा लेख, **जैनसिद्धान्तभास्कर** भा० ११ किरण १। २ देखो, **अकलङ्कग्रन्थत्रयकी प्रस्तावना** पृ० ३२।

का उल्लेख किया है और तत्त्वार्थवार्तिक तथा न्यायविनिश्चयसे कुछ वाक्योंको उद्धृत किया है।

कुमारनन्दि भट्टारक—यद्यपि इनकी कोई रचना इस समय उपलब्ध नहीं है, इससे इनका विशेष परिचय कराना अशक्य है फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि ये आ० विद्यानन्दके पूर्ववर्ती विद्वान् हैं और अच्छे जैनतार्किक हुए हैं। विद्यानन्दस्वामीने अपने प्रमाण-परीक्षा, पत्रपरीक्षा और तत्वार्थश्लोकवार्त्तिकमें इनका और इनके 'वादन्याय'का नामोल्लेख किया है तथा उसकी कुछ कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। इससे इनकी उत्तरावधि तो विद्यानन्दका समय है अर्थात् ९वीं शताब्दी है। और अकलङ्कदेवके उत्तरकालीन मालूम होते हैं; क्योंकि अकलङ्कदेवके समकालीनका अस्तित्व परिचायक इनका अब तक कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। अतः अकलङ्कदेवका समय (८वीं शताब्दी) इनकी पूर्वावधि है। इस तरह ये ८वीं, ९वीं सदीके मध्यवर्ती विद्वान् जान पड़ते हैं। चन्द्रगिरि पर्वतपर उत्कीर्ण शिलालेख नं० २२७ (१३६) में इनका उल्लेख है जो ९ वीं शताब्दीका अनुमानित किया जाता है[1]। इनका महत्वका 'वादन्याय' नामका तर्कग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं जिसके केवल उल्लेख मिलते हैं। आ० धर्मभूषणने न्यायदी० पृ० ६९ और ८२ पर '**तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः** कहकर इनके वादन्यायकी एक कारिकाके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्धको अलग अलग उद्धृत किया है।

माणिक्यनन्दि—ये कुमारनन्दि भट्टारककी तरह नन्दिसंघके प्रमुख आचार्योंमें हैं। इनकी एकमात्र कृति परीक्षमुख है। जिसके सम्बन्धमें हम पहले प्रकाश डाल आए हैं। इनका समय १०वीं शताब्दीके लगभग माना जाता है। ग्रन्थकारने न्यायदीपिकामें कई जगह इनका नामोल्लेख किया है। एक स्थान (पृ० १२०) पर तो 'भगवान' और

---

१ देखो, जैनशिलालेखसं० पृ० १५२, ३२१।

'भट्टारक' जैसे महनीय विशेषणों सहित इनके नामका उल्लेख करके परीक्षामुखके सूत्रको उद्धृत किया है।

स्याद्वादविद्यापति—यह आचार्य वादिराजसूरिकी विशिष्ट उपाधि थी जो उनके स्याद्वादविद्याके अधिपतित्व—अगाध पाण्डित्यको प्रकट करती है। आ० वादिराज अपनी इस उपाधिसे इतने अभिन्न एवं तदात्म जान पड़ते हैं कि उनकी इस उपाधिसे ही पाठक वादिराजसूरिको जान लेते हैं। यही कारण है कि न्यायविनिश्चयविवरणके सन्धिवाक्योंमें 'स्याद्वादविद्यापति' उपाधिके द्वारा ही वे अभिहित हुए हैं[1]। न्याय-दीपिकाकारने भी न्यायदीपिका पृ० २४ और ७० पर इसी उपाधिसे उनका उल्लेख किया है और पृ० २४ पर तो इसी नामके साथ एक वाक्य-को भी उद्धृत किया है। मालूम होता है कि 'न्यायविनिश्चय' जैसे दुरूह तर्कग्रंथपर अपना बृहत्काय विवरण लिखनेके उपलक्षमें ही इन्हें गुरूजनों अथवा विद्वानों द्वारा उक्त गौरवपूर्ण स्याद्वादविद्याके धनीरूप उच्च पदवी-से सम्मानित किया होगा। वादिराजसूरि केवल अपने समयके महान् तार्किक ही नहीं थे, बल्कि वे सच्चे अर्हद्भक्त एवं आज्ञाप्रधानी, वैयाकरण और अद्वितीय उच्च कवि भी थे[2]। न्यायविनिश्चयविवरण, पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित, प्रमाणनिर्णय और एकीभावस्तोत्र आदि इनकी कृतियाँ है। इन्होंने अपना पार्श्वनाथचरित शकसम्वत् ९४७ (१०२५ ई०)में समाप्त किया है। अतः ये ईसाकी ११वीं सदीके पूर्वार्द्धके विद्वान हैं।

---

१ इसका एक नमूना इस प्रकार है—इत्याचार्य**स्याद्वादविद्यापति**-विरचित **न्यायविनिश्चय**कारिकाविवरणे प्रत्यक्षप्रस्तावः प्रथम ।'—**लि० पत्र ३०६।**

२ 'वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः।।'

—एकीभावस्तोत्र २६।

२. अभिनव धर्मभूषण

प्रासंगिक—

जैनसमाजने अपने प्रतिष्ठित महान् पुरुषों—तीर्थकरों, राजाओं, आचार्यों, श्रेष्ठिवरों, विद्वानों तथा तीर्थक्षेत्रों, मन्दिरों और ग्रंथागारों आदिके इतिवृत्तको संकलन करनेकी प्रवृत्तिकी ओर बहुत कुछ उपेक्षा एवं उदासीनता रखी है। इसीसे आज सब कुछ होते हुए भी इस विषयमें हम दुनियाँ की नजरोंमें अकिञ्चन समझे जाते हैं। यद्यपि यह प्रकट हैं कि जैन इतिहासकी सामग्री विपुलरूपमें भारतके कोने-कोनेमें सर्वत्र विद्यमान है पर वह बिखरी हुई असम्बद्धरूपमें पड़ी हुई है। यही कारण है कि जैन इतिहासको जाननेके लिए या उसे सम्बद्ध करनेके लिए अपरिमित कठिनाइयाँ आती हैं और अन्धेरे में टटोलना पड़ता है। प्रसन्नताकी बात है कि कुछ दूरदर्शी श्रीमान् विद्वान् वर्गका अब इस ओर ध्यान गया। और उन्होंने इतिहास तथा साहित्यके संकलन, अन्वेषण आदिका क्रियात्मक प्रयत्न आरम्भ कर दिया है।

आज हम अपने जिन ग्रन्थकार श्री अभिनव धर्मभूषण का परिचय देना चाहते हैं उनको जाननेके लिये जो कुछ साधन प्राप्त हैं वे यद्यपि पूरे पर्याप्त नहीं हैं। उनके माता-पितादिका क्या नाम था? जन्म और स्वर्गवास कब, कहाँ हुआ? आदिका उनसे कोई पता नहीं चलता है। फिर भी सौभाग्य और सन्तोषकी बात यही है कि उपलब्ध साधनोंसे उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व, गुरुपरम्परा, और समयका कुछ प्रामाणिक परिचय मिल जाता है। अतः हम उन्हीं शिलालेख, ग्रन्थोल्लेख आदि साधनोंपरसे ग्रन्थकारके सम्बन्धमें कुछ कहनेके लिये प्रस्तुत हुए हैं।

ग्रन्थकार और उनके अभिनव तथा यति विशेषण—

इस ग्रन्थके कर्त्ता अभिनव **धर्मभूषण** यति हैं। न्यायदीपिकाके पहले और दूसरे प्रकाशके पुष्पिकावाक्योंमें **'यति'** विशेषण तथा तीसरे

प्रकाशके पुष्पिकावाक्यमें '**अभिनव**' विशेषण इनके नामके साथ पाये जाते हैं। जिससे मालूम होता हैं कि न्यायदीपिकाके रचयिता धर्मभूषण अभिनव और यति दोनों कहलाते थे। जान पड़ता है कि अपने पूर्ववर्ती धर्मभूषणोंसे अपनेको व्यावृत्त करनेके लिये 'अभिनव' विशेषण लगाया है। क्योंकि प्रायः ऐसा देखा जाता है कि एक नामके अनेक व्यक्तियोंमें अपने को जुदा करने के लिये कोई उपनाम रख लिया जाता है। अतः 'अभिनव' न्यायदीपिकाकारका एक व्यावर्त्तक विशेषण या उपनाम समझना चाहिए। जैनसाहित्यमें ऐसे और भी कई आचार्य हुए हैं जो अपने नामके साथ अभिनव विशेषण लगाते हुए पाये जाते हैं। जैसे अभिनव पण्डिताचार्य[1] (शक० १२३३) अभिनव श्रुतमुनि[2] अभिनव गुणभद्र[3] और अभिनव पण्डितदेव[4] आदि। अतः पूर्ववर्ती अपने नामवालोंसे व्यावृत्तिके लिये 'अभिनव' विशेषण यह एक परिपाटी है। 'यति' विशेषण तो स्पष्ट ही है क्योंकि वह मुनिके लिये प्रयुक्त किया जाता है। अभिनव धर्मभूषण अपने गुरु श्रीवर्द्धमान भट्टारकके पट्टके उत्तराधिकारी हुए थे और वे कुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नायमें हुए हैं। इसलिये इस विशेषणके द्वारा यह भी निर्भ्रान्त ज्ञात हो जाता है कि ग्रन्थकार दिगम्बर जैन मुनि थे और भट्टारक नामसे लोकविश्रुत थे[5]।

---

१ देखो, शिलालेख० नं० ४२१। २ देखो, जैनशिलालेखसं० पृ० २०१, शिलाले० १०५ (२४५)। ३ देखो, 'सी. पी. एण्ड बरार कैटलाग' रा० ब० हीरालालद्वारा सम्पादित। ४ देखो, जैनशिलालेख सं० पृ० ६४५ शिलालेख नं० ३६२ (२५७)।

५ " शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्मभूषणदेशिकः।
भट्टारकमुनिः श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जितः॥ "

—विजयनगरशिला० नं० २।

धर्मभूषण नाम के दूसरे विद्वान्—

ऊपर कहा गया है कि ग्रन्थकारने दूसरे पूर्ववर्ती धर्मभूषणोंसे भिन्नत्व ख्यापित करनेके लिए अपने नामके साथ 'अभिनव' विशेषण लगाया है। अतः यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन-परम्परामें धर्मभूषण नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं। एक **धर्मभूषण** वे हैं जो भट्टारक धर्मचन्द्र के पट्टपर बैठे थे और जिनका उल्लेख बरार-प्रान्तके मूर्तिलेखोंमें बहुलतया पाया जाता है[1]। ये मूर्तिलेख शकसम्वत् १५२२, १५३५, १५७२ और १५७७ के उत्कीर्ण हुए हैं। परन्तु ये धर्मभूषण न्यायदीपिकाकारके उत्तरकालीन हैं। दूसरे **धर्मभूषण** वे हैं जिनके आदेशानुसार केशववर्णीने अपनी गोम्मटसारकी जीवतत्त्वप्रदी-पिका नामक टीका शकसम्वत् १२८१ (१३५९ ई०) में बनाई है[2]। तीसरे **धर्मभूषण** वे हैं जो अमरकीर्त्तिके गुरु थे तथा विजयनगरके शिला-लेख नं० २ में उल्लिखित तीन धर्मभूषणोंमें पहले नम्बरपर जिनका उल्लेख है और जो ही सम्भवतः विन्ध्यगिरि पर्वतके शिलालेख नं० १११ (२७४)में भी अमरकीर्त्तिके गुरुरूपसे उल्लिखित हैं। यहाँ उन्हें 'कलि-कालसर्वज्ञ' भी कहा गया है। चौथे **धर्मभूषण** वे हैं जो अमरकीर्तिके शिष्य और विजयनगर शिलालेख नं० २ गत पहले धर्मभूषणके प्रशिष्य हैं एवं सिंहनन्दीव्रतीके सधर्मा हैं तथा विजयनगरके शिलालेख नं० २ के ११वें पद्यमें दूसरे नं० के धर्मभूषणके रूपमें उल्लिखित हैं।

---

१ 'सहस्रनामाराधना' के कर्त्ता देवेन्द्रकीर्त्तिने भी 'सहस्रनामाराधना' में इन दोनों विद्वानोंका अपने गुरु और प्रगुरुरूपसे उल्लेख किया है। देखो, जैनसिद्धान्तभवन आरासे प्रकाशित **प्रशस्ति सं० पृ० ९४**।

२ देखो, डा० ए० एन० उपाध्येका **'गोम्मटसारकी जीवतत्त्व-प्रदीपिका टीका'** शीर्षक लेख **'अनेकान्त'** वर्ष ४ किरण १ पृ० ११८।

ग्रन्थकार धर्मभूषण और उनकी परम्परा—

प्रस्तुत ग्रन्थके कर्त्ता **धर्मभूषण** उपर्युक्त धर्मभूषणों से भिन्न हैं और जिनका उल्लेख उसी विजयनगरके शिलालेख नं० २ में तीसरे नम्बरके धर्मभूषणके स्थान पर है तथा जिन्हें स्पष्टतया श्रीवर्द्धमान भट्टारक शिष्य बतलाया है। न्यायदीपिकाकारने स्वयं न्यायदीपिकाके अन्तिम पद्य[1] और अन्तिम (तीसरे प्रकाशगत) पुष्पिकावाक्यमें[2] अपने गुरुका नाम श्रीवर्द्धमान भट्टारक प्रकट किया है। मेरा अनुमान है कि मङ्गलाचरण पद्यमें भी उन्होंने **'श्रीवर्द्धमान'** पदके प्रयोग द्वारा वर्द्धमान तीर्थंकर और अपने गुरु वर्द्धमान भट्टारक दोनोंको स्मरण किया है। क्योंकि अपने परापरगुरुका स्मरण करना सर्वथा उचित ही है। श्रीधर्मभूषण अपने गुरुके अत्यन्त अनन्य भक्त थे। वे न्यायदीपिका के उसी अन्तिम पद्य[1] और पुष्पिकावाक्यमें[2] कहते हैं कि उन्हें अपने उक्त गुरुकी कृपासे ही सरस्वतीका प्रकर्ष (सारस्वतोदय) प्राप्त हुआ था और उनके चरणोंकी स्नेहमयी भक्ति-सेवासे न्यायदीपिका की पूर्णता हुई है। अतः मङ्गलाचरणपद्यमें अपने गुरु वर्द्धमान भट्टारकका भी उनके द्वारा स्मरण किया जाना सर्वथा-सम्भव एवं सङ्गत है।

विजयनगरके उस शिलालेखमें जो शकसम्वत् १३०७ (१३८५ ई०) में उत्कीर्ण हुआ है, ग्रन्थकार की जो गुरु परम्परा दी गई है उसके सूचक शिलालेखगत प्रकृतके उपयोगी कुछ पद्योंको यहां दिया जाता है:—

"यत्पादपङ्कजरजो रजो हरति मानसं।
स जिनः श्रेयसे भूयाद् भूयसे करुणालयः ॥१॥
श्रीमत्परमगाम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥२॥

१-२ देखो, पृ० १३२।

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणेतिसंज्ञः ।
तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह **पद्मनन्दी** ॥३॥
आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः ।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥४॥
केचित्तदन्वये चारुमुनयः खनयो गिराम् ।
जलधाविव रत्नानि बभूवुर्दिव्यतेजसः ॥५॥
तत्रासीच्चारुचारित्ररत्नरत्नाकरो गुरुः ।
धर्मभूषणयोगीन्द्रो भट्टारकपदांचितः ॥६॥
भाति भट्टारको धर्मभूषणो गुणभूषणः ।
यद्यशः कुसुमामोदे गगनं भ्रमरायते ॥७॥
शिष्यस्तस्य गुरोरासीदनर्गलतपोनिधिः ।
श्रीमान**मरकीर्त्यार्यो** देशिकाग्रेसरः शमी ॥८॥
निजपक्षपुटकवाटं घटयित्वाऽनिलनिरोधितो हृदये ।
अविचलितबोधदीपं तमममरकीर्त्ति भजे तमोहरणम् ॥९॥
केऽपि स्वोदरपूरणे परिणता विद्याविहीनान्तराः ।
योगीशा भुवि सम्भवन्तु बहवः किं तैरनन्तैरिह ॥
धीरः स्फूर्जति दुर्जयातनुमदध्वंसी गुणैरूर्जित-
राचार्योऽमरकीर्ति शिष्यगणभृच्छ्री**सिंहनन्दी**व्रती ॥१०॥
श्री**धर्मभूषो**ऽजनि तस्य पट्टे श्री**सिंहनन्द्यार्य**गुरोस्सधर्मा ।
भट्टारकः श्रीजिनधर्महर्म्यस्तम्भायमानः कुमुदेन्दुकीर्त्तिः ॥११॥
पट्टे तस्य मुनेरासी**द्वर्द्धमान**मुनीश्वरः ।
श्रीसिंहनन्दियोगिन्द्रचरणाम्भोजषट्पदः ॥१२॥
शिष्यस्तस्य गुरोरासी**द्धर्मभूषण**देशिकः ।
भट्टारकमुनिः श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जितः[1] ॥१३॥"

इन पद्योंमें अभिनव धर्मभूषणकी इस प्रकार गुरुपरम्परा बतलाई गई है—

---

१ इसके आगेके लेखमें १५ पद्य और हैं जिनमें राजवंशका ही वर्णन है।

मूलसङ्घ, नन्दिसङ्घ—बलात्कारगणके सारस्वतगच्छमें

पद्मनन्दी (कुन्दकुन्दाचार्य)
|
धर्मभूषण भट्टारकI
|
अमरकीर्ति-आचार्य (जिनके शिष्योंके शिक्षक-दीक्षक सिंहनन्दी व्रती थे)
|
श्रीधर्मभूषण भट्टारक II (सिंहनन्दीव्रतीके सधर्मा)
|
वर्द्धमानमुनीश्वरः (सिंहनन्दीव्रतीके चरणसेवक)
|
धर्मभूषण यति III (ग्रन्थकार)

यह शिलालेख शकसम्वत् १३०७ में उत्कीर्ण हुआ है। इसी प्रकार का एक शिलालेख[1] नं० १११ (२७४) का है जो बिन्ध्यगिरि पर्वतके अखण्ड बागिलुके पूर्वकी ओर स्थित चट्टान पर खुदा हुआ है और जो शक सं० १२९५ में उत्कीर्ण हुआ है। उसमें इस प्रकार परम्परा दी गई है :—

---

१ "श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादामोघ-लाञ्छनं।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिन-शासनं ॥१॥

श्रीमूल-सङ्घपयः पयोधिवर्द्धनसुधाकराः श्रीबलात्कारगणकमल-कलिका-कलाप-विकचन दिवाकराः···वनवा···**तर्कीर्त्तिदेवः**तत्शिष्याः राय-भुज-**सुदाम**······आचार्य्य महा वादिवादीश्वर राय-वादि-पितामह सकल-विद्वज्जन-चक्रवर्त्ति **देवेन्द्रविशाल-कीर्त्ति**-देवाः तत्शिष्याः भट्टारक-श्री**शुभकीर्त्ति**देवास्तत्शिष्याः कलिकाल-सर्व्वज्ञ-भट्टारक-**धर्म्मभूषणदेवाः** तत्शिष्याः श्री**अमरकीर्त्या**चार्य्याः तत्शिष्याः मालिर्वा···ति-नृपाणां प्रथमानल············रसित····नुत-पा·············यमुल्लासक·········**देमक**···चार्य्यपट्टविपुलायाचला······करण-मार्त्तण्डमण्डलानां भट्टारक-

मूलसंघ—बलात्कारगण

कीर्ति (वनवासिके)

|

देवेन्द्र विशालकीर्त्ति

|

शुभकीर्त्तिदेव भट्टारक

|

धर्मभूषणदेव I

|

अमरकीर्त्ति आचार्य

|

धर्मभूषणदेव[1] II

|

वर्द्धमानस्वामी

इस दोनों लेखोंको मिलाकर ध्यानसे पढ़नेसे विदित होता है कि प्रथम धर्मभूषण, अमरकीर्ति आचार्य धर्मभूषण द्वितीय और वर्द्धमान ये चार विद्वान् सम्भवतः दोनोंके एक ही हैं। यदि मेरी यह सम्भावना ठीक है तो यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है वह यह कि विन्ध्यगिरिके लेख (शक १२९५)में वर्द्धमानका तो उल्लेख है पर उनके शिष्य(पट्टके उत्तराधिकारी) तृतीय धर्मभूषणका उल्लेख नहीं है। जिससे जान पड़ता है कि उस समय तक तृतीय धर्मभूषण वर्द्धमानके पट्टाधिकारी नहीं बन सके होंगे और इसलिये उक्त शिलालेखमें उनका उल्लेख नहीं आया।

धर्मभूषण-देवानां······तत्त्वार्थ-वार्द्धिवर्द्धमान-हिमांशुना·········**वर्द्धमान-**स्वामिना कारितोऽहं [यं] आचार्यणां ··· स्वस्ति**शक-वर्ष** १२९५ **परि-धावि संवत्सर वैशाख-शुद्ध ३ बुधवारे।**"–उद्धृत जैनशि०पृ०२२३ से।

१ प्रो० हीरालालजीने इनकी निषद्या बनवाई जानेका समय शक सम्वत् १२९५ दिया है। देखो, शिलालेखसं० पृ० १३६।

किन्तु इस शिलालेखके कोई १२ वर्ष बाद शक सं० १३०७ (१३८५ ई०) में उत्कीर्ण हुए विजयनगरके उल्लिखित शिलालेख नं० २ में उनका (तृतीय धर्मभूषणका) स्पष्टतया नामोल्लेख है। अतः यह सहजमें अनुमान हो सकता है कि वे अपने गुरु वर्द्धमानके पट्टाधिकारी शक सम्वत् १२९५से१३०७ में किसी समय बन चुके थे। इस तरह अभिनव धर्मभूषणके साक्षात् गुरु श्रीवर्द्धमानमुनीश्वर और प्रगुरु द्वितीय धर्म-भूषण थे। अमरकीर्ति दादागुरु और प्रथमधर्मभूषण परदादा गुरु थे। और इसीसे मेरेख्यालमें उन्होंने अपने इन पूर्ववर्ती पूज्य प्रगुरु (द्वितीय धर्मभूषण) तथा परदादागुरु (प्रथमधर्मभूषण) से पश्चाद्वर्ती एवं नया बतलानेके लिये अपनेको अभिनव विशेषणसे विशेषित किया जान पड़ता है जो कुछ हो, यह आवश्य है कि वे अपने गुरुके प्रभावशाली और मुख्य शिष्य थे।

समय-विचार—

यद्यपि अभिनव धर्मभूषणकी निश्चित तिथि बताना कठिन है तथापि जो आधार प्राप्त हैं उनपरसे उनके समयका लगभग निश्चय होजाता है। अतः यहाँ उनके समयका विचार किया जाता है।

विन्ध्यगिरिका जो शिलालेख प्राप्त है वह शक सम्वत १२९५ का उत्कीर्ण किया हुआ है। मैं पहले बतला आया हूँ कि इसमें प्रथम और द्वितीय इन दो ही धर्मभूषणोंका उल्लेख है और द्वितीय धर्मभूषणके शिष्य वर्द्धमानका अन्तिमरूपसे उल्लेख है। तृतीय धर्मभूषणका उल्लेख उसमें नहीं पाया जाता। प्रो० हीरालालजी एम. ए. के उल्लेखानुसार द्वितीय धर्मभूषणकी निषद्या (निःसही) शकसं० १२९५में बनवाई गई हैं। अतः द्वितीय धर्मभूषणका अस्तित्वसमय शकसं०१२९५तक ही समझना चाहिए। मेरा अनुमान है कि केशववर्णीको अपनी गोम्मटसार की जीव-तत्त्वप्रदीपिका टीका बनानेकी प्रेरणा एवं आदेश जिन धर्मभूषणसे मिला वे धर्मभूषण भी यही द्वितीय धर्मभूषण होना चाहिये। क्योंकि इनके

पट्टका समय यदि २५ वर्ष भी हो तो इनका पट्टपर बैठने का समय शक सं० १२७० के लगभग पहुँच जाता है उस समय या उसके उपरान्त केशववर्णी को उपर्युक्त टीकाके लिखने में उनसे आदेश एवं प्रेरणा मिलना असम्भव नहीं है । चूंकि केशववर्णीने अपनी उक्त टीका शकसं० १२८१ में पूर्ण की है । अतः उस जैसी विशाल टीकाके लिखनेके लिए ११ वर्ष जितना समय का लगना भी आवश्यक एवं संङ्गत है । प्रथम व तृतीय धर्मभूषण केशववर्णीके टीकाप्रेरक प्रतीत नहीं होते । क्योंकि तृतीय धर्मभूषण जीवतत्त्वप्रदीपिकाके समाप्ति काल (शक० १२८१) से करीब १९ वर्ष बाद गुरुपट्ट के अधिकारी हुए जान पड़ते हैं और उस समय वे प्रायः २० वर्ष के होंगे अतः जी० त० प्र० के रचनारम्भसमय-में तो उनका अस्तित्व ही नहीं होगा तब वे केशववर्णीके टीका-प्रेरक कैसे हो सकते ? और प्रथम धर्मभूषण भी उनके टीकाप्रेरक सम्भव प्रतीत नहीं होते । कारण, उनके पट्टपर अमरकीर्ति और अमरकीर्तिके पट्टपर द्वितीय धर्मभूषण (शक १२७०–१२९५) बैठे हैं । अतः अमर-कीर्तिका पट्टसमय अनुमानतः शकसं० १२४५–१२७० और प्रथम धर्मभूषणका शकसं० १२२०–१२४५ होता है । ऐसी हालतमें यह सम्भव नहीं है कि प्रथम धर्मभूषण शकसं. १२२०–१२४५ में केशववर्णीको जीवतत्त्वप्रदीपिकाके लिखने का आदेश दें और वे ६१ या ३६ वर्षों जैसे इतने बड़े लम्बे समय में उसे पूर्ण करें । अतएव यही प्रतीत होता है कि द्वितीय धर्मभूषण (शक० १२७०–१२९५)ही केशववर्णी (शक० १२८१) के उक्त टीकाके लिखनेमें प्रेरक रहे हैं । अस्तु ।

पीछे मैं यह निर्देश कर आया हूँ कि तृतीय धर्मभूषण (ग्रन्थकार) शकसं० १२९५ में और शकसं० १३०७के मध्यमें किसी समय अपने वर्द्ध-मानगुरुके पट्टपर आसीन हुए हैं । अतः यदि वे पट्टपर बैठने के समय (करीब शक १३०० में) २० वर्ष के हों, जैसा कि सम्भव है तो उनका जन्मसमय शकसं० १२८०(१३५८ ई०)के करीब होना चाहिए। विजय-

नगर साम्राज्यके स्वामी प्रथम देवराय और उनकी पत्नी भीमादेवी जिन वर्द्धमानगुरुके शिष्य धर्मभूषणके परम भक्त थे और जिन्हें अपना गुरु मानते थे तथा जिनसे प्रभावित होकर जैनधर्मकी अतिशय प्रभावनामें प्रवृत्त रहते थे वे यही तृतीय धर्मभूषण न्यायदीपिकाकार हैं। पद्मावती-बस्तीके एक लेखसे ज्ञात होता है कि "राजाधिराजपरमेश्वर देवराय प्रथम वर्द्धमानमुनिके शिष्य धर्मभूषण गुरुके, जो बड़े विद्वान् थे, चरणों में नमस्कार किया करते थे।" इसी बातका समर्थन शकसं० १४४० में अपने 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' को समाप्त करनेवाले कवि वर्द्धमानमुनीन्द्रके इसी ग्रन्थगत निम्न श्लोकसे भी होता है:—

"राजाधिराजपरमेश्वर**देवराय**भूपालमौलिलसदंघ्रिसरोजयुग्मः।
श्री**वर्द्धमान**मुनिवल्लभमौढ्यमुख्यः श्री**धर्मभूषण**सुखी जयति क्षमाढ्यः[1] ॥"

यह प्रसिद्ध है कि विजयनगरनरेश प्रथम देवराय ही 'राजाधिराजपरमेश्वर की उपाधि से भूषित थे[2]। इनका राज्य समय सम्भवतः १४१८ ई० तक रहा है क्योंकि द्वितीय देवराय ई० १४१९ से १४४६ तक माने जाते हैं[3]। अतः इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि वर्द्धमानके शिष्य धर्मभूषण तृतीय (ग्रन्थकार) ही देवराय प्रथमके द्वारा सम्मानित थे[4]। प्रथम अथवा द्वितीय धर्मभूषण नहीं; क्योंकि वे वर्द्धमानके शिष्य

१ प्रशस्तिसं० पृ० १२५ से उद्धृत। २-३ देखो, डा० **भास्कर आनन्द सालेतोरका** 'Mediaeval Jainism' P. 300-301। मालूम नहीं डा० सा० ने द्वितीय देवराय (१४१९–१४४६ ई०) की तरह प्रथम देवराय-के समय का निर्देश क्यों नहीं किया? ४ डा० सालेतोर दो ही धर्म-भूषण मानते हैं और उनमें प्रथम का समय १३७८ ई० और दूसरे का ई० १४०३ बतलाते हैं तथा वे इस झमेले में पड़ गए हैं कि कौन से धर्मभूषण का सम्मान देवराय प्रथमके द्वारा हुआ था? (देखो, **मिडियावल जैनिज्म** पृ० ३००)। मालूम होता है कि उन्हें विजयनगर का

नहीं थे। प्रथम धर्मभूषणतो शुभकीर्तिके और द्वितीय धर्मभूषण अमरकीर्त्तिके शिष्य थे। अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अभिनव धर्मभूषण देवरायप्रथमके समकालीन हैं। अर्थात् ग्रन्थकारका अन्तिमकाल ई० १४१८ होना चाहिये। यदि यह मान लिया जाय तो उनका जीवनकाल ई० १३५८से१४१८ ई० तक समझना चाहिये। अभिनव धर्मभूषण जैसे प्रभावशाली विद्वान् जैन साधुके लिये ६० वर्ष की उम्र पाना कोई ज्यादा नहीं है। हमारी सम्भावना यह भी है कि वे देवराय द्वितीय[1] (१४१९-१४४६ ई०) और उनके श्रेष्ठि संकप्पके द्वारा भी प्रणुत रहे हैं[2]। हो सकता है कि ये अन्य धर्मभूषण हों, जो हो, इतना अवश्य है कि वे देवराय प्रथमके समकालिक निश्चितरूपसे हैं।

ग्रंथकारने न्यायदीपिका (पृ० २१) में **'बालिशाः'** शब्दोंके साथ सायणके सर्वदर्शनसंग्रहसे एक पंक्ति उद्धृत की है। सायणका समय शकसं० की १३वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है[3]। क्योंकि शकसं० १३१२का उनका एक दानपत्र मिला है जिससे वे इसी समयके विद्वान् ठहरते हैं। न्यायदीपिकाकारका **'बालिशाः'** पदका प्रयोग उन्हें सायणके समकालीन होनेकी ओर संकेत करता है। साथ ही दोनों विद्वान् नजदीक ही नहीं, एक ही जगह—विजयनगरके रहनेवाले, भी थे इसलिए यह पूरा सम्भव है कि धर्मभूषण और सायण समसामयिक होंगे। या १०-५ वर्षआगे पीछेके होंगे। अतः न्यायदीपिकाके इस उल्लेखसे भी पूर्वोक्त निर्धारित शकशं० १२८०से१३४० या १३५८से१४१८ समय ही सिद्ध पूर्वोक्त

शिलालेख नं० २ आदि प्राप्त नहीं हो सका। अन्यथा वे इस निष्कर्षपर न पहुँचते।

[1] **प्रशस्तिसं०**पृ० १४५में इनका समय ई० १४२९-१४५१ दिया है।

[2] इसके लिये जैनसिद्धान्तभवन आरासे प्रकाशित **प्रशस्ति सं०** में परिचय कराये गये वर्द्धमान मुनीन्द्र 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' देखना चाहिये।

[3] देखो, **सर्वदर्शनसंग्रहकी प्रस्तावना** पृ० ३२।

होता है। अर्थात् ये ईसाकी १४ वीं सदीके उत्तरार्ध और १५वीं सदीके प्रथम पादके विद्वान् हैं।

डा० के० बी० पाठक और मुख्तार सा० इन्हें शकसं० १३०७ (ई० १३८५)का विद्वान् बतलाते हैं[1] जो विजयनगरके पूर्वोक्त शिलालेख नं० २ के अनुसार सामान्यता ठीक है। परन्तु उपर्युक्त विशेष विचारसे ई० १४१८ तक इनकी उत्तरावधि निश्चित होती है। डा० सतीशचन्द्र विद्या भूषण 'हिस्टरी आफ दि मिडियावल स्कूल ऑफ इंडियन लॉजिक' में इन्हें १६०० A. D. का विद्वान् सूचित करते हैं। पर वह ठीक नहीं है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचनसे प्रकट है। मुख्तारसा० ने भी उनके इस समयको गलत ठहराया है[2]।

आचार्य धर्मभूषणके प्रभाव एवं व्यक्तित्वसूचक जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे मालूम होता है कि वे अपने समय के सबसे बड़े प्रभावक और व्यक्तित्वशाली जैनगुरु थे। प्रथम देवराय, जिन्हें राजाधिराजपरमेश्वरकी उपाधि थी, धर्मभूषणके चरणोंमें मस्तक झुकाया करते थे[3]। पद्मावतीवस्ती के शासनलेखमें उन्हें बड़ा विद्वान् एवं वक्ता प्रकट किया गया है। साथ में मुनियों और राजाओंसे पूजित बतलाया है[4]। इन्होंने विजयनगरके राजघरानेमें जैनधर्मकी अतिशय प्रभावनाकी है। मैं तो समझता हूँ कि इस राजघराने में जैनधर्मकी महती प्रतिष्ठा हुई उसका विशेष श्रेय इन्हीं अभिनव धर्मभूषणजीको है जिनकी विद्वत्ता और प्रभावके सब कायल थे। इससे स्पष्ट है कि ग्रंथकार असाधारण प्रभावशाली व्यक्ति थे।

जैनधर्मकी प्रभावना करना उनके जीवनका व्रत था ही, किन्तु ग्रंथ-रचनाकार्य भी उन्होंने अपनी अनोखी शक्ति और विद्वत्ताका बहुत ही सुन्दर उपयोग किया है। आज हमें उनकी एक ही अमर रचना प्राप्त है और वह अकेली यही प्रस्तुत न्यायदीपिका है। जो जैनन्यायके वाङ्मयमें अपना विशिष्ट स्थान रखे हुए है और ग्रन्थकारकी धवलकीर्तिको अक्षुण्ण

१-२ स्वामी समन्तभद्र पृ. १२६। ३-४देखो 'मिडियावल जैनिज्म'पृ.२९९।

बनाये हुए है। उनकी विद्वत्ताका प्रतिबिम्ब उसमें स्पष्टतया आलोकित हो रहा है। इसके सिवाय उन्होंने और भी कोई रचना की या नहीं इसका कुछ भी पता नहीं चलता है। पर मैं एक सम्भावना पहिले कर आया हूँ कि इस ग्रन्थका इस प्रकारसे उल्लेख किया है कि जिससे लगता है कि ग्रन्थकार अपनी ही दूसरी रचनाको देखनेका इङ्गित कर रहे हैं। यदि सचमुचमें यह ग्रन्थ ग्रन्थकारकी रचना है तो मालूम होता है कि वह न्याय-दीपिकासे भी अधिक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ होगा। अन्वेषकोंको इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका अवश्य ही पता चलना चाहिए।

ग्रन्थकारके प्रभाव और कार्यक्षेत्रसे यह भी प्रायः मालूम होता है कि उन्होंने कर्णाटकदेशकेउपर्युक्त विजयनगरको ही अपनी जन्म-भूमि बनायी होगी और वहीं उनका शरीर त्याग एवं समाधि हुई होगी। क्योंकि वे गुरु परम्परासे चले आये विजयनगरके भट्टारकी पट्टपर आसीन हुए थे। यदि यह ठीक है तो कहना होगा कि उनके जन्म और समाधिका स्थान भी विजयनगर है।

उपसंहार

इस प्रकार ग्रन्थकार अभिनव धर्मभूषण और उनकी प्रस्तुत अमर कृतिके सम्बन्धमें ऐतिहासिक दृष्टिसे दो शब्द लिखनेका प्रथम साहस किया। इतिहास एक ऐसा विषय है जिसमें चिन्तनकी आवश्यकता हमेशा बनी रहती है और इसीलिये सच्चा ऐतिहासिक अपने कथन एवं विचारको अन्तिम नहीं मानता। इसलिये सम्भव है कि धर्मभूषणजीके ऐतिहासिक जीवनपरिचयमें अभी परिपूर्णता न आ पाई हो। फिर भी उपलब्ध साधनोंपरसे जो निष्कर्ष निकाले जा सके हैं उन्हें विद्वानोंके समक्ष विशेष विचारके लिये प्रस्तुत किया है। इत्यलम्।

चैत्र कृष्ण १० वि० २००२ }
ता० ७–४–४५, देहली }

दरबारीलाल जैन, कोठिया

सानुवादन्यायदीपिकाकी

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ

श्रीसमन्तभद्राय नमः

श्रीमदभिनव-धर्मभूषण-यति-विरचिता

—:०:—

न्याय-दीपिका

[प्रकाशाख्यटिप्पणोपेता]

१. प्रमाणसामान्यप्रकाशः

—:❀:—

[1]श्रीवर्द्धमानमर्हन्तं नत्वा बाल-प्रबुद्धये ।
विरच्यते मित-स्पष्ट-सन्दर्भ-न्यायदीपिका ॥१॥

❀ प्रकाशाख्य-टिप्पणम् ❀

महावीरं जिनं नत्वा बालानां सुख-बुद्धये ।
'दीपिकाया' विशेषार्थः 'प्रकाशेन' प्रकाश्यते ॥१॥

१ प्रकरणारम्भे, स्वकृतेर्निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थम्, शिष्टाचारपरिपालनार्थम्, शिष्यशिक्षार्थम्, नास्तिकतापरिहारार्थम्, कृतज्ञताप्रकाशनार्थं वा प्रकरणकारः श्रीमदभिनवधर्मभूषणनामा यतिः स्वेष्टदेवतानमस्कारात्मकं मङ्गलं विदधाति—**श्रीवर्द्धमानेति** ।

श्रीवर्द्धमानमर्हन्तं चतुर्विंशतितमं तीर्थंकरं महावीरम्। अथवा, श्रिया —अनन्तचतुष्टयस्वरूपान्तरङ्गलक्षणया समवसरणादिबहिरङ्गस्वभावया च लक्ष्म्या—, वर्द्धमानः—वृद्धेः परमप्रकर्षं प्राप्तः, अर्हन् परमार्हत्समूहस्तम्। **नत्वा** नमस्कृत्य, कायवाङ्मनसां त्रिशुद्धया प्रणम्येत्यर्थः। **बालानां** मन्दबुद्धीनाम्। बालास्त्रिविधाः प्रोक्ताः—मतिकृताः, कालकृताः, शरीरपरिमाणकृताश्चेति। तत्रेह मतिकृता बाला गृह्यन्ते नान्ये, तेषां व्यभिचारात्। कश्चिदष्टवर्षीयोऽपि निखिलज्ञानसंयमोपपन्नः सर्वज्ञः, कुब्जको वा सकलशास्त्रज्ञो भवति। न च तौ व्युत्पाद्यौ। अथ मतिकृता अपि बालाः किंलक्षणा इति चेत्; उच्यते; अव्युत्पन्न-संदिग्ध-विपर्यस्तास्तत्त्वज्ञानरहिता बालाः। अथवा, ये यत्रानभिज्ञास्ते तत्र बालाः। अथवा, ग्रहणधारणपटवो बालाः, न स्तनन्धयाः। अथवा, अधीतव्याकरण-काव्य-कोशा अनधीतन्यायशास्त्रा बालाः। तेषां **प्रबुद्धये** प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन बोधार्थम्। **मितो** मानयुक्तः परिमितो वा। **स्पष्टो** व्यक्तः। **सन्दर्भो** रचना यस्यां सा चासौ **'न्यायदीपिका'**—प्रमाण-नयात्मको न्यायस्तस्य दीपिका प्रकाशिका। समासतो न्यायस्वरूपव्युत्पादनपरो ग्रन्थो **'न्यायदीपिका'** इति भावः। **विरच्यते** मया **धर्मभूषण**यतिना इति क्रियाकारकसम्बन्धः।

ननु मङ्गलं न करणीयं निष्फलत्वात्। न हि तस्य किञ्चित्फलमुपलभ्यते। न च निर्विघ्नपरिसमाप्तिस्तत्फलमुपलभ्यत एवेति वाच्यम् समाप्तेर्मङ्गलफलत्वानुपपत्तेः। तथा हि—मङ्गलं समाप्तिं प्रति न कारणम्, अन्वय-व्यतिरेकव्यभिचाराभ्याम्। सर्वत्र ह्यन्वयव्यतिरेकविषया कार्यकारणभावः समधिगम्यते। कारणसत्त्वे कार्यसत्त्वमन्वयः, कारणाभावे कार्याभावो व्यतिरेकः। न चेमौ प्रकृते सम्भवतः, मङ्गलसत्त्वेऽपि **मोक्षमार्गप्रकाशादौ** समाप्त्यदर्शनात्। मङ्गलाभावेऽपि च **परीक्षामुखादौ** समाप्तिदर्शनात्। अतोऽन्वयव्यभिचारो व्यतिरेकव्यभिचारश्च। कारणसत्त्वे कार्यासत्त्वमन्वयव्यभिचारः। कारणाभावे कार्यसत्त्वं च व्यतिरेकव्यभिचार इति न **चेतसि विधेयम्; मङ्गलस्य सफलत्वसिद्धेः निष्फलत्वानुपपत्तेः। तद्यथा—**

मङ्गलं सफलम् शिष्टाचारविषयत्वात् इत्यनुमानेन मङ्गलस्य साफल्य-सिद्धेः, तच्च फलं ग्रन्थारम्भे कर्तुर्हृदि 'प्रारब्धमिदं कार्यं निर्विघ्नतया परि-समाप्यताम्' इति कामनाया अवश्यम्भावित्वात्—निर्विघ्नसमाप्तिः कल्प्यते। यच्चोक्तम्–अन्वय-व्यतिरेकव्यभिचाराभ्यामिति, तदयुक्तम्; **मोक्षमार्ग-प्रकाशादौ** विघ्नबाहुल्येन मङ्गलस्य च न्यूनत्वेन समाप्त्यदर्शनात्। प्रचुर-स्यैव हि मङ्गलस्य प्रचुरविघ्ननिराकरणकारणत्वम्। किञ्च, यावत्साधन-सामग्र्यभावान्न तत्र समाप्तिदर्शनम्। 'सामग्री जनिका हि कार्यस्य नैकं कारणम्' इति। तथा चोक्तं श्री**वादिराजाचार्यैः**—समग्रस्यैव हेतुत्वात्। असमग्रस्य व्यभिचारेऽपि दोषाभावात्। अन्यथा न पावकस्यापि धूमहेतु-त्वमार्द्रेन्धनादिविकलस्य व्यभिचारात्। तस्मात्—

आर्द्रेन्धनादिसहकारिसमग्रतायां
यद्वत्करोति नियमादिह धूममग्निः।
तद्वद्विशुद्ध्यतिशयादिसमग्रतायां
निर्विघ्नतादि विदधाति जिनस्तवोऽपि ॥'

—न्यायविनिश्चयवि० लि० प० २

अतो **मोक्षमार्गप्रकाशादौ** कारणान्तराभावान्न परिसमाप्तिः। ततो नान्वयव्यभिचारः। नापि **परीक्षामुखादौ** व्यतिरेकव्यभिचारः, तत्र वाचि-कस्य निबद्धरूपस्य मङ्गलस्याकरणेऽप्यनिबद्धस्य वाचिकस्य मानसिकस्य कायिकस्य वा तस्य सम्भवात्। मङ्गलं हि मनोवचःकायभेदात् त्रिधा भिद्यते। वाचिकमपि निबद्धाऽनिबद्धरूपेण द्विविधम्। यत्तैरेवोक्तम्—'नाप्यसति तस्मिन् तद्भवस्तस्य निबद्धस्याभावेऽप्यनिबद्धस्य तस्य परमगुरु-गुणानुस्मरणात्मनो मङ्गलस्यावश्यम्भावात् तदस्तित्वस्य च तत्कार्यादेवानु-मानात्। धूमादेः प्रदेशादिव्यवहितपावकाद्यनुमानवत्। मङ्गलसामग्रीवैक-ल्यस्य च क्वचित्तत्कार्यस्य वैकल्यादेवानुमानाद्धूमाभावात् तदुत्पादनसमर्थ-दहनाभावानुमानवत्।'—न्यायविनश्चयवि. लि. प. २। विद्यानन्दस्वामि-भिरप्युक्तम्—'तस्य (मङ्गलस्य) शास्त्रे निबद्धस्यानिबद्धस्य वा वाचिकस्य

[प्रमाण-नय-विवेचनस्य पीठिका]

§ १ "प्रमाणनयैरधिगमः" इति महा**शास्त्रतत्त्वार्थसूत्रम्**[१] [१-६]। [२]तत्खलु परमपुरुषार्थ[३]निःश्रेयससाधनसम्यग्दर्शनादि[४]-विषयभूतजीवादि[५]तत्त्वाधिगमोपायनिरूपणपरम्। प्रमाणनयाभ्यां हि1 विवेचिता[६] जीवादयः सम्यगधिगम्यन्ते[७]। तद्व्यतिरेकेण[८] जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासम्भवात्[९]। तत[१०] एव जीवाद्यधिगमोपायभूतौ प्रमाणनयावपि विवेक्तव्यौ[११]। तद्विवेचनपराः[१२] प्राक्तनग्रन्थाः[१३] सन्त्येव, तथापि ते2 केचिद्विस्तृताः[१४], केचिद्

मानसस्य वा विस्तरतः संक्षेपतो वा शास्त्रकारैरवश्यंकरणात्। तदकरणे तेषां तत्कृतोपकारविस्मरणादसाधुत्वप्रसङ्गात्। साधूनां कृतस्योपकारस्याविस्मरणप्रसिद्धेः। 'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति' इति वचनात्।' —आप्तपरी० पृ० ३। परमेष्ठिगुणस्तोत्ररूपस्य मङ्गलस्य पुण्यावाप्तिरधर्मप्रध्वंसः फलमिति तु तत्त्वम्। अतो ग्रन्थादौ मङ्गलमवश्यमाचरणीयमिति।

१ मोक्षशास्त्रापरनामधेयम्। २ सूत्रम्। ३ चत्वारः पुरुषार्थाः—धर्मार्थकाममोक्षाः, तेषु परमः पुरुषार्थो मोक्षः, स एव निश्रेयसमित्युच्यते। सकलप्राणिभिर्मुख्यसाध्यत्वेनाभीष्टत्वान्मोक्षस्य परमपुरुषार्थत्वमिति भावः। ४ आदिपदात्सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रं च गृह्येते। ५ अत्रादिपदेनाऽजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षतत्त्वानि गृहीतव्यानि। ६ पृथक्कृताः विश्लेषिता इत्यर्थः। ७ ज्ञायन्ते। ८ प्रमाणनयाभ्यां विना। ९ प्रमाणनयातिरिक्त-तृतीयादिप्रकारस्याभावात्। १० प्रकारान्तरासम्भवादेव। ११ व्याख्यातव्यौ। १२ प्रमाण-नयव्याख्यानतत्पराः। १३ **अकलङ्कादिप्रणीता न्यायविनिश्चयादयः।** १४ **प्रमेयकमलमार्तण्ड-न्यायकुमुद-**

---

1 **द आ** प्रत्योः 'हि' पाठो नास्ति। 2 **प म मु** प्रतिषु 'ते' पाठो नास्ति।

गम्भीरा[१] इति न तत्र बालानामधिकारः[३]। ततस्तेषां सुखोपायेन[४] प्रमाण-नयात्मकन्याय[५]स्वरूपप्रतिबोधक**शास्त्रा**धिकारसम्पत्तये [६]**प्रकरण**मिदमारभ्यते।

[त्रिविधायाः प्रकरणप्रवृत्तेः कथनम्]

§ २ इह[७] हि प्रमाण-नयविवेचनमुद्देश-लक्षणनिर्देश-परीक्षाद्वारेण[८] क्रियते। अनुद्दिष्टस्य[९] लक्षणनिर्देशानुपपत्तेः। अनिर्दिष्टलक्षणस्य परीक्षितुमशक्यत्वात्। अपरीक्षितस्य विवेचनायोगात्। लोकशास्त्रयोरपि तथैव[१०] वस्तुविवेचनप्रसिद्धेः।

§ ३ तत्र[११] विवेक्तव्यनाममात्रकथन[१२]मुद्देशः। व्यतिकीर्ण-

चन्द्र-न्यायविनिश्चयविवरणादयः।

१ **न्यायविनिश्चय-प्रमाणसंग्रहश्लोकवार्त्तिकादयः।** २ प्रोक्तलक्षणानाम्। ३ प्रवेशः। ४ अक्लेशेन। ५ निपूर्वादिणगतावित्यस्माद्धातोः करणे घञ्प्रत्यये सति न्यायशब्दसिद्धिः, नितरामियते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः, अर्थपरिच्छेदकोपायो न्याय इत्यर्थः। स च प्रमाण-नयात्मक एव 'प्रमाणनयैरधिगमः' इत्यभिहितत्वादिति, लक्षण-प्रमाण-नय-निक्षेपचतुष्टयात्मको न्याय इति च। लक्षण-प्रमाणाभ्यामर्थसिद्धिरित्यतो लक्षणप्रमाणे न्याय इत्यन्ये। प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय इत्येके। पञ्चावयववाक्यप्रयोगो न्याय इत्यपि केचित्। ६ **न्यायदीपिकाख्यम्।** ७ अत्र प्रकरणे। ८ अत्रेदं बोध्यम्—उद्देशस्य प्रयोजनं विवेचनीयस्य वस्तुनः परिज्ञानम्। लक्षणस्य व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा प्रयोजनम्। परीक्षायाश्च लक्षणे दोषपरिहारः प्रयोजनम्। अत एव शास्त्रकारा उद्देशलक्षणनिर्देश–परीक्षाभिः शास्त्रप्रवृत्तिं कुर्वाणा दृष्टाः। ९ अकृतोद्देशस्य पदार्थस्य। १० उद्देशादिद्वारेण। ११ उद्देशादिषु मध्ये। १२ विवेचन-

वस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्[१]। तदाहुर्वार्त्तिककारपादाः[२] "परस्परव्यतिकरे[३] सति [४]येनाऽन्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्" [तत्त्वार्थवा० २-८] इति।

§ ४ द्विविधं1 लक्षणम्2, आत्मभूतमनात्मभूतं चेति। तत्र[५] यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतम्[६], यथाऽग्नेरौष्ण्यम्। औष्ण्यं ह्यग्नेः स्वरूपं 3सदग्निमबादिभ्यो[७] व्यावर्त्तयति। [८]तद्विपरीतमनात्मभूतम्4, यथा दण्डः पुरुषस्य। दण्डिनमानयेत्युक्ते हि दण्डः पुरुषाननुप्रविष्ट एव पुरुषं [१०]व्यावर्त्तयति। 5यद्भाष्यम् "तत्रात्म-

---

योग्यस्य नाममात्रनिरूपणम्, यथा घटविवेचनप्रारब्धे घट एव विवेक्तव्यो भवति।

१ परस्परमिलितानां वस्तूनां व्यावृत्तिजनकं यत् तल्लक्षणमिति भावः। अत्र लक्षणं लक्ष्यं, शेषं तस्य लक्षणम्। २ तत्त्वार्थवार्त्तिककाराः **श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवाः**। "पादाः भट्टारको देवः प्रयोज्याः पूज्यनामतः।" आ० प० १। ३ समानधर्माधारतया परस्परविषयगमनं व्यतिकर इति, एवं यत्रान्योन्यव्यतिकरे सति, इति भावः। ४ परस्परमिलितपदार्थव्यावृत्तिकारकेण। ५ तयोर्मध्ये। ६ कथंचिदविष्वक्भावाख्यतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नधर्मस्यात्मभूतलक्षणत्वम्। ७ जलादिभ्यः। ८ यद्वस्तुस्वरूपाननुप्रविष्टं तदनात्मभूतम्। भवति हि दण्डः पुरुषस्य लक्षणम्, स च नाऽऽत्मभूतः, पुरुषादन्यत्राऽप्युपलभ्यमानत्वात्। अत एवात्मभूतलक्षणादनात्मभूतलक्षणस्य भेदः। ९ कथञ्चिद्विष्वक्भावाख्यसंयोगादिसम्बन्धावच्छिन्नस्यानात्मभूतलक्षणत्वम्। १० अदण्डिनः सकाशात् पृथक्करोति।

---

1 'तद्विविधम्' इति आ प्रतिपाठः। 2 'लक्षण' इति पाठः आ प्रतौ नास्ति। 4 'चेति' द प्रतौ पाठः। 3, 5 'तद्' म प मु प्रतिषु पाठः।

भूतमग्नेरौष्ण्यमनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्डः" [राजवा० भा० २-८] इति ।

§ ५ 'असाधारणधर्मवचनं। लक्षणम्' इति केचित्[1]; तदनुपन्नम्[2]; लक्ष्यधर्मिवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन सामानाधिकरण्याभावप्रसङ्गात्[3], दण्डादेरतद्धर्मस्यापि[4] लक्षणत्वाच्च। किञ्चाव्याप्ताभिधानस्य लक्षणाभासस्यापि[5] तथात्वात्[6]। तथा हि—त्रयो लक्षणाभासभेदाः, अव्याप्तमतिव्याप्तमसम्भवि चेति। तत्र लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तम्, यथा गोः शावलेयत्वम्। [7]लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तम्, यथा तस्यैव पशुत्वम्। बाधितलक्ष्यवृत्त्यसम्भवि, यथा नरस्य विषाणित्वम्। अत्र हि लक्ष्यैकदेशवर्त्तिनः पुनरव्याप्तस्या-

१ नैयायिकाः, हेमचन्द्राचार्या वा। २ तदयुक्तम्, सदोषत्वात्। अत्र हि लक्षणस्य लक्षणे त्रयो दोषाः सम्भवन्ति—अव्याप्तिरतिव्याप्तिरसम्भवश्चेति। तत्र लक्ष्यधर्मिवचनादिनाऽसम्भवो दोष उक्तः। दण्डादेरित्यादिनाऽव्याप्तिः प्रदर्शिता। किञ्चेत्यादिना चातिव्याप्तिः कथिता। एतच्च परिशिष्टे स्पष्टम्। अत्रासाधारणत्वं तदितरावृत्तित्वं ग्राह्यम्, लक्ष्येतरावृत्तित्वमित्यर्थः। ३ सामानाधिकरण्यं द्विधा—आर्थं **शाब्दञ्च**। तत्रैकाधिकरणवृत्तित्वमार्थम्, यथा रूपरसयोः। शाब्दं त्वेकार्थप्रतिपादकत्वे सति समानविभक्तिकत्वं भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तित्वरूपं वा, यथा नीलं कमलमित्यत्र। प्रकृते शाब्दं सामानाधिकरण्यं ग्राह्यं वचनशब्दप्रयोगात्। वचनेन हि वचनस्य शाब्द-सामानाधिकरण्यम्। तच्चासाधारणधर्मवचनस्य लक्षणत्वेऽसम्भवि। शेषं परिशिष्टे दृष्टव्यम्। ४ पुरुषानसाधारणधर्मस्यापि—दण्डादिर्न पुरुषस्यासाधारणधर्मस्तथापि लक्षणं भवतीति भावः। ५ सदोषलक्षणं लक्षणाभासम्। ६ असाधारणधर्मत्वात्। ७ यस्य लक्षणं क्रियते तल्लक्ष्यं तद्भिन्नमलक्ष्यं ज्ञेयम्।

1 'असाधारणधर्मो लक्षणम्' इति म प प्रत्योः पाठः।

साधारणधर्मत्वमस्ति, न तु लक्ष्यभूत[1]गोमात्र1 व्यावर्त्तकत्वम्। तस्माद्यथोक्तमेव[2] लक्षणम्, तस्य कथनं लक्षणनिर्देशः।

§ ६ विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा[3]। सा खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं चेदेवं न स्यादित्येवं2 प्रवर्त्तते।

§ ७ प्रमाणनययोरप्युद्देशः सूत्र[4] एव कृतः। लक्षणमिदानीं निर्देष्टव्यम्। परीक्षा च [5]यथौचित्यं3 भविष्यति। 'उद्देशानुसारेण[6] लक्षणकथनम्' इति न्यायात्प्रधानत्वेन[7] प्रथमोद्दिष्टस्य प्रमाणस्य तावल्लक्षणमनुशिष्यते[8]।

---

१ गोत्वावच्छिन्नसकलगौः २ व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुरित्येव। ३ 'लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते नवेति विचारः परीक्षा'—(तर्कसं पदकृ० पृ० ५)। ४ 'प्रमाणनयैरधिगमः' इति तत्त्वार्थसूत्रस्य पूर्वोल्लिखिते सूत्रे। ५ यथावसरम्। ६ उद्देशक्रमेण, यथोद्देशस्तथा निर्देश इति भावः। ७ अथ प्रमाणनययोर्मध्ये प्रमाणापेक्षया नयस्याल्पाच्तरत्वात्प्रथमतस्तस्यैवोद्देशः कर्त्तव्योऽत आह **प्रधानत्वेनेति**। ननु तथापि कथं प्रमाणस्य प्रधानत्वं? येन प्रथमं तदुद्दिश्यत इति चेदुच्यते; प्रमाणस्याभ्यर्हितत्त्वात्प्रधानत्वम्, अभ्यर्हितत्त्वं च 'प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तेर्व्यवहारहेतुत्वात्। यतो हि प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तिर्व्यवहारहेतुर्भवति नान्येष्वतोऽभ्यर्हितत्वं प्रमाणस्य। अथवा समुदायविषयं प्रमाणमवयवविषया नयाः। तथा चोक्तम्—"**सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः**" इति'।—(तत्त्वार्थवा १-६)। ८ कथ्यते।

---

1 'मात्रस्य' इति **द** प्रतिपाठः। 2 '**खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं न स्यादित्येवं**' इति **आ** प्रतिपाठः। **प मु** प्रतिषु 'न' पाठो नास्ति 3 'यथोचितं' इति **द** प्रतिपाठः।

[प्रमाणसामान्यस्य लक्षणकथनम्]

§ ८ सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् । अत्र प्रमाणं लक्ष्यं सम्यग्ज्ञानत्वं[१] तस्य लक्षणम् । गोरिव सास्नादिमत्वम्, अग्नेरिवौष्ण्यम् । अत्र[२] सम्यक्पदं संशयविपर्ययानध्यवसायनिरासाय क्रियते, अप्रमाणत्वादेतेषां[३] ज्ञानानामिति ।

§ ९ तथा हि—विरुद्धानेककोटिस्पर्शि[४] ज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । स्थाणुपुरुष[५]साधारणोर्ध्वतादिधर्मदर्शनात्तद्विशेषस्य[६] वक्रकोटरशिरःपाण्यादेः साधकप्रमाणाभावादनेककोट्यवलम्बित्वं ज्ञानस्य । विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः, यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानम्[७] । अत्रापि सादृश्यादि[८]-निमित्तवशाच्छुक्तिविपरीते रजते निश्चयः । किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः[९], यथा पथि[1] गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम् । इदं[१०] हि नानाकोट्यवलम्बनाभावान्न संशयः । विपरीतैककोटिनिश्च-

१ यावत्सम्यग्ज्ञानवृत्तिः सामान्यरूपो धर्मः सम्यग्ज्ञानत्वम् । २ 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाण' मित्यत्र । ३ संशयादीनाम् । ४ कोटिः—पक्षः, अवस्था वा । ५ उभयवृत्तिः सामान्यरूप ऊर्ध्वतादिधर्मः साधारणः । ६ स्थाणुपुरुषविशेषस्य, स्थाणोर्विशेषो वक्रकोटरादिः । पुरुषस्य तु शिरःपाण्यादिरिति भावः । ७ तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं विपर्ययः, यथा रजतत्वाभाववति शुक्तिशकले रजतत्वप्रकारकं 'शुक्तौ इदं रजतम्' इति ज्ञानमित्याशयः । ८ आदिपदेन चाकचिक्यादिग्रहणम् । ९ अनिश्चयस्वरूपं संशय-विपर्ययभिन्नजातीयं ज्ञानम् । १० अनध्यवसायाख्यज्ञानस्य

1 'पथि' इति पाठो म प्रतौ नास्ति ।

याभावान्न विपर्यय इति पृथगेव[1]। एतानि[2] च स्वविषयप्रमिति-जनकत्वाभावादप्रमाणानि ज्ञानानि भवन्ति, सम्यग्ज्ञानानि तु न भवन्तीति सम्यक्पदेन व्युदस्यन्ते[3]। ज्ञानपदेन[4] प्रमातुः प्रमितेश्च[5] व्यावृत्तिः। अस्ति हि निर्दोषत्वेन तत्रापि[6] सम्यक्त्वं न तु ज्ञान-त्वम्।

§ १० ननु प्रमितिकर्त्तुः प्रमातुर्ज्ञातृत्वमेव न ज्ञानत्वमिति यद्यपि ज्ञानपदेन व्यावृत्तिस्तथापि प्रमितिर्न व्यावर्त्तयितुं शक्या, तस्या अपि[7]सम्यग्ज्ञानत्वादिति चेत्; भवेदेवम्[8]; यदि[9]भावसाधन-

---

संशय-विपर्ययाभ्यां ज्ञानान्तरत्वं प्रसाधयति **इदमिति,** इदम्—अनध्यव-सायाख्यं ज्ञानम्। इदमत्र तात्पर्यम्—संशये नानाकोट्यवलम्बनात्, विपर्यये च विपरीतैककोटिनिश्चयात्। अनध्यवसाये तु नैकस्या अपि कोटेर्निश्चयो भवति। ततस्तदुभयभिन्नविषयत्वेन कारणस्वरूपभेदेन च ताभ्यामिदं ज्ञानं भिन्नमेव। तथा चोक्तम्—'अस्य (अनध्यवसायस्य) चानवधारणात्मकत्वेऽपि कारणस्वरूपादिभेदान्न संशयता। अप्रतीतविशेष-विषयत्वेनाऽपि अस्य सम्भवादुभयविशेषानुस्मरणजसंशयतो भेद एवेति **कन्दलीकाराः**।'—प्रशस्तपा० टि० पृ० ९१।

१ संशय-विपर्ययाभ्याम्। २ संशयादीनि। ३ निराक्रियन्ते। ४ सम्यक्पदस्य कृत्यं प्रदर्श्य ज्ञानपदस्य कृत्यं प्रदर्शयति **ज्ञानपदेनेति**। ५ ननु ज्ञानपदेन यथा प्रमातुः प्रमितेश्च व्यावृत्तिः कृता तथा प्रमेयस्य कथं न कृता तस्यापि ज्ञानत्वाभावात्, इति चेत्तस्यापि चशब्दाद् ग्रहणं बोध्यम्। यद्यपि स्वपरिच्छेद्यापेक्षया ज्ञानस्य प्रमेयत्वमस्त्येव तथापि घटपटादि-बहिरर्थापेक्षया प्रमेयत्वं नास्तीत्यतो युक्तं चशब्दात्तस्य ग्रहणम्। ६ प्रमातरि प्रमितौ प्रमेये च। ७ भावसाधनपक्षे। ८ प्रमितेरव्यावर्त्तनम्। ९ ज्ञप्तिमात्रं ज्ञानमिति।

मिह ज्ञानपदम् । करणसाधनं खल्वेतज्ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति । "करणाधारे चानट्" [जैनेन्द्रव्या० २।३।११२] इति करणेऽप्यनट्-प्रत्ययानुशासनात्[१] । भावसाधनं तु ज्ञानपदं प्रमितिमाह1 । अन्यद्धि भावसाधनात्करणसाधनं2 पदम् । [२]एवमेव [३]प्रमाणपदमपि प्रमीयतेऽनेनेति करणसाधनं कर्त्तव्यम् । [४]अन्यथा सम्यग्ज्ञानपदेन सामानाधिकरण्याघटनात्[५] । तेन प्रमितिक्रियां प्रति यत्करणं तत्प्रमाणमिति सिद्धम्[६] । तदुक्तं **प्रमाणनिर्णये**—"इदमेव हि प्रमाणस्य प्रमाणत्वं यत्प्रमितिक्रियां प्रति साधकतमत्वेन[७] करणत्वम्" [प्रत्यक्षनिर्णय पृ० १] इति ।

§ ११ नन्वेव[८]मप्यक्षलिङ्गादा[९]वतिव्याप्तिर्लक्षणस्य[१०], तत्रापि[११] प्रमितिरूपं फलं प्रति करणत्वात् दृश्यते हि चक्षुषा

१ विधानात् । २ ज्ञानपदवत् । ३ 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' इत्यत्र प्रमाणलक्षणे प्रयुक्तं 'प्रमाणम्' इति पदम् । ४ प्रमाणपदं करणसाधनं नो चेत् । ५ प्रोक्तलक्षणशाब्दसामानाधिकरण्यानुपपत्तेः । ६ सुनिश्चितम् । ७ अतिशयेन साधकमिति साधकतमं नियमेन कार्योत्पादकमित्यर्थः । ८ संशयादौ प्रमात्रादौ च प्रोक्तप्रमाणलक्षणस्य व्यावृत्तावपि, अथ च प्रमाणपदस्य करणसाधनत्वेऽपि । ९ आदिपदेन धूमादेर्ग्रहणम् । १० अयमत्राशयः—यदि 'प्रमितिक्रियां प्रति यत्करणं तत्प्रमाणम्' इति प्रमाणार्थः कक्षीक्रियते तर्हि प्रमितिरूपं फलं प्रति करणत्वेनाक्ष-लिङ्गादेरपि प्रमाणत्वप्रसङ्गात् । अक्षलिङ्गादिः—इन्द्रिय-धूम-शब्दादिः । ११ अक्ष-लिङ्गादौ ।

1 **प्रमितिराह**' इति **आ** प्रतिपाठः । 2 '**साधनपदं**' इति **प** प्रतिपाठः ।

प्रमीयते, धूमेन प्रमीयते, शब्देन प्रमीयत इति व्यवहार[1] इति चेत्; न[१]; अक्षादेः प्रमितिं प्रत्यसाधकतमत्वात् ।

§ १२ तथा हि—प्रमितिः प्रमाणस्य फलमिति न कस्यापि[२] विप्रतिपत्तिः[३]। [४]सा चाज्ञाननिवृत्तिरूपा, [५]तदुत्पत्तौ[2] करणेन[3] सता[६] तावदज्ञानविरोधिना भवितव्यम् । न चाक्षादिकमज्ञानविरोधि[4], अचेतनत्वात् । तस्मादज्ञानविरोधिनश्चेतनधर्मस्यैव[७] करणत्वमुचितम् । लोकेऽप्यन्धकारविघटनाय तद्विरोधी प्रकाश[८] एवोपास्यते[९] न पुनर्घटादिः, तद[१०]विरोधित्वात् ।

§ १३ किञ्च, अस्वसंविदितत्वादक्षादेर्नार्थप्रमितौ साधकतमत्वम्, स्वावभासनाशक्तस्य परावभासकत्वायोगात्[5] । ज्ञानं तु स्वपरावभासकं[११] प्रदीपादिवत्प्रतीतम् । ततः स्थितं प्रमितावसाधकतमत्वादकरण[१२]मक्षादय इति ।

§ १४ चक्षुषा प्रमीयत इत्यादिव्यवहारे पुनरुपचारः शरणम्,

---

१ समाधत्ते नेति । २ वादिनः प्रतिवादिनो वा । ३ विवादः । ४ प्रमितिः । ५ प्रमित्युत्पत्तौ । ६ भवता । ७ ज्ञानरूपस्य । ८ प्रदीपादिः । ९ अन्विष्यते । १० तेनान्धकारेण सह घटादेर्विरोधाभावात् । ११ स्वपरपरिच्छेदकम् । १२ प्रमितिं प्रति न करणम् ।

---

1 **'इति व्यवहारः'** **आ** प्रतौ नास्ति । 2 **'तदुत्पत्तौ तु'** इति **द** प्रतिपाठः । 3 **'भवता'** इति पाठो **म प मु** प्रतिषु अधिकः । 4 '··· **विकं तद्विरोधि'** इति **द** प्रतौ पाठः । 5 **'घटवत्'** इत्यधिकः पाठो **म प** प्रत्योः ।

उपचारप्रवृत्तौ च सहकारित्वं निबन्धनम्[१]। न हि सहकारित्वेन [२]तत्साधकमिद[३]मिति करणं नाम, [४]साधकविशेषस्यातिशयवतः[५] करणत्वात्। तदुक्तं **जैनेन्द्रे**—"साधकतमं करणम्" [१।२।११४] इति1। तस्मान्न लक्षणस्याक्षादावतिव्याप्तिः।

§ १५ अथापि[६] धारावाहिकबुद्धिष्वतिव्याप्तिस्तासाँ सम्यग्ज्ञानत्वात्। न च [७]तासामार्हतमते प्रामाण्याभ्युपगम इति; उच्यते; एकस्मिन्नेव घटे घटविषयाज्ञानविघटनार्थमाद्ये ज्ञाने प्रवृत्ते तेन[८] घटप्रमितौ सिद्धायां पुनर्घटोऽयं घटोऽयमित्येवमुत्पन्नान्युत्तरोत्तरज्ञानानि खलु धारवाहिकज्ञानानि भवन्ति2। न ह्ये[९]तेषां3 प्रमितिं प्रति साधकतमत्वम्, प्रथमज्ञानेनैव प्रमितेः सिद्धत्वात्। कथं तत्र[१०] लक्षणमतिव्याप्नोति? तेषां[११]गृहीतग्राहित्वात्।

§ १६ ननु घटे दृष्टे पुनरन्यव्यासङ्गेन[१२] पश्चात् घट एव दृष्टे पश्चात्तनं ज्ञानं पुनरप्रमाणं प्राप्नोति धारावाहिकवदिति चेत्; न;

१ 'मुख्यभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्त्तते' इति नियमात्। २ प्रमितिसाधकम्। ३ अक्षादिकम्। ४ असाधारणसाधकस्य ज्ञानस्य। ५ अत्रातिशयो नाम नियमेन कार्योत्पादकत्वम्। ६ अक्षलिङ्गादावतिव्याप्तिवारणेऽपि। ७ धाराबाहिकबुद्धीनाम्। ८ आद्येन घटज्ञानेन। ९ धारावाहिकज्ञानानाम्। १० धारावाहिकबुद्धिषु। ११ धारावाहिकज्ञानानाम्। १२ अन्यस्मिन् कार्ये व्यापृते चित्तस्याभ्यासशक्तिर्व्यासङ्गः। बुद्धेरन्यत्र संचारो विषयान्तराकृष्टत्वं वा व्यासङ्गः।

1 'इति' पाठो **मुद्रित**प्रतिषु नास्ति। 2 'भवन्ति' **म प मु** प्रतिषु नास्ति। 3 'एषां' इति **म प मु** प्रतिषु पाठः।

'दृष्टस्यापि मध्ये समारोपे' सत्यदृष्टत्वात्'। तदुक्तम्—"दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्" [परीक्षा० १-५] इति।

§ १७ 'एतेन निर्विकल्पके सत्तालोचनरूपे दर्शनेऽप्यतिव्याप्तिः परिहृता। 'तस्याव्यवसायरूपत्वेन' प्रमितिं प्रति करणत्वाभावात्। निराकारस्य1 ज्ञानत्वाभावाच्च। "निराकारं दर्शनं साकारं ज्ञानम्" [सर्वार्थसि० २-९] इति प्रवचनात्'। तदेवं2 प्रमाणस्य सम्यग्ज्ञानमिति लक्षणं नाऽतिव्याप्तम्। नाऽप्यव्याप्तम्, लक्ष्ययोः प्रत्यक्षपरोक्षयोर्व्याप्यवृत्तेः'। नाऽप्यसम्भवि, 'लक्ष्यवृत्तेरबाधितत्वात्'°।

[प्रमाणस्य प्रामाण्यनिरूपणम्]

§ १८ किमिदं''प्रमाणस्य प्रामाण्यं नाम? प्रतिभातविष-

---

१ ज्ञातस्यापि। २ संशयविपर्ययानध्यवसायविस्मरणलक्षणे ३ ज्ञातपदार्थोऽपि सति संशये, विपर्यये, अनध्यवसाये, विस्मरणे वाऽज्ञाततुल्यो भवति। अतस्तद्विषयकं ज्ञानं प्रमाणमेवेति भावः। अक्षलिङ्गशब्दधारावाहिकबुद्धिष्वतिव्याप्तिनिराकरणेन। ५ निर्विकल्पकदर्शनस्य। ६ अनिश्चयात्मकत्वेन। ७ आगमात्। ८ यावल्लक्ष्येषु वर्तमानत्वं व्याप्यवृत्तित्वम्। ९ लक्ष्ययोः प्रत्यक्षपरोक्षयोः। १० तदेव हि सम्यक् लक्षणं यदव्याप्त्यादिदोषत्रयशून्यमित्यभिप्रेत्य ग्रन्थकृता दोषत्रयपरिहारः कृतः। ११ प्रामाण्यं स्वतोऽप्रामाण्यं परत इति **मीमांसकः**, अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परत इति **ताथागताः**, उभयं स्वत इति **सांख्याः**, उभयमपि परत इति **नैयायिक-वैशेषिकाः**, उभयमपि कथञ्चित्स्वतः कथञ्चित्परत इति

---

1 **म प मु** प्रतिषु 'दर्शनस्य' इत्यधिकः पाठः। 2 **म प मु** प्रतिषु 'तस्मात्' इति पाठः।

याऽव्यभिचारित्वम्1। [१]तस्योत्पत्तिः कथम् ? स्वत एवेति **मीमांसकाः**। प्रामाण्यस्य स्वत उत्पत्तिरिति ज्ञानसामान्यसामग्री-मात्रजन्यत्वमित्यर्थः[२]। तदुक्तम्—"ज्ञानोत्पादकहेत्वनतिरिक्त-जन्यत्व[३]मुत्पत्तौ स्वतस्त्वम्" [ ] इति। [४]न ते मीमांसकाः, ज्ञानसामान्यसामग्र्याः[५] संशयादावपि ज्ञानविशेषे[६] सत्त्वात्। वयं[७] तु ब्रूमहे ज्ञानसामान्यसामग्र्याः साम्येऽपि संशयादिरप्रमाणं सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमिति विभागस्तावदनिबन्धनो[८] न भवति। ततः संशयादौ यथा हेत्वन्तर[९]मप्रामाण्ये दोषादिक-मङ्गीक्रियते[१०] तथा प्रमाणेऽपि2 [११]प्रामाण्यनिबन्धनमन्यदवश्य-मभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा[१२] प्रमाणाप्रमाणविभागानुपपत्तेः[१३]।

स्याद्वादिनो जैना इत्येवं वादिनां विप्रतिपत्तेः सद्भावात्संशयः स्यात्तन्निराकरणाय प्रामाण्याप्रामाण्यविचारः प्रक्रम्यते **किमिदमिति**।

१ प्रामाण्यस्य। २ येनैव कारणेन ज्ञानं जन्यते तेनैव तत्प्रामाण्यमपि न तद्भिन्नकारणेनेति भावः। ३ ज्ञानस्योत्पादको यो हेतुः कारणं तदतिरिक्तजन्यत्वं ज्ञानोत्पादककारणोत्पाद्यत्वमित्यर्थः। ४ समाधत्ते **नेति**, मीमांसकाः—विचारकुशलाः। ५ समग्राणां भावः—एककार्य-कारित्वं सामग्री—यावन्ति कारणानि एकस्मिन् कार्ये व्याप्रियन्ते तानि सर्वाणि सामग्रीति कथ्यन्ते। ६ मिथ्याज्ञाने। ७ जैनाः। ८ अकारणः। ९ एकस्माद्धेतोरन्यो हेतुः हेत्वन्तरं ज्ञानसामान्यकारणाद्भिन्नकारणमित्यर्थः। १० स्वीक्रियते, भवता **मीमांसकेन**। ११ गुणादिकम्—नैर्मल्यादिकम्। १२ गुणदोषकृतप्रामाण्याप्रामाण्यानभ्युपगमे। १३ इदं ज्ञानं प्रमाणमिदमप्रमाणमिति विभागो न स्यात्।

---

1 'प्रमाण्यं' इत्यधिकः पाठः म प्रतौ। 2 'अपि' इति **आ** प्रतौ नास्ति।

§ १९ 'एवमप्यप्रामाण्यं परतः प्रामाण्यं तु स्वत इति न[२] वक्तव्यम्; विपर्ययेऽपि समानत्वात्। शक्यं हि वक्तुमप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परत इति। तस्मादप्रामाण्यवत्प्रामाण्यमपि परत[३] एवोत्पद्यते। न हि पटसामान्यसामग्री रक्तपटेहेतुः। तद्वन्न ज्ञानसामान्यसामग्री प्रमाणज्ञाने हेतुः, भिन्नकार्ययोर्भिन्नकारण-प्रभवत्वावश्यम्भावादिति[४]।

§ २० कथं तस्य[५] ज्ञाप्तिः[६]? अभ्यस्ते[७]विषये स्वतः,अनभ्यस्ते[८] तु परतः। कोऽयमभ्यस्तो विषयः को वाऽनभ्यस्तः? उच्यते; परिचितस्वग्रामतटाकजलादिरभ्यस्तः, तद्व्यतिरिक्तोऽनभ्यस्तः। किमिदं स्वत इति? किं नाम परत इति? ज्ञानज्ञापकादेव प्रामाण्यज्ञप्तिः1 स्वत इति? ततोऽतिरिक्ताज्ज्ञप्तिः परत इति।

§ २१ तत्र तावदभ्यस्ते विषये2 जलमिति3 ज्ञाने जाते ज्ञानस्वरूपज्ञप्तिसमय एव तद्गतं प्रामाण्यमपि ज्ञायत एव। 'अन्यथोत्तर[१०] क्षण एव निःशङ्कप्रवृत्तिरयोगात्[११]। अस्ति हि जलज्ञानोत्तरक्षण एव निःशङ्कप्रवृत्तिः4। अनभ्यस्ते तु विषये जलज्ञाने जाते जल-

---

१ प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्भिन्नकारणसिद्धेऽपि। २ जैन उत्तरयति नेति। ३ निर्मलतादिगुणेभ्यः। ४ ज्ञानप्रामाण्ये भिन्नकारणजन्ये भिन्नकार्यत्वादप्रमाण्यवदित्यनुमानमत्र बोध्यम्। ५ प्रामाण्यस्य। ६ निश्चयः। ७ परिचिते। ८ अपरिचिते। ९ ज्ञानस्वरूपज्ञप्तिसमये प्रामाण्यनिश्चयो नो चेत्। १० जलज्ञानानन्तरसमये। ११ जले सन्देहरहिता प्रवृत्तिर्न

---

1 **म प मु** प्रतिषु 'प्रमाण्यस्य' इति पाठः। 2 **म मु** 'अभ्यस्तविषये' इति पाठः। 3 **म प मु** 'जलमिदमिति' पाठः। 4 **प मु** 'निःशंका' पाठः।

ज्ञानं मम जातमिति ज्ञानस्वरूपनिर्णयेऽपि प्रामाण्यनिर्णयोऽन्यत[1] एव, [2]अन्यथोत्तरकालं सन्देहानुपपत्तेः। अस्ति हि सन्देहो 'जलज्ञानं मम जातं तत्किं जलमुत मरीचिका'[3] इति। ततः[4] कमलपरिमलशिशिरामरुत्प्रचारप्रभृतिभिरवधारयति—'प्रमाणं[5] प्राक्तनं जलज्ञानं[6] कमलपरिमलाद्यन्यथानुपपत्तेः' इति।

§ २२ [7]उत्पत्तिवत्प्रामाण्यस्य ज्ञप्तिरपि परत एवेति **यौगाः**[8]। तत्र[9] प्रामाण्यस्योत्पत्तिः परत इति युक्तम्। ज्ञप्तिः पुनरभ्यस्तविषये स्वत एवेति स्थितत्वात्[10] ज्ञप्तिरपि परत [11]एवेत्यवधारणानुपपत्तिः2। ततो [12]व्यवस्थितमेतत्प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु [13]कदाचित्स्वतः [14]कदाचित्परत इति। तदुक्तं **प्रमाणपरीक्षायां** ज्ञप्तिं प्रति[15]—

[16]प्रमाणा [17]दिष्ट-संसिद्धि [18]रन्यथाऽतिप्रसङ्गतः[19]।
प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्[20] परतोऽन्यथा[21] ॥ [प्र.प.पृ.६३]

स्यात्। १ संवादज्ञानान्तरादर्थक्रियाज्ञानाद्वा। २ अनभ्यस्ते—अपरिचिते विषये प्रामाण्यनिर्णयोऽन्यतो न स्यात्। ३ बालुपुञ्जः। ४ सन्देहान्तरम्। ५ साध्यम्। ६ धर्मी। ७ यथा प्रामाण्यस्योत्पत्तिः परतस्तथा। ८ यौगशब्देन नैयायिक-वैशेषिकौ गृह्येते। ९ उत्पत्ति-ज्ञप्त्योर्मध्ये। १० निश्चितत्वात्। ११ अन्यनिवृत्तिरूपफलजनकावधारणपरकैवकारप्रयोगासम्भवात्। १२ सम्यग् निश्चितम्। १३ अभ्यासदशायाम्। १४ अनभ्यासदशायाम्। १५ ज्ञप्तिमभिप्रेत्य। १६ सम्यग्ज्ञानात्। १७ इष्टोऽर्थस्तस्य सम्यक्प्रकारेण सिद्धिर्ज्ञप्तिलक्षणाऽभिलषितप्राप्तिलक्षणा वा। उत्पत्तिलक्षणा तु सिद्धिर्नात्र विवक्षिता, ज्ञापकप्रकरणात्। १८ प्रमाणाभासात्। १९ इष्टसंसिद्ध्यभावः। २० अभ्यासदशायाम्। २१ अनभ्यासदशायाम्।

1 'मन्द' इत्यधिकः पाठो मुद्रितप्रतिषु। 2 'नुपपत्तेः इति द प्रतिपाठः।

§ २३. तदेवं सुव्यवस्थितेऽपि प्रमाणस्वरूपे दुरभिनिवेशवशंगतैः[1] **सौगतादिभिरपि** कल्पितं प्रमाणलक्षणं सुलक्षणमिति येषां[2] भ्रमस्ताननुल्लीमः[3]। तथा हि—

[सौगतीयप्रमाणलक्षणस्य समीक्षा]

§ २४. "अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणम्" [प्रमाणवा० २-१] इति **बौद्धाः**। तदिदमविसंवादित्वमसम्भवित्वादलक्षणम्[4]। **बौद्धेन** हि प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणद्वयमेवानुमन्यते। तदुक्तं **न्यायबिन्दौ**[5]—"द्विविधं सम्यग्ज्ञानम्", "प्रत्यक्षमनुमानं च" [न्यायबिन्दु पृ० १०]इति। तत्र न तावत्प्रत्यक्षस्याविसंवादित्वम्, तस्य निर्विकल्पकत्वेन स्वविषयानिश्चायकस्य समारोपविरोधित्वाभावात्[6]। नाऽप्यनुमानस्य,[7] तन्मतानुसारेण[8] [9]तस्याऽप्यपरमार्थभूतसामान्यगोचरत्वादिति[10]।

[कुमारिलभट्टीयप्रमाणलक्षणस्य समीक्षा]

§ २५. "अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम्" [शास्त्र-

---

१ मिथ्यात्वाभिप्रायैः। २ जनानाम्। ३ उपकुर्मः। ४ न निर्दोषलक्षणम्। ५ बौद्धतार्किकधर्मकीर्त्तिविरचिते न्यायविन्दुनाम्नि ग्रन्थे। ६ यन्न समारोपविरोधि तन्नाविसंवादि, यथा संशयादि, तथा च प्रत्यक्षम्, तस्मान्न तदविसंवादीति भावः। ७ अविसंवादित्वमिति सम्बन्धः। ८ बौद्धमतानुसारेण। ९ अनुमानस्यापि। १० अयमत्राशयः—बौद्धमते हि द्विविधं प्रमेयं विशेषाख्यं स्वलक्षणमन्यापोहाख्यं सामान्यं च। तत्र स्वलक्षणं परमार्थभूतं प्रत्यक्षस्य विषयः स्वेनासाधारणेन लक्षणेन लक्ष्यमाणत्वात्, सामान्यं त्वपरमार्थभूतमनुमानस्य विषयः परिकल्पितत्वात्। तथा

दी० पृ० १२३] इति **भाट्टाः**। तदप्यव्याप्तम्, तैरेव प्रमाणत्वेनाभिमतेषु [1]धारावाहिकज्ञानेष्वनधिगतार्थनिश्चायकत्वाभावात्। [2]उत्तरोत्तरक्षणविशेषविशिष्टार्थावभासकत्वेन तेषामनधिगतार्थनिश्चायकत्वमिति [3]नाऽऽशङ्कनीयम्, क्षणानामतिसूक्ष्माणामाल-[4]क्षयितुम[1]शक्यत्वात्।

[प्रभाकरीयप्रमाणलक्षणस्य समीक्षा]

§ २६. [5]"अनुभूतिः प्रमाणम्" [बृहती] १-१-५] इति **प्राभाकराः**[6]। तदप्यसङ्गतम्; अनुभूतिशब्दस्य [7]भावसाधनत्वे करणलक्षणप्रमाणाव्याप्तेः, [8]करणसाधनत्वे तु भावलक्षणप्रमाणाव्याप्तेः, करण-भावयोरुभयोरपि [9]तन्मते प्रामाण्याभ्युपगमात्। तदुक्तं **शालिकानाथेन**—

"यदा भावसाधनं तदा संविदेव प्रमाणं करणसाधनत्वे त्वात्म-मनःसन्निकर्षः"[10] [प्रकरणप० प्रमाणपा० पृ० ६४] इति।

चापरमार्थभूतसामान्यविषयत्वादनुमानस्य नाविसंवादित्वमिति भावः।

१ गृहीतार्थविषयकाण्युत्तरोत्तरजायमानानि ज्ञानानि धारावाहिकज्ञानानि, तेषु। २ ननूत्तरोत्तरजायमानधारावाहिकज्ञानानां तत्तत्क्षणविशिष्टघटाद्यर्थनिश्चायकत्वेनागृहीतार्थविषयकत्वमेव, ततो न तैरव्याप्तिरिति शङ्कितुर्भावः। ३ शङ्का न कार्या। ४ आदर्शयितुम्। ५ 'प्रमाणमनुभूतिः' —प्रकरणपञ्जि० पृ० ४२। ६ प्रभाकरमतानुसारिणः। ७ अनुभवोऽनुभूतिरित्येवंभूते। ८ अनुभूयतेऽनेनेति अनुभूतिरित्येवंरूपे। ९ प्राभाकराणां मते। १० **प्रभाकर**-मतानुसारिणा **शालिकानाथेन** यदुक्तं तत्प्रकरणपञ्जिकायामित्थं वर्त्तते—**'यदि प्रमितिः प्रमाणं इति भावसाधनं मानमाश्रीयते**

---

1 द प्रतौ 'लक्षयितुम' इति पाठः।

[नैयायिकानां प्रमाणलक्षणस्य समीक्षा]

§ २७. "प्रमाकरणं प्रमाणम्" [न्यायमं० प्रमा० पृ० २५] इति **नैयायिकाः**[1]। [2]तदपि प्रमादकृतं[3] लक्षणम्; ईश्वराख्य[4] एव [5]तदङ्गीकृते[1]प्रमाणेऽव्याप्तेः। अधिकरणं[6] हि महेश्वरः प्रमायाः, न[7] तु करणम्। न चायमनुक्तो [8]पालम्भः, "तन्मे प्रमाणं शिवः"[9]

तदा संविदेव मानम्। तस्याश्च व्यवहारानुगुणस्वभावत्वाद्धानोपादानोपेक्षाः फलम्। **प्रमीयतेऽनेनेति करणसाधने प्रमाणशब्दे आत्म-मनःसन्निकर्षात्मनो ज्ञानस्य प्रमाणत्वे** तद्बलभाविनी फल (लं) संविदेव बाह्यव्यवहारोपयोगिनी सती"—प्रमाणपा० प० पृ० ६४।

१ **वात्स्यायन-जयन्तभट्टादय**स्तार्किकाः। यथा हि 'प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानः प्रमाणशब्दः,—न्यायभा० १. १. ३, 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणार्थाभिधायिनः प्रमाणशब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणमवगम्यते'—न्यायमं० प्रमाण० पृ० २५। २ प्रमाकरणं प्रमाणमिति नैयायिकाभिमतमपि। ३ सदोषम्। ४ महेश्वरे। ५ नैयायिकैरभ्युपगते। ६ आश्रयः। ७ तत्प्रमायाः नित्यत्वात्करणत्वासम्भवात्। ८ अत्रायमाशयः—उपालम्भो दोषः (आरोपात्मकः), स च 'महेश्वरः प्रमाणम्' इत्येवंरूपो नानुक्तो भवता न स्वीकृत इति न, अपि तु महेश्वरस्य प्रमाणत्वं स्वीकृतमेव 'तन्मे प्रमाणं शिवः' इति वचनात्, तथा चेश्वराख्यप्रमाणस्य प्रमाया अधिकरणत्वेन प्रमाकरणत्वाभावादव्याप्तिदोषकथनं ग्रन्थकृता सङ्गतमेवेति भावः। ९ सम्पूर्णः श्लोकस्त्वित्थं वर्त्तते—

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः।
लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः॥

---

1 'ईश्वराख्ये तदङ्गीकृत एव' इति **म प मु** प्रतिषु पाठः

[न्यायकुसु० ४-६] इति 'यौगाग्रसरेणोदयनेनोक्तत्वात् । तत्परिहाराय[2] केचन[3] बालिशाः "साधनाश्रययोरन्यतरत्वे[4] सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम्" [सर्वदर्शनसं० पृ० २३५] इति वर्णयन्ति तथापि साधनाश्रयान्यतरपर्यालोचनायां[5] साधनमाश्रयो वेति फलति । [6]तथा च [7]परस्पराव्याप्तिर्लक्षणस्य ।

§२८ [8]अन्यान्यपि पराभिमतानि प्रमाणसामान्यलक्षणा-

१ योगाः—नैयायिकास्तेषामग्रेसरः प्रधानः प्रमुखो वा तेन । २ महेश्वरेऽव्याप्तिदोषनिराकरणाय । **३ सायणमाधवाचार्याः । ४ सर्वदर्शनसंग्रहे** 'साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे' इति पाठः । तट्टीकाकृता च तथैव व्याख्यातः । यथा हि—'यथार्थानुभवः प्रमा, तस्याः साधनं करणम् । आश्रय आत्मा । तदुभयापेक्षया भिन्नं यन्न भवति तथाभूतं सद्यत्प्रमया नित्यसम्बद्धं तत्प्रमाणमित्यर्थः ।' ५ प्रमासाधन-प्रमाश्रययोर्मध्ये प्रमासाधनं प्रमाणं प्रमाश्रयो वेति विचारे क्रियमाणे । ६ साधनाश्रययोरन्यतरस्य प्रमाणत्वाङ्गीकारे । ७ अयं भावः—प्रमासाधनस्य प्रमाणत्वाङ्गीकारे प्रमाश्रये प्रमाणेऽव्याप्तिः, प्रमाश्रयस्य च प्रमाणत्वस्वीकारे प्रमासाधने प्रमाणेऽव्याप्तिः, यतो ह्यन्यतरस्य प्रमाणत्वपरिकल्पनात् । उभयपरिकल्पने चासम्भवित्वं स्पष्टमेव । न हि प्रमाणत्वेनाभ्युपगतस्यैकस्य (सन्निकर्षस्य महेश्वरस्य वा) कस्यचिदपि प्रमासाधनत्वं प्रमाश्रयत्वं चोभयं सम्भवि । इत्थं च नैयायिकाभिमतमपि प्रमाकरणं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं न समीचीनमिति प्रतिपादितं बोद्धव्यम् ।

८ 'इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्' इति **सांख्याः**, 'अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री (कारकसाकल्यं) प्रमाणम्' (न्यायमं० प्रमा० पृ० १४) इति **जरन्नैयायिकाः (जयन्तभट्टादयः)** इत्यादीन्यपि परोक्तानि प्रमाणसामान्यलक्षणानि सन्ति, परं तेषां प्रमाण-

1 'प्रमाणस्य' इति **म प मु** प्रतिषु पाठः ।

[1]न्यलक्षणत्वा1दुपेक्ष्यन्ते[2]। [3]तस्मात्स्वपरावभासनसमर्थं सविकल्पमगृहीतग्राहकं[4] सम्यग्ज्ञानमेवाज्ञानमर्थे [5]निवर्त्तयत्प्रमाणमित्यार्हतं[6] मतम्[7]।

इति श्रीपरमार्हताचार्य-धर्मभूषण-यति-विरचितायां न्याय-दीपिकायां प्रमाणसामान्यलक्षणप्रकाशः प्रथम- ॥१॥

त्वस्यैवाघटनान्न परीक्षार्हाणि, अपि तूपेक्षार्हाण्येव। ततो न तान्यत्र परीक्षितानि ग्रन्थकृता। नन्विन्द्रियवृत्तेः कारकसाकल्यादेर्वा प्रमाणत्वं कथं न घटते ? इति चेत् ; उच्यते ; इन्द्रियाणामज्ञानरूपत्वात्तद्वृत्तेरप्यज्ञानरूपत्वेन प्रमाणत्वायोगात्। ज्ञानरूपमेव ही प्रमाणं भवितुमर्हति, तस्यैवाऽज्ञाननिवर्त्तकत्वात्प्रदीपादिवत्। इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां वृत्तिर्हि तदुद्घाटनादिव्यापारः, स च जडस्वरूपः, ततो न तेनाज्ञाननिवृत्तिः सम्भवति घटादिवत्। तस्मादिन्द्रियवृत्तेरज्ञाननिवृत्तिरूपप्रमां प्रति करणत्वाभावान्न प्रमाणत्वमिति भावः।

एवं कारकसाकल्यस्याऽप्यबोधस्वभावस्याज्ञानरूपत्वेन स्व-परज्ञानकरणे साधकतमत्वाभावान्न प्रमाणत्वम्। अतिशयेन साधकं साधकतमम्, साधकतमं च करणम्। करणं खल्वसाधारणं कारणमुच्यते। तथा च सकलानां कारकाणां साधारणासाधारणस्वभावानां साकल्यस्य—परिसमाप्त्या सर्वत्र वर्तमानस्य सामस्त्यस्य—कथं साधकतमत्वमिति विचारणीयम् ? साधकतमत्वाभावे च न तस्य प्रमाणत्वम्, स्व-परपरिच्छित्तौ साधकतमस्यैव प्रमाणत्वघटनात्। तेनैव ह्यज्ञाननिवृत्तिः सम्पादयितुं शक्येत्यलं विस्तरेण। ततः 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' इत्येतदेव प्रमाणस्य सम्यक् लक्षणम्।

१ लक्षणाभासत्वात्, लक्षणकोटौ प्रवेष्टुमयोग्यत्वादिति भावः। २ न परीक्षाविषयीक्रियन्ते। ३ उपसंहारे 'तस्मात्' शब्दः। ४ अपूर्वार्थनिश्चायकम्। ५ घटादिपदार्थेष्वज्ञाननिवृत्तिं कुर्वत्। ६ जैनम्। ७ शासनम्।

---

1 'न्यलक्ष्यत्वा' इति **द आ** प्रतिपाठः।

२. प्रत्यक्षप्रकाशः

—:०:—

[प्रमाणं द्विधा विभज्य प्रत्यक्षस्य लक्षणकथनम्]

§ १. अथ[1] प्रमाणविशेषस्वरूपप्रकाशनाय प्रस्तूयते । प्रमाणं[2] द्विविधम्[3]—प्रत्यक्षं परोक्षं चेति । तत्र विशदप्रतिभासं प्रत्यक्षम् । इह प्रत्यक्षं लक्ष्यं विशदप्रतिभासत्वं लक्षणम् । यस्य प्रमाणभूतस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो विशदस्तत्प्रत्यक्षमित्यर्थः ।

---

१. प्रमाणसामान्यलक्षणनिरूपणानन्तरमिदानीं प्रकरणकारः प्रमाणविशेषस्वरूपप्रतिपादनाय द्वितीयं प्रकाशं प्रारभते **अथेति** । २ पूर्वोक्तलक्षणलक्षितम् । ३ विभागस्यावधारणफलत्वात्तेन द्विप्रकारमेव, न न्यूनं नाधिकमिति बोध्यम् । चार्वाकाद्यभिमतसकलप्रमाणभेदानामत्रैवान्तर्भावात् । तत्र प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति **चार्वाकाः**, प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्वे एव प्रमाणे इति **बौद्धाः वैशेषिकाश्च**, प्रत्यक्षानुमानोपमानानि त्रीण्येव प्रमाणानीति **सांख्याः**, तानि च शाब्दं चेति चत्वार्येव इति **नैयायिकाः**, सहार्थापत्त्या च पञ्चेति **प्राभाकराः**, सहानुपलब्ध्या च षट् इति **भाट्टाः वेदान्तिनश्च**, सम्भवैतिह्याभ्यां सहाष्टौ प्रमाणानीति **पौराणिकाः** । तथा चोक्तम्—

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकः कारणात्सौगताः पुनः ।
अनुमानं च तच्चैव सांख्याः शाब्दं च ते अपि ॥१॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केन च ।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः ॥२॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा ।
सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः ॥३॥

तदेतेषां सर्वेषां यथायथं प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणयोरेवान्तर्भाव इति **द्विविध-**

§ २. किमिदं विशदप्रतिभासत्वं नाम ? उच्यते—ज्ञानावरणस्य[1] क्षयाद्विशिष्टक्षयोपशमाद्वा । शब्दानुमानाद्य[2] सम्भवि यन्नैर्मल्यमनुभवसिद्धम्, दृश्यते खल्वग्निरस्तीत्याप्त[3]वचनाद्धूमादि[4]लिङ्गाच्चोत्पन्नाज्ज्ञानादय[5]मग्निरित्युत्पन्नस्यैन्द्रियकस्य[6] ज्ञानस्य विशेषः[7]। स[1] एव नैर्मल्यम्, वैशद्यम्, स्पष्टत्वमित्यादिभिः शब्दैरभिधीयते। तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कदेवैर्न्यायविनिश्चये—

"प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा[8]।" [का० ३]

इति। विवृतं[10]च **स्याद्वादविद्यापतिना**[11]—"निर्मलप्रतिभासत्व-

मित्यनेन सूचितम्। **विद्यानन्दस्वामिना**ऽप्युक्तम्—'एवं प्रमाणलक्षणं व्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं परीक्षितम्, तत्प्रत्यक्षं परोक्षं चेति संक्षेपाद् द्वितयमेव व्यवतिष्ठते, सकलप्रमाणभेदानामत्रैवाऽन्तर्भावादिति विभावनात्।' 'स्याद्वादिनां तु संक्षेपात्प्रत्यक्ष-परोक्षविकल्पात्प्रमाणद्वयं सिद्धयत्येव, तत्र सकलप्रमाणभेदानां संग्रहादिति'—प्रमाणपरी० पृ० ६३-६४, ६७। एतच्च **प्रमेयकमलमार्तण्डे**ऽपि (२-१) प्रपञ्चतो निरूपितम्।

१ ज्ञानप्रतिबन्धकं ज्ञानावरणाख्यं कर्म, तस्य सर्वथा क्षयाद्विशेषक्षयोपशमाद्वा। २ आदिपदादुपमानार्थापत्त्यादीनां संग्रहः। ३ विश्वसनीयः पुरुष आप्तः, यथार्थवक्ता इति यावत्। ४ अत्रादिपदेन कृतकत्व-शिंशपात्वादीनां परिग्रहः। ५ पुरो दृश्यमानः। ६ इन्द्रियजन्यस्य। ७ अनुमानाद्यपेक्षया विशेषप्रतिभासनरूपः। तदुक्तम्—अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्। तद्वैशद्यं मतं बुद्धेः—लघीय० का०४। ८ विशेषः। ९ अस्याः कारिकाया उत्तरार्धमिदमस्ति—'द्रव्य-पर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्।' १० व्याख्यातं **न्यायविनिश्चयविवरणे**। ११ **श्रीमद्वादिराजाचार्येण**।

1 'शाब्द' इति **आ** प्रतिपाठः।

मेव स्पष्टत्वम्, स्वानुभवप्रसिद्धं चैतत्सर्वस्यापि परीक्षकस्येति नातीव निर्बाध्यते" [न्यायविनि० वि० का० ३] इति। तस्मात्सुष्ठूक्तं विशदप्रतिभासात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति[1]।

[सौगतीयप्रत्यक्षस्य निरासः]

§ ३. [2]"कल्पनापोढमभ्रान्तं [3]प्रत्यक्षम्" [न्यायबिन्दु पृ० ११] **इति ताथागताः**[4]। अत्र हि कल्पनापोढपदेन सविकल्पकस्य व्यावृत्तिः[5], अभ्रान्तमिति पदेन त्वाभासस्य[6]। तथा च[7] समीचीनं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति; तदेतद् बालचेष्टितम्; निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यमेव दुर्लभम्, समारोपाविरोधित्वात्, कुतः प्रत्यक्षत्वम्? व्यवसायात्मकस्यैव[8] प्रामाण्यव्यस्थापनात्[9]।

---

१ तथा चोक्तम्—'विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षत्वात्, यत्तु न विशदज्ञानात्मकं तन्न प्रत्यक्षं यथाऽनुमानादिज्ञानम्, प्रत्यक्षं च विवादाध्यासितम्, तस्माद्विशदज्ञानात्मकमिति।'—**प्रमाणपरी०** पृ० ६७। २ 'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना, तया रहितम्'—**न्यायबिन्दु** पृ० १३। नाम-जात्यादियोजना वा कल्पना, तयाऽपोढम्, कल्पनास्वभावशून्यमित्यर्थः। 'तत्र यन्न भ्राम्यति तदभ्रान्तम्' न्यायबिन्दुटीका पृ० १२। ३ 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्। यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ नाम-जात्यादिकल्पनारहितं तदक्षमक्षं प्रति वर्त्तते इति प्रत्यक्षम्'—न्यायप्र० पृ० ७, 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नाम-जात्याद्यसंयुतम्'—प्रमाणसं० का० ३। अत्रेदं बोध्यम्—'कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्' इति **दिग्नागस्य** प्रत्यक्षलक्षणम्, अभ्रान्तविशेषणसहितं तु **धर्मकीर्त्तेः**। ४ तथागतः सुगतो बुद्ध इत्यनर्थान्तरम्, तदनुयायिनो ये ते ताथागता बौद्धाः। ५ व्यवच्छेदो निरास इति यावत्। ६ मिथ्याज्ञानस्य। ७ फलितलक्षणं प्रदर्शयति **तथा चेति**। ८ निश्चयात्मकस्यैव ज्ञानस्य। ९ 'तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत्' (परीक्षा० १-३)

§ ४. [1]ननु निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षप्रमाणमर्थजत्वात् । तदेव[1] हि [2]परमार्थसत्स्वलक्षणजन्यं न तु सविकल्पकम्, तस्यापरमार्थभूतसामान्यविषयत्वेनार्थजत्वाभावादिति चेत्; न[3]; अर्थस्यालोकवज्ज्ञानकारणत्वानुपपत्तेः । तद्यथा—अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि[4] कार्यकारणभावः । तत्रालोकस्तावन्न ज्ञानकारणम्, [5]तदभावेऽपि नक्तञ्चराणां मार्जारादीनां ज्ञानोत्पत्तेः, [6]तद्भावेऽपि [च] [7]घूकादीनां [8]तदनुत्पत्तेः । [9]तद्वदर्थोऽपि न ज्ञानकारणम्, [10]तदभावेऽपि केशमशकादिज्ञानोत्पत्तेः[11] । तथा च कुतोऽर्थजत्वं ज्ञानस्य ? तदुक्तं **परीक्षामुखे**—"नार्थालोकौ कारणम्" [२-६] इति । प्रामाण्यस्य चार्थाव्यभिचार[12] एव [13]निबन्धनं न त्वर्थजन्यत्वम्,

---

इत्यादिना निश्चयात्मकस्यैव ज्ञानस्य प्रमाण्यं व्यवस्थापितम् ।

१ बौद्धः शङ्कते **नन्विति** । २ परमार्थभूतेन स्वलक्षणेन जन्यं 'परमार्थोऽकृत्रिममनारोपितं रूपम्, तेनास्तीति परमार्थसत् । य एवार्थः सन्निधानासन्निधानाभ्यां स्फुटमस्फुटं च प्रतिभासं करोति परमार्थसन् स एव । स एव च प्रत्यक्षविषयो यतस्तस्मात्तदेव स्वलक्षणम्'—न्यायबि० टी० पृ० २३, 'यदर्थक्रियासमर्थं तदेव स्वलक्षणमिति, सामान्यलक्षणं च ततो विपरीतम्'—प्रमाणसं० पृ० ६ । ३ जैन उत्तरयति । ४ अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विना न कार्यकारणभावावगम इत्येतत्प्रदर्शनार्थं 'हि' शब्दः । ५ आलोकाभावेऽपि । ६ आलोकसद्भावेऽपि । ७ उलूकादीनाम् । ८ ज्ञानोत्पत्त्यभावात् । ९ आलोकवत् । १० अर्थाभावेऽपि । ११ केशोण्डुकादिज्ञानस्य भावात् । १२ तदभाववद्वृत्तित्वं व्यभिचारस्तद्भिन्नोऽव्यभिचारः । तत्पदेनात्रार्थो ग्राह्यः । १३ कारणं प्रयोजकमित्यर्थः ।

---

1 'एतदेव हि' इति **द** प्रतिपाठः ।

स्वसंवेदनस्य विषयाजन्यत्वेऽपि प्रामाण्याभ्युपगमात्[१]। न हि किञ्चित्स्वस्मादेव जायते।

§ ५. [२]नन्वतज्जन्यस्य ज्ञानस्य1 कथं [३]तत्प्रकाशकत्वम्? इति चेत्; [४]घटाद्यजन्यस्यापि प्रदीपस्य तत्प्रकाशकत्वं दृष्ट्वा सन्तोष्टव्यमायुष्मता[५]। अथ कथमयं विषयप्रतिनियमः[६]? यदुत 'घटज्ञानस्य घट एव विषयो न पटः' इति। अर्थजत्वं हि विषयप्रतिनियमकारणम्, तज्जन्यत्वात् तद्विषयमेव चैतदिति। [७]तत्तु 'भवता नाऽभ्युपगम्यते इति चेत्; योग्यतैव विषयप्रतिनियमकारणमिति ब्रूमः[९]। का नाम योग्यता? इति2। उच्यते—स्वावरणक्षयोपशमः। तदुक्तम्—"स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति"[१०] [परीक्षा० २–९] इति।

---

१ बौद्धैः। २ अत्र बौद्धः पुनराशङ्कते **नन्विति**। ३ अयं भावः—यदि ज्ञानं अर्थान्नोत्पद्यते तर्हि कथमर्थप्रकाशकं स्यात्? तदेव हि ज्ञानमर्थप्रकाशकं यदर्थजन्यम्, अजन्यत्वे तु तस्यार्थो विषयो न स्यात् 'नाकारणं विषयः' इति वचनात्। ४ उत्तरयति—घटाद्यजन्योऽपि हि यथा प्रदीपः घटादिप्रकाशको भवति तथा ज्ञानमप्यर्थाजन्यं सत् अर्थप्रकाशकमिति किमनुपपन्नम्? अर्थस्य ज्ञानकारणत्वनिरासस्तु पूर्वमेव कृतस्ततो नात्र किञ्चिद्वचनीयमस्ति। ५ सन्तोषः करणीयो भवता। ६ अमुकज्ञानस्य अमुक एव विषयो नान्य इति विषयप्रतिनियमः, स न स्याद्यदि ज्ञानस्यार्थजन्यत्वं नो भवेदिति शङ्काया आशयः। ७ अर्थजन्यत्वम्। ८ जैनेन। ९ जैनाः। १० प्रतिनियतार्थव्यवस्थापको हि तत्तदावरणक्षयोपशमोऽर्थग्रहणशक्तिरूपः। तदुक्तम्—'तल्लक्षणयोग्यता च शक्तिरेव। सैव ज्ञानस्य

---

1 **आ प मु** प्रतिषु 'अन्यस्य' इति पाठः। 2 **द** प्रतौ 'इति' पाठो नास्ति :

§ ६. [1]एतेन 'तदाकारत्वात्तत्प्रकाशकत्वम्' इत्यपि प्रत्युक्तम्[2]। अतदाकारस्यापि प्रदीपादेस्तत्प्रकाशकत्वदर्शनात्। ततस्तदाकार[3]वत्तज्जन्यत्वमप्रयोजकं प्रामाण्ये। [4]सविकल्पकविषयभूतस्य

प्रतिनियतार्थव्यवस्थायामङ्गम् नार्थोत्पत्त्यादि।'—**प्रमेयक०** २-१०, 'योग्यताविशेषः पुनः प्रत्यक्षस्येव स्वविषयज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेष एव'—**प्रमाणपरीक्षा** पृ० ६७।

१ अर्थजन्यताया निराकरणेन, योग्यतायाश्च प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्वसमर्थनेन। २ निरस्तम्। ३ इत्थं च तदाकारत्वं तज्जन्यत्वं चोभयमपि प्रामाण्ये न प्रयोजकमिति बोध्यम्। ४ यच्चोक्तम्—सविकल्पकस्यापरमार्थभूतसामान्यविषयत्वमिति; तन्न युक्तम्; सविकल्पकस्य विषयभूतसामान्यस्य प्रमाणाबाधितत्वात्परमार्थत्वमेव। यद्धि न केनापि प्रमाणेन बाध्यते तत्परमार्थसत्, यथा भवदभिमतं स्वलक्षणम्, प्रमाणाबाधितं च सामान्यम्, तस्मात्परमार्थसत्। किञ्च, 'यथैव हि विशेषः (स्वलक्षणरूपः) स्वेनासाधरणेन रूपेण सामान्यासम्भविना विसदृशपरिणामात्मना लक्ष्यते तथा सामान्यमपि स्वेनासाधारणेन रूपेण सदृशपरिणामात्मना विशेषासम्भविना लक्ष्यते इति कथं स्वलक्षणत्वेन विशेषाद् भिद्यते? यथा च विशेषः स्वामर्थक्रियां कुर्वन् व्यावृत्तिज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारी तथा सामान्यमपि स्वामर्थक्रियामन्वयज्ञानलक्षणां कुर्वत् कथमर्थक्रियाकारि न स्यात् तद्बाह्यां पुनर्वाह-दोहाद्यर्थक्रियां यथा न सामान्यं कर्तुमुत्सहते तथा विशेषोऽपि केवलः, सामान्यविशेषात्मना वस्तुनो गवादेस्तत्रोपयोगात्। इत्यर्थक्रियाकारित्वेनापि तयोरभेदः सिद्धः।'—अष्टस० पृ. १२१। ततो यदुक्तं धर्मकीर्त्तिना—

यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्।
अन्यत्संवृतिसत् प्रोक्ते ते स्वसामान्यलक्षणे॥'

—प्रमाणवा० ३-३ इति।

सामान्यस्य परमार्थत्वमेव, अबाधितत्वात्। प्रत्युत सौगताभिमत एव स्वलक्षणे विवादः। तस्मान्न निर्विकल्पकरूपत्वं प्रत्यक्षस्य।

[नैयायिकाभिमतस्य सन्निकर्षस्य प्रत्यक्षत्वनिरासः]

§ ७. [1]सन्निकर्षस्य च यौगाभ्युपगतस्याचेतनत्वात् कुतः[2]प्रमितिकरणत्वम्, कुतस्तरां प्रमाणत्वम्, कुतस्तमां प्रत्यक्षत्वम्?

§ ८. [3]किञ्च, रूपप्रमितेरसन्निकृष्टमेव चक्षुर्जनकम्, अप्राप्यकारित्वात्तस्य। ततः सन्निकर्षाभावेऽपि साक्षात्कारिप्रमोत्पत्तेर्न सन्निकर्षरूपतैव प्रत्यक्षस्य। न चाप्राप्यकारित्वं चक्षुषोऽप्रसिद्धम्, प्रत्यक्षतस्तथैव[4] प्रतीतेः। ननु [5]प्रत्यक्षागम्यामपि चक्षुषो विषयप्राप्तिमनुमानेन साधयिष्यामः परमाणुवत्। यथा प्रत्यक्षासिद्धोऽपि, परमाणुः कार्यान्यथानुपपत्त्यानुमानेन[6] साध्यते तथा 'चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकं [7]बहिरिन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत्' इत्यनुमानात्

तन्निरस्तम्; 'सामान्यलक्षण-स्वलक्षणयोर्हि भेदाभावात्'–अष्टस० पृ० १२१

१ इन्द्रियायार्थयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः। २ अज्ञाननिवृत्तिरूपप्रमां प्रति करणत्वं प्रमितिकरणत्वम्। तच्च सन्निकर्षस्य न सम्भवति, जडत्वात्। प्रमितिकरणत्वासम्भवे च न तस्य प्रमाणत्वम्, प्रमाकरणस्यैव प्रमाणत्वाभ्युपगमात्। तदभावे च न प्रत्यक्षत्वमिति भावः। ३ दोषान्तरमाह **किञ्चेति**। चक्षुर्हि असम्बद्धमेव रूपज्ञानस्य जनकं भवति, अप्राप्तार्थप्रकाशकत्वात्। न हि चक्षुः पदार्थं प्राप्य प्रकाशयति, अपि तु दूरादेव। ४ अप्राप्यकारित्वस्यैव। ५ प्रत्यक्षेणापरिच्छेद्याम्। ६ 'परमाणुरस्ति द्व्यणुकादिकार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः' इत्यनुमानेन। ७ बहिःपदं मनोव्यवच्छेदार्थम्, मनो हि न बहिरिन्द्रियं तस्यान्तःकरणत्वात्। तच्चाप्राप्यकारीति। अत्र व्याप्तिः–यद्बहिरिन्द्रियं तत्प्राप्तार्थप्रकाशकम्, यथा स्पर्शनेन्द्रियम्। यन्न प्राप्तार्थप्रका-

प्राप्तिसिद्धिः । प्राप्तिरेव हि सन्निकर्षस्ततो न सन्निकर्षस्याव्याप्तिरिति चेत्; न; अस्यानुमानाभासत्वात्[१] । तद्यथा—

§ ९. चक्षुरित्यत्र कः पक्षोऽभिप्रेतः[२]? किं लौकिकं चक्षुरुतालौकिकम्? [३]आद्ये हेतोः [४]कालात्ययापदिष्टत्वम्, गोलकाख्यस्य1 लौकिकचक्षुषो विषयप्राप्तेः प्रत्यक्षबाधितत्वात् । द्वितीये[५] त्वाश्रयासिद्धिः, अलौकिकस्य[६] चक्षुषोऽद्याऽप्यसिद्धेः । शाखासुधादीधिति[७] समानकाल[८] ग्रहणा2न्यथानुपपत्तेश्च3 चक्षुरप्राप्यकारीति निश्चीयते । तदेवं सन्निकर्षाभावेऽपि चक्षुषा रूपप्रतीतिर्जायत इति सन्निकर्षोऽव्यापक[९] त्वात्प्रत्यक्षस्य स्वरूपं न भवतीति स्थितम् ।

§ १०. [१०]अस्य च प्रमेयस्य प्रपञ्चः[११] **प्रमेयकमलमार्त्तण्डे**

शकं तन्न बहिरिन्द्रिम्, यथा मनः, बहिरिन्द्रियं चेदं चक्षुः, तस्मात्प्राप्तार्थप्रकाशकमिति भावः ।

१ सदोषानुमानत्वमनुमानाभासत्वम् । २ स्वीकृतो भवता यौगेन । ३ प्रथमे पक्षे । ४ बाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तो हि हेतुः कालात्ययापदिष्ट उच्यते । ५ उत्तरविकल्पे—अलौकिकं चक्षुरित्यभ्युपगमे । ६ किरणरूपस्य । ७ सुधादीधितिः—चन्द्रमाः । ८ शाखाचन्द्रमसोस्तुल्यकालग्रहणं दृष्टं ततो ज्ञायते चक्षुरप्राप्यकारीति । प्राप्यकारित्वे तु क्रमश एव तयोर्ग्रहणं स्यात् न युगपत्, परं युगपत्तयोर्ग्रहणं सर्वजनसाक्षिकमिति भावः । ९ अव्याप्तिदोषदुष्टत्वात् । १० एतस्य सन्निकर्षप्रामाण्यविचारस्य । ११ विस्तरः ।

---

1 'क्षस्य' इति म मु प्रत्योः पाठः । 2 'ग्रहणाद्यन्यथानु' इति आ म प मु प्रतिपाठः । 3 आ म मु प्रतिषु 'च' पाठो नास्ति ।

[१-१ तथा २-४] सुलभः[1]। संग्रहग्रन्थत्वात्तु नेह[2] प्रतन्यते[3]। एवं च न **सौगताभिमतं** निर्विकल्पं प्रत्यक्षम्, नापि **यौगाभिमत** इन्द्रियार्थसन्निकर्षः[4]। किं तर्हि? विशदप्रतिभासं ज्ञानमेव प्रत्यक्षं सिद्धम्।

[प्रत्यक्षं द्विधा विभज्य सांव्यवहारिकस्य लक्षणपुरस्सरं भेदनिरूपणम्]

§ ११. तत्प्रत्यक्षं द्विविधम्।—सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति। तत्र देशतो विशदं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्। यज्ज्ञानं देशतो विशदमीषन्निर्मलं तत्सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमित्यर्थः। [5]तच्चतुर्विधम्—अवग्रहः, ईहा, अवायः, धारणा चेति। [6]तत्रेन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनान्तरभावी सत्ताऽवान्तरजातिविशिष्टवस्तुग्राही[7] ज्ञानविशेषोऽवग्रहः—यथाऽयं पुरुष इति। नाऽयं संशयः, [8]विषयान्तरव्युदासेन [9]स्वविषयनिश्चायकत्वात्। [10]तद्विपरीतलक्षणो हि संशयः। [11]**यद्राजवार्त्तिकम्**—"[12]अनेकार्थानिश्चिताऽपर्युदासात्मकः संशयस्तद्विपरीतोऽवग्रहः"

१ सुबोधः। २ अत्र **न्यायदीपिकायाम्**। ३ विस्तार्यते। ४ प्रत्यक्षमिति सम्बन्धः। ५ सांव्यवहारिकप्रत्यक्षम्। ६ अवग्रहादिषु मध्ये। ७ इन्द्रियार्थयोः समवधानं सन्निपातः सम्बन्ध इति यावत्, तत्पश्चादुत्पन्नो यः सत्तालोचनरूपः सामान्यप्रतिभासस्तस्यानन्तरं जायमानः, अथ चावान्तरसत्ताविशिष्टवस्तुग्राहको यो ज्ञानविशेषः सोऽवग्रह इति भावः। ८ स्वविषयादन्यो विषयो विषयान्तरम्, तस्य व्युदासो व्यवच्छेदस्तेन स्वविषयातिरिक्तविषयव्यवच्छेदेन। ९ स्वविषयभूतपरमार्थैककोटिनिश्चायको ह्यवग्रहः। १० अवग्रहात्सर्वथा विपरीतः संशयः। ११ अवग्रह-संशययोर्भेदसाधकं तत्त्वार्थराजवार्त्तिकीयं लक्षणं प्रदर्शयति **यदिति**। १२ अयमर्थः—नानार्थ-

1 'तत्कियत्प्रकारं, तद्विविधं' इति म प्रतिपाठः।

[१-१५-६] इति । [1]**भाष्यं च**—"संशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रहः[2]" [१-१५-१०] इति । अवग्रहगृहीतार्थसमुद्भूतसंशयनिराशाय यतनमीहा[3] । तद्यथा—पुरुष इति निश्चितेऽर्थे किमयं दाक्षिणात्य[4] उतौदीच्य[5] इति संशये सति दक्षिणात्येन भवितव्यमिति तन्निरासायेहाख्यं ज्ञानं जायत इति । भाषादिविशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः, यथा दाक्षिणात्य एवायमिति । [6]कालान्तराविस्मरणयोग्यतया तस्यैव

विषयकः, अनिश्चयात्मकः, विषयान्तरव्यवच्छेदकः संशयः । अवग्रहस्तु तद्विपरीतः—एकार्थविषयकः, निश्चयात्मकः, विषयान्तरव्यवच्छेदकश्चेति ।

१ तत्त्वार्थराजवार्त्तिकभाष्यम् । २ सति संशये पदार्थस्य निर्णयो न भवति, अवग्रहे तु भवत्येवेति भावः । ३ ननु कथमीहाया ज्ञानत्वम् ? यतो हीहाया इच्छारूपत्वाच्चेष्टात्मकत्वाद्वा; मैवम्; ईहा जिज्ञासा, सा च विचाररूपा, विचारश्च ज्ञानम्, नातो कश्चिद्दोषः । तथा चोक्तम्—'ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम् ।' तत्त्वार्थाधि० भा० १-१५, 'ईहा-धारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वमुन्नेयं तदुपयोगविशेषात् ।'—**लघीय० स्वोपज्ञवि०** का० ६, 'ज्ञानेने (ज्ञानमी)हाभिलाषात्मा संस्कारात्मा न धारणा ।। इति केचित्प्रभाषन्ते तच्च **न** व्यवतिष्ठते । विशेषवेदनस्येह दृढस्येहात्वसूचनात् ।। × × अज्ञानात्मकतायां तु संस्कारस्येह (हि)तस्य वा । ज्ञानोपादानता न स्याद्रूपादेरिव सास्ति च ।"—**तत्त्वार्थश्लोकवा०** १-१५-१९, २०, २२, 'ईहा च यद्यपि चेष्टोच्यते तथापि चेतनस्य सेति ज्ञानरूपैवेति युक्तं प्रत्यक्षभेदत्वमस्याः'—प्रमाणमी० १-१-२७, 'ईहा-धारणयोर्ज्ञानोपादानत्वात् ज्ञानरूपतोन्नेया'—प्रमाणमी० १-१-२९ । ४ दक्षिणदेशीयः । ५ उत्तरदेशीयः । ६ अनुभवकालाद्भिन्नकालः कालान्तरमागामिसमय इत्यर्थः ।

ज्ञानं धारणा[१]। यद्वशादुत्तरकालेऽपि स1 इत्येवं स्मरणं जायते।

§ १२. ननु पूर्वपूर्वज्ञानगृहीतार्थग्राहकत्वादेतेषां[२] धारावाहिकवदप्रामाण्यप्रसङ्ग इति चेत्; न; विषयभेदेनागृहीतग्राहकत्वात्। तथा हि–योऽवग्रहस्य विषयो नासावीहायाः, यः पुनरीहाया नायमवायस्य, यश्चावायस्य नैष2 धारणाया इति परिशुद्धप्रतिभानां[३] सुलभमेवैतत्। [४]तदेतदवग्रहादिचतुष्टयमपि यदेन्द्रियेण जन्यते तदेन्द्रियप्रत्यक्षमित्युच्यते, यदा पुनरनिन्द्रियेण तदाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षं गीयते[५]। इन्द्रियाणि स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्राणि पञ्च, अनिन्द्रियं तु मनः। तद्द्वयनिमित्तकमिदं [६]लोकसंव्यवहारे प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धत्वात्सांव्यवहारिक[७]प्रत्यक्षमुच्यते। तदुक्तं **परीक्षामुखे**3–

१ 'स्मृतिहेतुर्धारणा, संस्कार इति यावत्' लघी०स्वोपज्ञविवृ०का० ६। ननु धारणायाः कथं ज्ञानत्वम्, संस्काररूपत्वात्? न च संस्कारस्य ज्ञानरूपतेति चेत्; तन्न; उक्तमेव पूर्वम्–'ईहा-धारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वम्, तदुपयोगविशेषात्' इति। 'अस्य ह्यज्ञानरूपत्वे ज्ञानरूपस्मृतिजनकत्वं न स्यात्, न हि सत्ता सत्तान्तरमनुविशति' (प्रमाणमी० १-१-२९)। 'अवग्रहस्य ईहा अवायस्य च धारणा व्यापारविशेषः, न च चेतनोपादानो व्यापारविशेषः अचेतनो युक्तोऽतिप्रसङ्गात्' (न्यायकुमु० पृ० १७३)। २ अवग्रहादीनाम्। ३ विशुद्धबुद्धीनाम्। ४ अवग्रहादिचतुष्टयस्यापि इन्द्रियानिन्द्रियजन्यत्वेन द्विविधत्वं प्रदर्शयति **तदेतदिति**। ५ कथ्यते। ६ लोकस्य यः समीचीनो बाधारहितः प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपो व्यवहारस्तस्मिन्। ७ संव्यवहारप्रयोजनकं सांव्यवहारिकम्—अपारमार्थिकमित्यर्थः।

1 'स एवेत्येवं' **द प** प्रतिपाठः। 2 'नैव' इति **म** प्रतिपाठः। 3 **आ म मु** प्रतिषु 'परीक्षामुखे' इति पाठो नास्ति।

"इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम्" (२-५) इति। इदं चामुख्यप्रत्यक्षम्, उपचारसिद्धत्वात्। वस्तुतस्तु[१] परोक्षमेव, मतिज्ञानत्वात्। कुतो नु खल्वेतन्मतिज्ञानं परोक्षमिति? उच्यते— "आद्ये परोक्षम्" [तत्त्वार्थसू० १-११] इति सूत्रणात्[1]। आद्ये मति-श्रुतज्ञाने परोक्षमिति हि सूत्रार्थः। उपचारमूलं[२] पुनरत्र देशतो वैशद्यमिति कृतं विस्तरेण।

[पारमार्थिकप्रत्यक्षं लक्षयित्वा तद्भेदानां प्ररूपणम्]

§ १३. सर्वतो विशदं पारमार्थिकप्रत्यक्षम्। यज्ज्ञानं साकल्येन[३] स्पष्टं तत्पारमार्थिकप्रत्यक्षम्, मुख्यप्रत्यक्षमिति यावत्। [४]तद् द्विविधम्—विकलं सकलं च। तत्र कतिपयविषयं विकलम्। [५]तदपि द्विविधम्—अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं च[2]। तत्रावधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमसहकृताज्जातं रूपिद्रव्यमात्रविषयमवधिज्ञानम्[६]। मनःपर्ययज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोप-

१ ननु यदि प्रकृतं ज्ञानममुख्यतः प्रत्यक्षं तर्हि मुख्यतः किं स्यादित्यत आह **वस्तुतस्त्विति**। २ इन्द्रियानिन्द्रियजन्यज्ञानस्योपचारतः प्रत्यक्षत्वकथने निमित्तम्। ३ सामस्त्येन। ४ पारमार्थिकप्रत्यक्षम्। ५ विकलमपि प्रत्यक्षम्। ६ अवधिः सीमा मर्यादा इति यावत्। स विषयो यस्य ज्ञानस्य तदवधिज्ञानम्। अत एवेदं ज्ञानं सीमाज्ञानमपि कथ्यते। 'अवायन्ति व्रजन्तीत्यवायाः पुद्गलाः, तान् दधाति जानातीत्यवधिः' × × 'अवधानम् अवधिः। कोऽर्थः? अधस्ताद्बहुतरविषयग्रहणादवधिरुच्यते, देवा खल्ववधिज्ञानेन

1 सूत्रभणनात्' इति **म** प्रतिपाठः। 2 'चेति' पाठो **म आ मु** प्रतिषु।

शमसमुत्थं परमनोगतार्थविषयं मनःपर्ययज्ञानम्[1]। मतिज्ञानस्येवावधिमनःपर्ययोरवान्तरभेदाः[2] **तत्त्वार्थराजवार्त्तिक-श्लोकवार्त्तिकभाष्याभ्यामवगन्तव्याः**[3]।

सप्तमनरकपर्यन्तं पश्यन्ति। उपरि स्तोकं पश्यन्ति, निजविमानध्वजदण्डपर्यन्तमित्यर्थः।'—**तत्त्वार्थवृ० श्रु०** १-६। 'अवाग्धानात् (पुद्गलपरिज्ञानात्) अवच्छिन्नविषयत्वाद्वा (रूपिविषयत्वाद्वा) अवधिः।' **सर्वार्थ०** १-६।

१ परिकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते, साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्ययः।' **सर्वार्थ०** १-६। २ प्रभेदाः। ३ तदित्थम्—'अनुगाम्यननुगामिवर्द्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितभेदात् षड्विधोऽवधिः × × पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदाः—देशावधिः, परमावधिः, सर्वावधिश्चेति। तत्र देशावधिस्त्रेधा—जघन्यः, उत्कृष्टः, अजघन्योत्कृष्टश्चेति। तथा परमावधिरपि त्रिधा (जघन्यः, उत्कृष्टः, अजघन्योत्कृष्टश्च)। सर्वावधिरविकल्पत्वादेक एव। उत्सेधांगुलासंख्येयभागक्षेत्रो देशावधिर्जघन्यः। उत्कृष्टः कृत्स्नलोकः। तयोरन्तरालेऽसंख्येयविकल्प अजघन्योत्कृष्टः। परमावधिर्जघन्य एकप्रदेशाधिकलोकक्षेत्रः। उत्कृष्टोऽसंख्येयलोकक्षेत्रः, अजघन्योत्कृष्टो मध्यमक्षेत्रः। उत्कृष्टपरमावधिक्षेत्राद् बहिरसंख्यातक्षेत्रः सर्वावधिः। वर्द्धमानः, हीयमानः, अवस्थितः, अनवस्थितः, अनुगामी, अननुगामी, अप्रतिपाती, प्रतिपातीत्येतेऽष्टौ भेदा देशावधेर्भवन्ति। हीयमान-प्रतिपातिभेदवर्ज्या इतरे षड्भेदा भवन्ति परमावधेः। अवस्थितोऽनुगाम्यननुगाम्यप्रतिपातीत्येते चत्वारो भेदाः सर्वावधेः।'—**तत्त्वार्थवा०** १,२२,४। 'अनुगाम्यननुगामी वर्द्धमानो हीयमानोऽवस्थितोऽनवस्थित इति षड्विकल्पोऽवधिः संप्रतिपाताप्रतिपातयोरत्रैवान्तर्भावात्। देशावधिः परमावधिः सर्वावधिरिति च परमागमप्रसिद्धानां पूर्वोक्तयुक्त्या सम्भावितानामत्रोपसंग्रहात्।'—**तत्त्वार्थश्लो० भा०** १-२२-१०। 'स मनःपर्ययो द्वेधा। कुतः? सूत्रोक्तविकल्पात्। ऋजुमतिर्विपुलमतिरिति × × आद्य ऋजुमतिमनःपर्ययस्त्रेधा। कुतः? ऋजुमनोवाक्कायविषयभेदात्। ऋजुमनस्कृतार्थज्ञः, ऋजुवाक्कृतार्थज्ञः,

§ १४. सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकलम्[१]। [२]तच्च [३]घातिसंघात-निरवशेषघातन1समुन्मीलितं केवलज्ञानमेव। [४]"सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य"[५] [तत्त्वार्थसू० १-२६] इत्याज्ञापितत्वात्2।

§ १५. तदेवमवधि-मनःपर्यय-केवलज्ञानत्रयं सर्वतो वैशद्यात् पारमार्थिक3प्रत्यक्षम्। सर्वतो वैशद्यं [६]चात्ममात्रसापेक्षत्वात्।

ऋजुकायकृतार्थश्चेति।·········द्वितीयो विपुलमतिः षोढा भिद्यते। कुतः? ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात्। ऋजुविकल्पाः पूर्वोक्ताः, वक्रविकल्पाश्च तद्विपरीता योज्याः'—**तत्त्वार्थवा०** १,२३,६-८। एवमेव **श्लोकवार्त्तिके** (१-२३) मनःपर्ययभेदाः प्रोक्ताः।

१ पारमार्थिकप्रत्यक्षमिति सम्बन्धः। २ सकलप्रत्यक्षम्। ३ घातिनां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीयान्तरायकर्मणां संघातः समूहस्तस्य निरवशेषेण सामस्त्येन घातनात् क्षयात्समुन्मीलितं जातमित्यर्थः। ४ 'सर्वग्रहणं निरवशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। ये लोकालोकभिन्नास्त्रिकालविषया द्रव्य-पर्याया अनन्ताः, तेषु निरवशेषेषु केवलज्ञानविषयनिबन्ध इति प्रतिपत्त्यर्थं सर्वग्रहणम्। यावाँल्लोकालोकस्वभावोऽनन्तस्तावन्तोऽनन्तानन्ता यद्यपि स्युस्तानपि ज्ञातुमस्य सामर्थ्यमस्तीत्यपरिमितमाहात्म्यं केवलज्ञानं वेदितव्यम्।' **तत्त्वार्थवा०** १,२९,९। ५ विषयनिबन्धः (सम्बन्धः) इति शेषः। ६ आत्मानमेवापेक्ष्यैतानि त्रीणि ज्ञानान्युत्पद्यन्ते, नेन्द्रियानिन्द्रियापेक्षा अत्रास्ति। उक्तं च—'·········अत एवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथाऽऽलोकानपेक्षा।'—**अष्टश०** का० ३; 'न हि सर्वार्थैः सकृदक्षसम्बन्धः सम्भवति साक्षात्परम्परया वा। ननु चावधि-मनःपर्ययज्ञानिनोर्देशतो विरतव्यामोहयोरसर्वदर्शनयोः कथमक्षानपेक्षा संलक्षणीया? तदावरण-

---

1 **म मु** प्रत्योः 'घातनात्' इति पाठः। 2 'इत्यादिज्ञापितत्वात्' इति **द प** प्रतिपाठः। 3 'पारमार्थिकं प्रत्यक्षं' इति **म मु** प्रतिपाठः।

§ १६. [1]नन्वस्तु केवलस्य पारमार्थिकत्वम् अवधि-मनःपर्यययोस्तु न युक्तम्, विकलत्वादिति चेत्; न[2]; साकल्य-वैकल्ययोरत्र विषयोपाधिकत्वात्[3]। तथा हि–सर्वद्रव्यपर्यायविषयमिति केवलं सकलम्। अवधि-मनःपर्ययौ तु कतिपयविषयत्वाद्विकलौ। नैतावता तयोः पारमार्थिकत्वच्युतिः[4]। केवलवत्तयोरपि वैशद्यं स्वविषये साकल्येन समस्तीति तावपि पारमार्थिकावेव[5]।

[अवध्यादित्रयस्यातीन्द्रियप्रत्यक्षत्वप्रतिपादनम्]

§ १७. [6]कश्चिदाह–"अक्षं नाम चक्षुरादिकमिन्द्रियम्, [7]तत्

क्षयोपशमातिशयवशात्स्वविषये परिस्फुटत्वादिति ब्रूमः।'–**अष्टस०** पृ. ५०।

१ अवधिमनःपर्यययोः पारमार्थिकत्वाभावमाशङ्कते **नन्विति**। २ समाधत्ते नेति। अयं भावः—अत्र हि केवलस्य यत्सकलप्रत्यक्षत्वमवधिमनःपर्यययोश्च विकलप्रत्यक्षत्वमुक्तं तद्विषयकृतम्। सकलरूप्यरूपिपदार्थविषयत्वेन केवलं सकलप्रत्यक्षमुच्यते, रूपिमात्रविषयत्वेन चावधिमनःपर्ययौ विकलप्रत्यक्षौ कथ्येते। ततो न तयोः पारमार्थिकत्वहानिः। पारमार्थिकत्वप्रयोजकं हि स्वविषये साकल्येन वैशद्यम्, तच्च केवलवत्तयोरपि विद्यत एवेति। ३ विषय उपाधिर्निमित्तं ययोस्तौ विषयोपाधिकौ विषयनिमित्तकौ तयोर्भावस्तत्त्वं तस्मात् विषयोपाधिकत्वात् विषयनिमित्तकत्वादित्यर्थः। ४ पारमार्थिकत्वाभावः। ५ एवकारेणापारमार्थिकत्वव्यवच्छेदः, तेन नापारमार्थिकौ इति फलति। ६ 'अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्, अक्षाणि इन्द्रियाणि'—प्रशस्त०भा० पृ. ९४। 'अक्षमक्षं प्रति वर्त्तत इति प्रत्यक्षम्'—**न्यायप्र०** पृ. ७। ये खलु 'इन्द्रियव्यापारजनितं प्रत्यक्षं—अक्षमक्षं प्रति यद्वर्त्तते तत्प्रत्यक्षमित्यभ्युपगमात्' (**सर्वार्थ०** १-१२) इति प्रत्यक्षलक्षणमामनन्ति तेषामियं शङ्का, ते च **वैशेषिकादयः**। ७ इन्द्रियमाश्रित्य।

प्रतीत्य 'यदुत्पद्यते तदेव प्रत्यक्षमुचितम्, नान्यत्'[३] [ ] इति; [३]तदसत्; आत्ममात्रसापेक्षाणामवधिमनःपर्ययकेवलानामिन्द्रियनिरपेक्षाणामपि प्रत्क्षत्वाविरोधात् । स्पष्टत्वमेव हि प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं[४] नेन्द्रियजन्यत्वम्[५] । अत एव[६] हि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानां ज्ञानत्वेन [७]प्रतिपन्नानां मध्ये "आद्ये परोक्षम्" [तत्त्वार्थसू० १-११] "प्रत्यक्षमन्यत्" [तत्त्वार्थसू० १-१२] इत्याद्ययोर्मतिश्रुतयोः परोक्षत्वकथनमन्येषां त्ववधिमनःपर्ययकेवलानां [८]प्रत्यक्षत्ववाचोयुक्तिः ।

§ १८. कथं पुनरेतेषां[९] प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वम्[१०] ? इति चेत्; रूढित[११] इति ब्रूमः ।

---

१ यज्ज्ञानम् । २ नेन्द्रियनिरपेक्षम्, तथा च नावध्यादित्रयं प्रत्यक्षमिति शङ्कितुराशयः । ३ तदयुक्तम् । ४ प्रत्यक्षतायां निबन्धनम् । ५ यतो हि 'यदि इन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमिष्यते, एवं सत्याऽऽप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानं न स्यात् । न हि तस्येन्द्रियपूर्वोऽर्थाधिगमः ।—**सर्वार्थ०** १-१२ । ६ स्पष्टत्वस्य प्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वादेव, यत एव स्पष्टत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं तत एव इत्यर्थः । ७ अभ्युपगतानामवगतानामिति यावत् । ८ प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनं सङ्गतं सूत्रकाराणाम् । यदाह **अकलङ्कदेवो**ऽपि 'आद्ये परोक्षमपरं प्रत्यक्षं प्राहुराञ्जसम् ।'—**न्यायवि०** का० ४७४ । ९ अवधिमनःपर्ययकेवलानाम् । १० कथनयोग्यता, व्यपदेश इति यावत् । ११ **अक्षमक्षं** प्रति यद्वर्त्तते तत्प्रत्यक्षमितीमं प्रत्यक्षशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थमनाश्रित्यार्थसाक्षात्कारित्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तसद्भावात् । 'अक्षाश्रितत्व च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य (प्रत्यक्षशब्दस्य), न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् । अनेन त्वक्षाश्रितत्वेन एकार्थसमवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते तदेव च शब्दस्य (प्रत्यक्षशब्दस्य)प्रवृत्ति-

§ १९. अथवा[१] अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तन्मात्रापेक्षोत्पत्तिकं प्रत्यक्षमिति [२]किमनुपपन्नम्1 ? तर्हि इन्द्रिय-जन्यमप्रत्यक्षं प्राप्तमिति चेत्; हन्त विस्मरणशीलत्वं वत्सस्य[३]। अवोचाम खल्वौपचारिकं प्रत्यक्षत्वमक्षजज्ञानस्य[४]। ततस्तस्या-[५] प्रत्यक्षत्वं कामं[६] प्राप्नोतु, का नो[७] हानिः। [८]एतेन "अक्षेभ्यः

निमित्तम्। ततश्च यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तत्प्रत्यक्षमुच्यते। यदि चाक्षाश्रितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यादिन्द्रियज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्येत, न मानसादि, यथा गच्छतीति गौः इति गमनक्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दो गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति तथा च गच्छति अगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति'—**न्यायबिन्दुटी॰** पृ॰ ११। तथा प्रकृतेऽपि अक्षजन्येऽनक्षजन्ये च ज्ञाने प्रत्यक्षशब्दः प्रवर्त्तते। अतो युक्तमेवावध्यादित्रयाणामिन्द्रियनिरपेक्षाणामपि प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वम्, स्पष्टत्वापरनामार्थसाक्षात्कारित्वस्य तत्र प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावादिति भावः।

१ यद्ययमाग्रहः स्याद्व्युत्पत्तिनिमित्तेनैव भाव्यमिति तदा तदप्याह **अथवेति**। यथोक्तं **श्रीप्रभाचन्द्रैरपि**—'यदि वा, व्युत्पत्तिनिमित्तमप्यत्र विद्यत एव। तथा हि–अक्षशब्दोऽयमिन्द्रियवत् आत्मन्यपि वर्त्तते, अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा इति व्युत्पत्तेः। तमेव क्षीणोपशान्तावरणं क्षीणावरणं वा प्रति नियतस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षशब्दातिशयता सुघटैव।'—**न्यायकु॰** पृ॰ २६। २ नायुक्तमिति भावः। ३ बालस्य, विस्मरणशीलः प्रायो बाल एव भवति, अत उक्तं **वत्सस्येति**। ४ इन्द्रियजन्यज्ञानस्य। ५ इन्द्रियजज्ञानस्य। ६ यथेष्टम्। ७ अस्माकम्—जैनानाम्। ८ 'अक्षमक्षं प्रतीत्य यदुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं' इति, 'अक्षमक्षं प्रति वर्त्तत इति प्रत्यक्षम्' इति वा प्रत्यक्षलक्षणनिरसनेन।

1 **आ** प्रतौ 'किमनुपपन्नम्' इति पाठो नास्ति।

परावृत्तं[1] परोक्षम्" [　　　　] इत्यपि [2]प्रतिविहितम्, अवैशद्यस्यैव परोक्षलक्षणत्वात्[3]।

§ २०. [4]स्यादेतत् अतीन्द्रियं प्रत्यक्षमस्तीत्यतिसाहसम्; [5]असम्भावितत्वात्। यद्यसम्भावितमपि कल्प्येत, गगनकुसुमादिकमपि कल्प्यं स्यात्; न1 स्यात्; गगनकुसुमादे2रप्रसिद्धत्वात्, [6]अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य तु प्रमाणसिद्धत्वात्। तथा हि—केवलज्ञानं तावत्किञ्चिज्ज्ञानां कपिलादीनामसम्भवदप्यर्हतः सम्भवत्येव। सर्वज्ञो हि स भगवान्।

---

१ व्यावृत्तं रहितमिति यावत्। 'अक्षेभ्यो हि परावृत्तं परोक्षम्'—**तत्त्वार्थश्लो०**पृ० १८३। २ निरस्तम्। ३ यदाहा**ऽकलङ्कदेवः**—'इतरस्य (अविशदनिर्भासिनो ज्ञानस्य) परोक्षता'—**लघी०** स्वो० वि० का ३। ४ अतीन्द्रियप्रत्यक्षाभावमाशङ्कते **स्यादेतदिति**। ५ लोके खलु इन्द्रियैरुत्पन्नमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमुच्यते प्रसिद्धं च, नत्विन्द्रियनिरपेक्षम्, तदन्तरेण तदुत्पत्तेरसम्भवादिति भावः। ६ इन्द्रियनिरपेक्षस्यापि प्रत्यक्षज्ञानस्योत्पत्तेः सम्भवात्। न हि सूक्ष्मान्तरितदूरार्थविषयकं ज्ञानमिन्द्रियैः सम्भवति, तेषां सन्निहितदेशविषयकत्वात्सम्बद्धवर्तमानार्थग्राहकत्वाच्च, 'सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना' (मी० श्लो० सू० ४ श्लो० ८४) इति भावत्कवचनात्। न च तज्ज्ञानं प्रत्यक्षमेव नास्ति, चोदनाप्रभवत्वात्। 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं पुरुषविशेषान्' (शाबरभा० १-१-२) इति वाच्यम्, तज्ज्ञानस्यावैशद्येन परोक्षत्वात्। न हि शब्दप्रभवं ज्ञानं विशदं साक्षाद्रूपं च। प्रत्यक्षज्ञानं तु विशदं साक्षाद्रूपं च। अत एव तयोः साक्षात्त्वेनासाक्षात्त्वेन भेदः।

---

1 **आ** प्रतौ 'इति चेन्न' इति पाठः। 2 **म मु** प्रत्योः 'गगनकुसुमादि'पाठः।

[प्रासङ्गिकी सर्वज्ञसिद्धिः]

§ २१. [1]ननु सर्वज्ञत्वमेवाप्रसिद्धं किमुच्यते[2] सर्वज्ञोऽर्हन्निति, क्वचिदप्यप्रसिद्धस्य[3] विषयविशेषे[4] व्यवस्थापयितुमशक्तेरिति चेत्; न; सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, अग्न्यादिवत्, इत्यनुमानात्सर्वज्ञत्वसिद्धेः। तदुक्तं [5]**स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे**[6]—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥

[का० ५] इति1।

§ २२. सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः परमाण्वादयः, [7]अन्तरिताः कालविप्रकृष्टा रामादयः, दूरा2 देशविप्रकृष्टा मेर्वादयः। एते

तथा चोक्तं **समन्तभद्रस्वामिभिः**—'स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने। भेदः साक्षादसाक्षाच्च······' **आप्तमी०** १०५। सम्भवति च सूक्ष्मादीनां साक्षाद्रूपं ज्ञानम्। साक्षात्कृतेरेव सर्वद्रव्यपर्यायान् परिच्छिनत्ति (केवलाख्येन प्रत्यक्षेण केवली), नान्यतः (नागमात्) इति' (**अष्टश०** का० १०५) इति वचनात्। अतोऽतीन्द्रियं प्रत्यक्षमस्तीति युज्यते।

१ सर्वज्ञाभाववादी मीमांसकश्चार्वाकश्चात्र शङ्कते **नन्विति**। २ भवता जैनेन। ३ कपिलादीनां मध्ये कस्मिंश्चिदपि अप्रतीतस्य सर्वज्ञत्वस्य। ४ व्यक्तिविशेषे अर्हति। ५ समन्तभद्राचार्यैः। ६ देवागमाभिधाप्तमीमांसाप्रकरणे। ७ व्यवहिताः कालापेक्षयेत्यर्थः।

1 **द म मु** प्रतिषु 'इति' पाठो नास्ति। 2 **म मु** प्रत्योः 'दूरार्थाः' पाठः।

स्वभावकालदेशविप्रकृष्टाः पदार्था धर्मित्वेन विवक्षिताः । तेषां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं साध्यम् । [1]इह प्रत्यक्षत्वं प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वम्, विषयिधर्मस्य[2] विषयेऽप्युपचारोपपत्तेः । अनुमेयत्वादिति हेतुः । अग्न्यादिर्दृष्टान्तः । अग्न्यादावनुमेयत्वं कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन सहोपलब्धं परमाण्वादावपि कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं साधयत्येव । न चाण्वादावनुमेयत्वमसिद्धम्।, [3]सर्वेषामप्यनुमेयमात्रे[4] विवादाभावात् ।

§ २२. [5]अस्त्वेवं सूक्ष्मादीनां प्रत्यक्षत्वसिद्धिद्वारेण कस्यचिदशेषविषयं प्रत्यक्षज्ञानम् । तत्पुनरतीन्द्रियमिति कथम् ? इत्थम्—यदि [6]तज्ज्ञानमैन्द्रियिकं[7] स्यात् अशेषविषयं न स्यात्, इन्द्रियाणां स्वयोग्यविषय एव ज्ञानजनकत्वशक्तेः । सूक्ष्मादीनां च [8]तदयोग्य-

१ अत्रानुमाने । २ ज्ञानधर्मस्य प्रतिभासस्य, अयमाशयः—'सूक्ष्मादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः' इत्यत्र सूक्ष्मादीनां यत्प्रत्यक्षत्वमुक्तं तद्धि प्रत्यक्षज्ञानवृत्तिर्धर्मो न तु सूक्ष्मादिपदार्थवृत्तिस्तत्कथं सूक्ष्मादीनां प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनं श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्याणां सङ्गतम् ? अस्येदं समाधानम्—प्रत्यक्षत्वमत्र प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वं विवक्षितम्, तथा च सूक्ष्मादीनां प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वेनोपचारतस्तेषां प्रत्यक्षत्वमुक्तं 'घटः प्रतिभासते, पटः प्रतिभासते, घटज्ञानम्, पटज्ञानम्' इति भवति हि व्यवहारो न च घटस्य प्रतिभासः पटस्य वा प्रतिभासः, तस्य ज्ञानधर्मत्वात् । एवं न घटस्य ज्ञानं पटस्य वा ज्ञानम्, तस्यात्मनिष्ठत्वेन घटपटादिनिष्ठत्वासम्भवात्, आत्मनो हि तद् गुणस्तथापि तथा व्यवहारो भवत्येव । एवं प्रकृतेऽपि बोध्यम् । ३ वादिप्रतिवादिनाम् । ४ अण्वादेरनुमानविषयतायाम् । ५ पुनरपि अतीन्द्रियप्रत्यक्षाभावमाशङ्कते **अस्त्वेवमिति** । ६ सर्वज्ञज्ञानम् । ७ इन्द्रियजम् । ८ इन्द्रियायोग्यविषयत्वात्, न हीन्द्रियाणि सकृत्सर्वार्थेषु ज्ञानमुपजनयितुमलम्, सम्बद्धवर्तमानार्थ-

1 म मु प्रत्योः 'प्रसिद्धं' पाठः ।

त्वादिति । तस्मात्सिद्धं तदशेषविषयं ज्ञानमनैन्द्रियकमेव[1] इति[1] ।

विषयत्वात् । किञ्च, इन्द्रियाणि सकृत्सर्वार्थसाक्षात्करणे बाधकान्येव आवरणनिबन्धनत्वात् । तदुक्तम्—'भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वात् । कात्स्न्र्यतो ज्ञानावरणसंक्षये हि भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाक् सिद्धः । न च सकलावरणसंक्षये भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनानां सम्भवः, कारणाभावे कार्यानुपपत्तेः' **अष्टस०** पृ० ४५ । श्री**माणिक्यनन्द्य**प्याह—'सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात्'**परीक्षा०**२-१३ । **अकलङ्कदेवै**रप्युक्तम्—

कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु स्यात्कर्मपटलाच्छता ।
संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः ॥
साक्षात्कर्तुं विरोधः कः सर्वथाऽऽवरणात्यये ? ।
सत्यमर्थं तथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति ॥'

न्यायवि० ३६१, ३६२ ।

अथ 'न कश्चिद्भवभृदतीन्द्रियप्रत्यक्षभागुपलब्धो यतो भगवांस्तथा सम्भाव्यते; इत्यपि न शङ्का श्रेयसी; तस्य भवभृतां प्रभुत्वात् । न हि भवभृत्साम्ये दृष्टो धर्मः सकलभवभृत्प्रभौ सम्भावयितुं शक्यः, तस्य संसारिजनप्रकृतिमभ्यतीतत्वात्' (अष्टस० पृ० ४५) । कथं संसारिजनप्रकृतिमभ्यतीतोऽसौ ? इत्यत आह—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ॥

स्वयंभूस्तोत्र का० ७५ ।

ततस्तदशेषविषयं ज्ञानमतीन्द्रियमेव, अशेषविषयत्वान्यथानुपपत्तेरिति ध्येयम् । प्रत्यक्षं विशदज्ञानात्मकं 'प्रत्यक्षत्वात्' इति वत् 'विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतुं ब्रुवतां दोषासम्भवात्' (प्रमाणप० पृ० ६७) ।

१ इन्द्रियेभ्यो निष्क्रान्तम्—अतीन्द्रियमित्यर्थः ।

---

1 **म मु** 'अतीन्द्रियकमेव' इति पाठः ।

अस्मिंश्चार्थे[१] सर्वेषां सर्वज्ञवादिनां न विवादः। यद् बाह्या[२] अप्याहुः[३] —"[४]अदृष्टादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्।" [ ]इति।

[सामान्यतः प्रसिद्धस्य सार्वज्ञ्यस्यार्हति प्रसाधनम्]

§ २४. नन्वस्त्वेवमशेषविषयसाक्षात्कारित्वलक्षणमतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानम्, तच्चार्हत इति कथम्? कस्यचिदिति सर्वनाम्नः सामान्यज्ञापकत्वादिति चेत्; सत्यम्; [५]प्रकृतानुमानात्सामान्यतः सर्वज्ञत्वसिद्धिः। अर्हत[६]एतदिति[1] पुनरनुमानान्तरात्[७]। [८]तथा हि—अर्हन् सर्वज्ञो भवितुमर्हति, निर्दोषत्वात्, यस्तु न सर्वज्ञो नासौ निर्दोषः, यथा रथ्यापुरुष इति [९]केवलव्यतिरेकिलिङ्गकमनुमानम्।

---

१ विषये, अनुमेयत्वादिहेतुना सूक्ष्मादीनां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसाधने इति यावत्। २ जैनेतरा नैयायिकादयः। ३ यथा हि—स्वर्गादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः······वस्तुत्वादागमविषयत्वात्, यद्वस्तु यच्च कथ्यते तत्कस्यचित्प्रत्यक्षं भवति,यथा घटादि'—**न्यायवा०** १-१-७, 'धर्मः कस्यचित्प्रत्यक्षः प्रमेयत्वात् वासोवदिति, यस्य प्रत्यक्षः स योगी'—**प्रमाणसं०** पृ० ६। ४ अदृष्टशब्देन पुण्यपापद्वयमुच्यते, अदृष्टमादिर्येषां ते अदृष्टादयः पुण्यपापादयोऽतीन्द्रियार्थाः। ५ 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्' इत्यस्मादनुमानात्। ६ सर्वज्ञत्वम्। ७ वक्ष्यमाणादन्यस्मादनुमानात्। ८ अनुमानान्तरमेव प्रदर्शयति **तथा हीति**। ९ व्यतिरेकव्याप्तिकाल्लिङ्गात् यदनुमानं क्रियते तद्व्यतिरेकिलिङ्गकानुमानमुच्यते। साध्याभावे साधनाभावप्रदर्शनं व्यतिरेकव्याप्तिः। तथा च प्रकृतेऽनुमाने सर्वज्ञत्वरूपसाध्याभावे निर्दोषत्वरूपसाधनाभावः प्रदर्शितः। तत इदं व्यतिरेकिलिङ्गकानुमानम्। नन्वाशुबोधजनकमन्वयिलिङ्गकमेवानुमानं वाच्यम्, न केवलव्यतिरेकि-

---

1 'एव तदिति' इति **द** प्रतिपाठः।

§ २५. आवरणरागादयो दोषास्तेभ्यो निष्क्रान्तत्वं हि निर्दोषत्वम्।[1] तत्खलु सर्वज्ञत्वमन्तरेण1 नोपपद्यते, किञ्चिज्ज्ञस्यावरणादिदोषरहितत्वविरोधात्। ततो निर्दोषत्वमर्हति विद्यमानं सार्वज्ञ्यं साधयत्येव। निर्दोषत्वं पुनरर्हत्परमेष्ठिनि युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्त्वात्सिद्ध्यति। युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्त्वं च [2]तदभिमतस्य मुक्ति-संसारतत्कारण[त]त्त्वस्यानेकधर्मात्मकचेतनाचेतन2तत्त्वस्य च3 [3]प्रमाणाबाधितत्वात्सुव्यवस्थितमेव।

लिङ्गकम्, तस्य वक्रत्वेनाशु बोधजनकत्वाभावात् 'ऋजुमार्गेण सिद्ध्यन्तं को हि वक्रेण साधयेत्' (वैशे० सूत्रोप० २-१-१) इति वचनात्। किञ्च, व्यतिरेकिणि लिङ्गिनि बहूनि दूषणानि सम्भवन्ति। तथा हि—

'साध्याप्रसिद्धिर्वैधर्म्यं व्यर्थतोपनयस्य च।
अन्वयेनैव सिद्धिश्च व्यतिरेकिणि दूषणम्॥'

—वैशे० सूत्रोप० २-१-१ इति।

ततो न तल्लिङ्गकमनुमानं युक्तमिति चेत्; न; व्याप्तिमद्व्यतिरेकिणोऽपि लिङ्गस्यान्वयिवदाशुबोधजनकत्वात्। व्याप्तिशून्यस्य तूभयस्याप्यगमकत्वात्। अत एवान्तर्व्याप्त्यैव सर्वत्र साध्यसिद्धेरभ्युपगमात्स्याद्वादिभिः। यदुक्तम्—'बहिर्व्याप्तिमन्तरेणान्तर्व्याप्त्या सिद्धम्। यत इयमेवान्यत्रापि प्रधाना' **आप्तमी० वृ०** ६। सा च प्रकृते केवलव्यतिरेकिलिंगकानुमानेऽपि विद्यत एव। ततो नोक्तदोषः।

१ निर्दोषत्वम्। २ अर्हदभिमतस्य। ३ प्रमाणेन बाधितुमशक्यत्वात्। तथा हि—तत्र तावद्भगवतोऽभिमतं मोक्षतत्त्वं न प्रत्यक्षेण बाध्यते, तस्य तदविषयत्वेन तद्बाधकत्वायोगात्। नाऽप्यनुमानेन 'नास्ति कस्यचिन्मोक्षः,

---

1 **आ म मु** 'सर्वज्ञमन्तरेण' पाठः। 2 **आ म मु** प्रतिषु 'चेतनाचेतनात्मक' पाठः। 3 **आ म प मु** प्रतिषु 'च' पाठो नास्ति।

§ २६. [1]एवमपि सर्वज्ञत्वमर्हत एवेति कथम् ? कपिलादीनामपि सम्भाव्यमानत्वादिति चेत्; उच्यते—कपिलादयो न सर्वज्ञाः सदोषत्वात्। सदोषत्वं तु तेषां[2]न्यायागमविरुद्धभाषित्वात्। [3]तच्च [4]तदभिमतमुक्त्याादितत्त्वस्य सर्वथैकान्तस्य[5] च [6]प्रमाणबाधित-

---

सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाविषयत्वात्, कूर्मरोमादिवत्' इत्यादिरूपेण, तस्य मिथ्यानुमानत्वात्, मोक्षस्यानुमानागमाभ्यामस्तित्वव्यस्थापनात्। तद्यथा—'क्वचिदात्मनि दोषावरणयोर्निश्शेषा हानिरस्ति, अतिशायनात् क्वचित् कनकपाषाणादौ किट्टिमादिमलक्षयवत्' इत्यनुमानात्सकलकर्मक्षयस्वभावस्य मोक्षस्य प्रसिद्धेः। 'बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' इत्यागमाच्च तत्सिद्धेः। तथा मोक्षकारणतत्त्वमपि न प्रमाणेन बाध्यते, प्रत्यक्षतोऽकारणकमोक्षाप्रतीतेस्तेन तद्बाधनायोगात्। नाऽप्यनुमानेन, तस्य मोक्षकारणस्यैव प्रसाधकत्वात्। सकारणको मोक्षः प्रतिनियतकालादित्वात् पटादिवदिति। तस्याकारणकत्वे सर्वदा सर्वत्र तत्सद्भावप्रसङ्गः स्यात्, परापेक्षारहितत्वात्। आगमेनापि मोक्षकारणतत्त्वं न बाध्यते, प्रत्युत तस्य तत्साधकत्वात्। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' (तत्त्वार्थसू० १-१) इति वचनात्। एवं संसारतत्त्वं संसारकारणतत्त्वमनेकान्तात्मकवस्तुतत्त्वं च प्रमाणेनाबाध्यमानं बोद्धव्यमिति संक्षेपः। विस्तरतस्त्वष्टसहस्रयां (देवागमालङ्कारे) विद्यानन्दस्वामिभिर्निरूपितम्

१ निर्दोषत्वेन हेतुना अर्हतः सर्वज्ञत्वसिद्धावपि। २ न्यायोऽनुमानम्, आगमः शास्त्रम्, ताभ्यां विरुद्धभाषिणो विपरीतवादिनः, तेषां भावस्तत्त्वं तस्मात्। 'ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषाः, यथा दुर्वैद्यादयः, तथा चान्ये कपिलादयः' **अष्टस०** पृ० ६६। ३ न्यायागमविरुद्धभाषित्वं च। ४ कपिलाद्यभिमतमुक्तिसंसारतत्कारणतत्त्वस्य। ५ नित्याद्येकान्तस्य। ६ प्रमाणेन बाध्यत्वात्, तद्यथा—कपिलस्य तावत् 'तदा दृष्टुः स्वरूपेऽव-

त्वात्। [1]तदुक्तं [2]स्वामिभिरेव—

[3]स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो [4]यदिष्टं ते [5]प्रसिद्धेन न [6]बाध्यते ॥

स्थानम्' (योगसू० १-३) स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानमात्मनो मोक्ष इत्यभिमतम्, तत्प्रमाणेन बाध्यते; चैतन्यविशेषेऽनन्तज्ञानादौ स्वरूपेऽवस्थानस्य मोक्षत्वप्रसाधनात्। न हि अनन्तज्ञानादिकमात्मनोऽस्वरूपं सर्वज्ञत्वादिविरोधात्। अथ सर्वज्ञत्वादि प्रधानस्य स्वरूपम्, नात्मन इति चेन्न; तस्याचेतनत्वान्न सर्वज्ञत्वादि तत्स्वरूपम्, आकाशवत्। ज्ञानादयश्च नाचेतनधर्माः, स्वसंवेदनस्वरूपत्वादनुभववदिति न चैतन्यमात्रेऽवस्थानं मोक्षः, अपि त्वनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेऽवस्थानस्य मोक्षत्वप्रतीतेः। एतेन बुद्धयादिगुणोच्छेदो मोक्ष इति **वैशेषिकाः**, अनन्तसुखमेव मुक्तस्य न ज्ञानादिकमित्यानन्दैकस्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष इति **वेदान्तिनः**, निरास्रवचित्तसन्तत्युत्पादो मोक्ष इति **बौद्धाः**, तेषां सर्वेषामपि मोक्षतत्त्वं प्रमाणेन बाधितं ज्ञेयम्; अनन्तज्ञानादिस्वरूपोपलब्धेरेव मोक्षत्वसिद्धेः। एवमेव कपिलादिभिर्भाषितं मोक्षकारणतत्त्वं संसारतत्त्वं संसारकारणतत्त्वं च न्यायागमविरुद्धं बोद्धव्यम्। इत्यष्टसहस्र्याः संक्षेपो विस्तरतस्तु तत्रैव दृष्टव्यः।

१ प्रकरणसारः स्वोक्तमेव समन्तभद्राचार्यस्य कथनेन सह सङ्गमयति **तदुक्तमिति**। २ समन्तभद्राचार्यैः। ३ 'प्रमाणबलात् सामान्यतो यः सर्वज्ञो वीतरागश्च सिद्धः स त्वमेवार्हन्, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्, यो यत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स तत्र निर्दोषो दृष्टो, यथा क्वचिद् व्याध्युपशमे भिषग्वरः। युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् च भगवान् मुक्तिसंसारतत्कारणेषु, तस्मान्निर्दोष इति' **अष्टस**०पृ०६२। अविरोधश्च, यस्मादिष्टं मोक्षादिकं तत्त्वं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते। तथा हि—'यत्र यस्याभिमतं तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् यथा रोगस्वास्थ्यतत्कारणतत्त्वे भिषग्वरः, न बाध्यते च भगवतोऽभिमतं मोक्षसंसारतत्कारण-

तत्त्वम्, तस्मात्तत्र त्वं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् इति विषयस्य (भगवतो मुक्त्यादितत्त्वस्य) युक्तिशास्त्राविरोधित्वसिद्धेर्विषयिण्या भगवद्वाचो युक्तिशास्त्राविरोधित्वसाधनं (समर्थितं प्रतिपत्तव्यम्)'—**अष्टस०** पृ० ७२।

ननु इष्टं इच्छाविषयीकृतमुच्यते, इच्छा च वीतमोहस्य भगवतः कथं सम्भवति? तथा च नासौ युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्; तन्न; इष्टं मतं शासनमित्युपचर्यते, तथा च उपचारेण सयोगिध्यानवत्तदभ्युपगमे दोषाभावात्। अनुपचारतोऽपि भगवतोऽप्रमत्तेच्छास्वीकारे न दोषः। तदुक्तम्—

अप्रमत्ता विवक्षेयं अन्यथा नियमात्ययात्।
इष्टं सत्यं हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम्?॥

—न्यायवि० का० ३५६

वस्तुतस्तु भगवतो वीतमोहत्वान्मोहपरिणामरूपाया इच्छायास्तत्रासम्भवात्। 'तथा हि—नेच्छा सर्वविदः शासनप्रकाशननिमित्तं प्रणष्टमोहत्वात्। यस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तं न स प्रणष्टमोहो यथा किंचिज्ज्ञः, प्रणष्टमोहश्च सर्ववित्प्रमाणतः साधितस्तस्मान्न तस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तम्।' **अष्टस०** पृ० ७२। न चेच्छामन्तरेण वाक्प्रवृत्तिर्न सम्भवतीति वाच्यम्, नियमाभावात्। 'नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात्। न हि सुषुप्तौ गोत्रस्खलनादौ वाग्व्यवहारादिहेतुरिच्छास्ति' **अष्टस०** पृ०७३, ततो न वाक्प्रवृत्तेरिच्छापूर्वकत्वनियमः, तस्य सुषुप्त्यादिना व्यभिचारात्, अपि तु 'चैतन्य-करणपाटवयोरेव साधकतमत्वम्' (अष्टश०, अष्टस० पृ० ७३) वाक्प्रवृत्तौ, संवित्करणपाटवयोः सत्त्वे एव वाक्प्रवृत्तेः सत्त्वं तदभावे चासत्त्वम्। 'तस्माच्चैतन्यं करणपाटवं च वाचो हेतुरेव नियमतो न विवक्षा, विवक्षामन्तरेणापि सुषुप्त्यादौ तद्दर्शनात्'। किञ्च, इच्छा वाक्प्रवृत्तिहेतुर्न 'तत्प्रकर्षाप्रकर्षानुविधानाभावाद् बुद्ध्यादिवत्। न हि यथा बुद्धेः शक्तेश्च प्रकर्षे वाण्याः प्रकर्षोऽपकर्षे वाऽपकर्षः प्रतीयते तथा दोषजातेः (इच्छायाः) अपि, तत्प्रकर्षे वाचोऽपकर्षात् तदपकर्षे एव तत्प्रकर्षात्,

[1]त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥[आप्तमी.का.६-७]

यतो वक्तुर्दोषजातिः (इच्छा) अनुमीयेत'। ××× 'विज्ञानगुणदोषाभ्यामेव वाग्वृत्तेर्गुणदोषवत्ता व्यवतिष्ठते, न पुनर्विवक्षातो दोषजातेर्वा। तदुक्तम्—

विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता ।
वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥अष्टस०पृ० ७३ ।

अन्यच्चोक्तम्—

विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते ।
वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥
प्रज्ञा येषु पटीयस्यः प्रायो वचनहेतवः ।
विवक्षानिरपेक्षास्ते पुरुषार्थं प्रचक्षते ॥

—न्यायवि० ३५४-५५ ।

४ ततः साधूक्तं तवेष्टं शासनं मतमिति । ५ प्रमाणेन अनित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण वा । ६ अनेकान्तात्मकं तवेष्टं तत्त्वं नानित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण बाध्यते तस्यासिद्धत्वात्, प्रमाणतः सिद्धमेव हि कस्यचिद् बाधकं भवति । न चानित्यत्वाद्येकान्ततत्त्वं प्रमाणतः सिद्धम्, ततो न तत्त्वानेकान्तशासनस्य बाधकमिति भावः ।

१ त्वन्मतं त्वदीयमनेकान्तात्मकं तत्त्वं तज्ज्ञानं च, तदेवामृतं ततो बाह्या बहिष्कृतास्तेषाम्, सर्वथैकान्तवादिनां सर्वप्रकारैर्नित्यत्वानित्यत्वाद्येकधर्म स्वीकुर्वताम्, 'वयमाप्ताः' इत्यभिमानेन दग्धानां भस्मीभूतानां कपिलादीनां स्वेष्टं सदाद्येकान्ततत्त्वं प्रत्यक्षेणैव बाध्यते, अतः किमनुमानादिविहितबाधाप्रदर्शनेन ? सकलप्रमाणज्येष्ठत्वात्प्रत्यक्षस्य । 'न हि दृष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठमिष्टं नाम' । ततः प्रत्यक्षबाधाप्रदर्शनेनैवानुमानादिबाधा प्रदर्शिता भवतीत्यवसेयम् ।

§ २७. इति कारिकाद्वयेन एतयोरेव 'परात्माभिमततत्त्व-बाधाबाधयोः[१] समर्थनं [२]प्रस्तुत्य "भावैकान्ते"[३] [का० ६] इत्युपक्रम्य "स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः"[४] [का० ११२] इत्यन्त **आप्तमीमांसा**सन्दर्भ इति कृतं[५] विस्तरेण ।

§ २८. तदेवमतीन्द्रियं केवलज्ञानमर्हत 1एवेति सिद्धम् । [६]तद्वचनप्रमाण्याच्चावधिमनःपर्यययोरतीन्द्रिययोः सिद्धिरित्यतीन्द्रियप्रत्यक्षमनवद्यम् । ततः स्थितं सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति द्विविधं प्रत्यक्षमिति ।

इति श्रीपरमार्हताचार्य-धर्मभूषण-यति-विरचितायां न्यायदीपिकायां प्रत्यक्षप्रकाशो द्वितीयः ॥२॥

---

१ पराभिमते कपिलाद्यभिमते तत्त्वे सर्वथैकान्तरूपे बाधा, आत्माभिमते जैनाभिमते तत्त्वेऽनेकान्तरूपेऽबाधा बाधाभावस्तयोः । २ प्रस्तावभूतं कृत्वा ।

[३]**भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् ।**
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥६॥
[४]**सामान्यवाग् विशेषे चेन्न शब्दार्था मृषा हि सा ।**
अभिप्रेतविशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः ॥११२॥

इति सम्पूर्णे कारिके । ५ अलम् । ६ 'वक्तुः प्रामाण्यात् वचनप्रामाण्यम्' इति न्यायादर्हतः प्रामाण्यसिद्धेः तदुपदिष्टावतीन्द्रियाववधिमनःपर्ययावपि सिद्धाविति प्रतिपत्तव्यम् ।

---

1 **द प** प्रत्योः 'एव' पाठो नास्ति ।

३. परोक्षप्रकाशः

—: ※ :—

[परोक्षप्रमाणस्य लक्षणम्]

§ १. [1]अथ परोक्षप्रमाणनिरूपणं प्रक्रम्यते । अविशदप्रतिभासं परोक्षम् । अत्र परोक्षं लक्ष्यम्, अविशदप्रतिभासत्वं लक्षणम् । यस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो विशदो न भवति तत्परोक्षप्रमाणमित्यर्थः । वैशद्यमुक्तलक्षणम्[2] । [3]ततोऽ[4]न्यदवैशद्यमस्पष्टत्वम् । [5]तदप्यनुभवसिद्धमेव ।

§ २. सामान्यमात्रविषयत्वं परोक्षप्रमाणलक्षणमिति केचित्[6]; तन्न; प्रत्यक्षस्येव परोक्षस्यापि सामान्य-विशेषात्मकवस्तुविषयत्वेन तस्य[7] लक्षणस्याऽसम्भवित्वात्[8] । [9]तथा हि—घटादिविषयेषु प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं प्रमाणं तद्गतं[10] सामान्याकारं[11] घटत्वादिकं [12]व्यावृत्ताकारं व्यक्तिरूपं[1] च [13]युगपदेव प्रकाशयदुपलब्धं[14],

१ द्वितीयप्रकाशे प्रत्यक्षप्रमाणं निरूप्येदानीमिह परोक्षप्रमाणस्य निरूपणं प्रारभते **अथेति** । २ स्पष्टत्वं वैशद्यं तदेव नैर्मल्यमित्युक्तं पूर्वं वैशद्यलक्षणम् । ३ वैशद्यात् । ४ विपरीतम् । ५ अवैशद्यमपि, यथा नैर्मल्यं स्पष्टत्वमनुभवसिद्धं तथाऽस्पष्टत्वमनैर्मल्यमप्यनुभवसिद्धमेवेति भावः । ६ बौद्धाः । ७ सामान्यमात्रविषयत्वमिति परोक्षलक्षणस्य । ८ असम्भवदोषदुष्टत्वात्, तथा च तस्य लक्षणाभासत्वमिति भावः । ९ परोक्षस्य सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वमेव, न सामान्यमात्रविषयत्वमिति प्रदर्शयति **तथा हीति** । १० घटादिनिष्ठम् । ११ अनुगताकारम् । १२ अघटादिभ्यो व्यवच्छेदात्मकम् । १३ सहैव । १४ अनुवृत्ताकारव्यावृत्ताकारोभयं विषयी-

1 'च विशेषरूपं' इति **आ** प्रतिपाठः ।

तथा परोक्षमपीति[1] न सामान्यमात्रविषयत्वं परोक्षलक्षणम्, अपि त्ववैशद्यमेव1। सामान्य-विशेषयोरेकतरविषयत्वे तु प्रमाणत्वस्यैवाऽनुपपत्तिः2, सर्वप्रमाणानां सामान्य-विशेषात्मकवस्तुविषयत्वाभ्यनुज्ञानात्[3]। तदुक्तम्—"सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः"—[परीक्षा० ४-१] इति। तस्मात्सुष्ठूक्तं 'अविशदावभासनं परोक्षम्' इति[4]।

कुर्वत् दृष्टम्।

१ इति शब्दोऽत्र हेत्वर्थे वर्त्तते, तथा च इति हेतोरित्यस्मात् कारणादित्यर्थः। २ असम्भवः। ३ अभ्युपगमात्। ४ अत्रेदं बोध्यम् —'परोक्षमविशदज्ञानात्मकं परोक्षत्वात्, यन्नाविशदज्ञानात्मकं तन्न परोक्षम्, यथाऽतीन्द्रियप्रत्यक्षम्, परोक्षं च विवादाध्यासितं ज्ञानम्, तस्मादविशदज्ञानात्मकम्'—**प्रमाणप०** पृ० ६९। 'कुतोऽस्य परोक्षत्वम्? परायत्तत्वात्···पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यं निमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मन उत्पद्यमानं मतिश्रुतं परोक्षमित्याख्यायते'—**सर्वार्थ०** १-११, न च परोक्षेण प्रमेयं न प्रमीयते परोक्षत्वादिति वाच्यम्, तस्यापि प्रत्यक्षस्येव सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वाभ्युपगमात्। नाऽप्यस्याज्ञानरूपताऽप्रमाणता वा, 'तत्प्रमाणे' (तत्त्वार्थसू० १-१०) इति वचनेन प्रत्यक्षपरोक्षयोर्द्वयोरपि प्रमाणत्वाभ्युपगमात्। तदुक्तम्—

'ज्ञानानुवर्त्तनात्तत्र नाज्ञानस्य परोक्षता।
प्रमाणस्यानुवृत्तेर्न परोक्षस्याप्रमाणता॥'

—तत्त्वार्थश्लो० १, ११, ६।

---

1 द प्रतौ 'एव' इति पाठो नास्ति। 2 द प्रतौ 'त्तेः' इति पाठः।

[परोक्षप्रमाणं पञ्चधा विभज्य तस्य प्रत्ययान्तरसापेक्षत्वप्रतिपादनम्]

§ ३. [1]तत् पञ्चविधम्–स्मृतिः, प्रत्यभिज्ञानम्, तर्कः, अनुमानम्, आगमश्चेति । पञ्चविधस्याऽप्यस्य1परोक्षस्य [2]प्रत्ययान्तरसापेक्षत्वेनैवोत्पत्तिः2 । तद्यथा–स्मरणस्य प्राक्तनानुभवापेक्षा, प्रत्यभिज्ञानस्य स्मरणानुभवापेक्षा, तर्कस्यानुभव-स्मरण-प्रत्यभिज्ञानापेक्षा, अनुमानस्य च लिङ्गदर्शनाद्य[3] पेक्षा, आगमस्य शब्दश्रवण-सङ्केतग्रहणाद्यपेक्षा, प्रत्यक्षस्य3 तु न तथा [4]स्वातन्त्र्येणैवोत्पत्तेः । स्मरणादीनां प्रत्ययान्तरापेक्षा तु [5]तत्र तत्र निवेदयिष्यते ।

[स्मृतेर्निरूपणम्]

§ ४. तत्र च4 का नाम स्मृतिः? तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तुविषया स्मृतिः, यथा स देवदत्त इति । अत्र हि प्रागनुभूत एव देवदत्तस्तत्तया[6] प्रतीयते । तस्मादेषा प्रतीतिस्तत्तोल्लेखिन्यनुभूतविषया च, अननुभूते विषये तदनुत्पत्तेः । [7]तन्मूलं चानुभवो धारणारूप एव[8] अवग्रहाद्यनुभूतेऽपि धारणाया अभावे स्मृतिजननायोगात् । धारणा हि तथाऽऽत्मानं संस्करोति, यथाऽसावात्मा कालान्तरेऽपि तस्मिन् विषये ज्ञानमुत्पादयति । तदेतद्धारणाविषये समुत्पन्नं तत्तोल्लेखिज्ञानं स्मृतिरिति सिद्धम् ।

---

१ परोक्षप्रमाणम् । २ ज्ञानान्तरापेक्षत्वेन । ३ आदिपदेन व्याप्तिग्रहणादेर्परिग्रहः । ४ प्रत्ययान्तरनिरपेक्षत्वेनैव । ५ यथावसरम् । ६ तदोर्भावस्तत्ता तया, 'तत्' शब्दोल्लेखेन । ७ स्मृतेः कारणम् । ८ एवकारेणा-

---

1 द प्रतौ 'अस्य' इति पाठो नास्ति । 2 द 'त्तेः' पाठः । 3 'प्रत्यक्षं' इति मुदितप्रतिषु पाठः । 4 'च' इति मुद्रितप्रतिषु नास्ति ।

§ ५. नन्वेवं धारणागृहीत एव स्मरणस्योत्पत्तौ [1]गृहीतग्राहित्वादप्रामाण्यं प्रसज्यत[2] इति चेत्; न[3]; [4]विषयविशेषसद्भावादीहादिवत्। यथा ह्यवग्रहादिगृहीतविषयाणामीहादीनां विषयविशेषसद्भावात्स्वविषयसमारोपव्यवच्छेदकत्वेन[5] प्रामाण्यं तथा स्मरणस्यापि धारणागृहीतविषयप्रवृत्तावपि प्रामाण्यमेव। धारणाया हीदन्ताऽवच्छिन्नो[6] विषयः, स्मरणस्य तु तत्ताऽवच्छिन्नः[7]। तथा च स्मरणं स्वविषयास्मरणादिसमारोपव्यवच्छेदकत्वात्प्रमाणमेव[8]। तदुक्तं **प्रमेयकमलमार्त्तण्डे**—"विस्मरणसंशयविपर्यासलक्षणः समारोपोऽस्ति, तन्निराकरणाच्चास्याः स्मृतेः प्रामाण्यम्" [३-४] इति।

वग्रहाद्यनुभवत्रयस्य व्यवच्छेदः, अवग्रहादयो ह्यदृढात्मकाः। धारणा तु दृढात्मिका, अतः सैव स्मृतेः कारणं नावग्रहादयः 'स्मृतिहेतुर्धारणा' इति वचनादिति भावः।

१ गृहीतस्यैव ग्रहणात्। २ प्रसक्तं भवति। ३ समाधत्ते नेति। ४ विषयभेदस्य विद्यमानत्वात्। तथा हि—'न खलु यथा प्रत्यक्षे विशदाकारतया वस्तुप्रतिभासः तथैव स्मृतौ, तत्र तस्या (तस्य) वैशद्याप्रतीतेः' —**प्रमेयक०** ३-४ 'किञ्च, स्मृतेः वर्त्तमानकालावच्छेदेनाधिगतस्यार्थस्यातीतकालावच्छेदेनाधिगतेरपूर्वांशाधिगमोपपत्तेः।' —**स्याद्वादर०** ३-४। अतो न गृहीतग्राहित्वं स्मरणस्येति भावः। ५ स्वेषामीहादीनां विषयो ज्ञेयस्तस्मिन्नुत्पन्नो यः संशयादिलक्षणः समारोपस्तद्व्यवच्छेदकत्वेन तन्निराकारकत्वेन। ६ वर्त्तमानकालावच्छिन्नः। ७ भूतकालावच्छिन्नः। ८ अत्रेदमनुमानं बोध्यम्—स्मृतिः प्रमाणं समारोपव्यवच्छेदकत्वात्, यदेवं तदेवं यथा प्रत्यक्षम्, समारोपव्यवच्छेदिका च स्मृतिः, तस्मात्प्रमाणमिति।

§ ६. [1]यदि चानुभूते प्रवृत्तमित्येतावता स्मरणमप्रमाणं स्यात् तर्हि अनुमितेऽग्नौ पश्चात्प्रवृत्तं [2]प्रत्यक्षमप्यप्रमाणं स्यात् ।

§ ७. [3]अविसंवादित्वाच्च प्रमाणं स्मृतिः प्रत्यक्षादिवत् । न हि स्मृत्वा [4]निक्षेपादिषु प्रवर्त्तमानस्य[5] विषयविसंवादोऽस्ति[6] । [7]यत्र त्वस्ति विसंवादस्तत्र स्मरणस्याभासत्वं प्रत्यक्षाभासवत् । तदेवं [8]स्मरणाख्यं पृथक् प्रमाणमस्तीति सिद्धम् ।

---

१ अत्र स्मृतेरप्रामाण्यवादिनो नैयायिकादयः कथयन्ति—'अतीतः पूर्वानुभूत इत्यतीतविषया स्मृतिः, अत एव सा न प्रमाणमर्थपरिच्छेदे पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात्' इति कन्दलीकारः, 'न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्ति-व्यपेक्षणात् । स्मृतिर्हि तदित्युपजायमाना प्राचीं प्रतीतिमनुरुद्ध्यमाना न स्वातन्त्र्येणार्थं परिच्छिनत्तीति न प्रमाणम्'—प्रकरणपञ्जि० पृ० ४२ । २ 'अनुभूतार्थविषयत्वमात्रेणास्याः प्रामाण्यानभ्युपगमेऽनुमानेनाधिगतेऽग्नौ यत्प्रत्यक्षं तदप्यप्रमाणं स्यात् ।'—**प्रमेयक०** ३-४, **स्याद्वादर०** ३-४, 'अनुभूतेनार्थेन सालम्बनत्वोपपत्तेः । अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यनुभूतार्थविषय-त्वादप्रामाण्यमनिवार्यं स्यात् । स्वविषयावभासनं स्मरणेऽप्यविशिष्टमिति ।' **प्रमेयर०** २-२, **प्रमाणमी०** १-२-३ । ३ 'न च तस्या विसंवादादप्रामा-ण्यम्, दत्तग्रहादिविलोपापत्तेः ।' **प्रमेयर०** २-२, 'सा च प्रमाणम्, अवि-संवादकत्वात्, प्रत्यक्षवत् ।'—**प्रमाणप०** पृ० ६९, **प्रमाणमी०** १-२-३, न चासावप्रमाणम्, संवादकत्वात्, यत्संवादकं तत्प्रमाणं यथा प्रत्यक्षादि, संवादिका च स्मृतिः, तस्मात्प्रमाणम्' —**प्रमेयक०** ३-४ । ४ भूगर्भादि-स्थापितेष्वर्थेषु । ५ जनस्य । ६ विषयाप्राप्तिः । ७ यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्याभासा प्रत्यक्षाभासवत् ।'—**प्रमाणप०** पृ० ६९, **स्याद्वादर०** ३-४ । ८ किञ्च, स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानवार्त्ताऽपि दुर्लभा, तया व्याप्तेरविषयी-करणे तदुत्थानायोगादिति । तत इदं वक्तव्यम्—स्मृतिः प्रमाणम्,

[प्रत्यभिज्ञानस्य निरूपणम्]

§ ८. अनुभवस्मृतिहेतुकं सङ्कलनात्मकं[1] ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। इदन्तोल्लेखिज्ञानमनुभवः, तत्तोल्लेखिज्ञानं स्मरणम्। तदुभय-समुत्थं पूर्वोत्तरैक्य-सादृश्य-वैलक्षण्यादिविषयं यत्सङ्कलनरूपं ज्ञानं जायते तत्प्रत्यभिज्ञानमिति ज्ञातव्यम्। यथा स एवाऽयं जिनदत्तः[2], गोसदृशो गवयः[3], गोविलक्षणो महिष[4] इत्यादि।

§ ९. [5]अत्र हि पूर्वस्मिन्नुदाहरणे जिनदत्तस्य पूर्वोत्तरदशा-द्वयव्यापक[6]मेकत्वं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयः। तदिदमेकत्वप्रत्य-भिज्ञानम्। द्वितीये[7] तु पूर्वानुभूतगोप्रतियोगिकं[8] गवयनिष्ठं[9] सादृश्यम्[10]। तदिदं सादृश्यप्रत्यभिज्ञानम्। तृतीये तु पुनः प्राग-नुभूतगोप्रतियोगिकं महिषनिष्ठं वैसादृश्यम्[11]। यदिदं वैसादृश्य-

---

अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति।'—**प्रमेयर०** २-२, **प्रमाणमी.** १-२-३।

१ सङ्कलनं विवक्षितधर्मयुक्तत्वेन वस्तुनः प्रत्यवमर्शनम्, यथा—

'रोमशो दन्तुरः श्यामो वामनः पृथुलोचनः।
यस्तत्र चिपिटघ्राणस्तं चैत्रमवधारयेः॥'

२ इदमेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्योदाहरणम्। ३ इदं सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्योदाह-रणम्। ४ इदं वैलक्षण्यप्रत्यभिज्ञानस्योदाहरणम्। ५ एषूदाहरणेषु। ६ व्याप्त्या वर्त्तमानम्। ७ उदाहरणे। ८ गोत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकम्। ९ गवयो वन्यपशुविशेषः, तस्मिन् वर्तमानम्, गवयत्वावच्छिन्नानुयोगिता-कमित्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्—यन्निरूपणाधीनं निरूपणं यस्य तत्तत्प्रतियोगि। अथवा यस्य सादृश्यादिकं प्रदर्श्यते स प्रतियोगी, यस्मिंश्च प्रदर्श्यते सोऽनु-योगी इति भावः। १० प्रत्यभिज्ञानस्य विषय इति शेषः। ११ अत्रापि प्रत्यभिज्ञानस्य विषय इति सम्बन्धनीयम्।

प्रत्यभिज्ञानम् । एवमन्येऽपि[1] प्रत्यभिज्ञानभेदा यथाप्रतीति स्वयमुत्प्रेक्ष्याः[2] । अत्र[3] सर्वत्राऽप्यनुभवस्मृतिसापेक्षत्वात्तद्धेतुकत्वम् ।

§ १०. [4]केचिदाहुः—अनुभवस्मृतिव्यतिरिक्तं प्रत्यभिज्ञानं नास्तीति; तदसत्; अनुभवस्य वर्त्तमानकालवर्त्ति[5]विवर्तमात्र-

---

१ तदित्थम्—

इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा ।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥

—लघी० का २१ ।

'इदमस्माद् दूरम्' 'वृक्षोऽयमित्यादि'—परीक्षा० ३, ९-१० । अन्यच्च—

पयोऽम्बुभेदी हंसः स्यात् षट्पादैर्भ्रमरः स्मृतः ।
सप्तपर्णस्तु तत्वज्ञैर्विज्ञेयो विषमच्छदः ॥
पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यं पृथुस्तनी ।
युवतिश्चैकशृंगोऽपि गण्डकः परिकीर्त्तितः ॥
शरभोऽप्यष्टभिः पादैः सिंहश्चारुसटान्वितः ।

इत्येवमादिशब्दश्रवणात्तथाविधानेव मरालादीनवलोक्य तथा सत्यापयति यदा तदा तत्सङ्कलनमपि प्रत्यभिज्ञानमुक्तम् दर्शनस्मरणकारणत्वाविशेषात् ।' **प्रमेयर०** ९-१० । २ चिन्तनीयाः । ३ प्रत्यभिज्ञानभेदेषु । ४ बौद्धाः । तेषामयमाशयः—'ननु पूर्वापरावस्थाविषयं परामर्शज्ञानं कथमेकम् ? विषयभेदात्, परोक्ष्यापरोक्ष्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाच्च । तथा हि—तदिति परोक्षमिदमिति साक्षात्कारः'—**न्यायवा० तात्पर्यटी०** पृ० १४०, 'तस्माद् द्वे एते ज्ञाने—स इति स्मरणम्, अयम् इत्यनुभवः'—**न्यायमं०** पृ० ४४९ । अत्र बौद्धानां पूर्वपक्षत्वेनोल्लेखः । 'ननु तदिति स्मरणमिदमिति प्रत्यक्षमिति ज्ञानद्वयमेव, न ताभ्यां विभिन्नं प्रत्यभिज्ञानाख्यं वयं प्रतिपद्यमानं प्रमाणान्तरमुपलभामहे'—**प्रमेयर०** २-२ । ५ विवर्त्तः पर्यायः ।

प्रकाशकत्वम्, स्मृतेश्चातीतविवर्त्तद्योतकत्वमिति तावद्वस्तुगतिः कथं नाम तयोरतीतवर्त्तमानसङ्कलितैक्य-सादृश्यादिविषयावगाहित्वम्? तस्मादस्ति स्मृत्यनुभवातिरिक्तं तदनन्तरभाविसङ्कलनज्ञानम् । तदेव प्रत्यभिज्ञानम् ।

§ ११. अपरे[1] त्वेकत्वप्रत्यभिज्ञानमभ्युपगम्यापि तस्य [2]प्रत्यक्षेऽन्तर्भावं कल्पयन्ति । तद्यथा—यदिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्प्रत्यक्षमिति तावत्प्रसिद्धम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायि चेदं प्रत्यभिज्ञानम्, तस्मात्प्रत्यक्षमिति; तन्न; इन्द्रियाणां वर्त्तमानदशापरामर्शमात्रोपक्षीणत्वेन वर्त्तमानातीतदशाव्यापकैक्यावगाहित्वाघटनात् । न ह्यविषयप्रवृत्तिरिन्द्रियाणां युक्तिमती, चक्षुषा रसादेरपि प्रतीतिप्रसङ्गात् ।

§ १२. [3] ननु सत्यमेतदिन्द्रियाणां वर्त्तमानदशावगाहित्वमेवेति तथापि तानि सहकारि [4]समवधानसामर्थ्याद्दशा[5]द्वयव्यापि-

---

१ वैशेषिकादयः । २ यदुक्तम् —'यस्तु भवतामस्य मानसत्वे प्रयासः स वरमिन्द्रियजत्वे एव भवतु × × पश्चाज्जायमानपीन्द्रियार्थसन्निकर्षप्रभवतया प्रत्यक्षं भवत्येव × × विवादाध्यासिता विकल्पाः (प्रत्यभिज्ञानरूपाः) प्रत्यक्षाः अव्यभिचारित्वे सतीन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात्'—**न्यायवा०तात्पर्यटी०** पृ० १४३, 'एवं पूर्वज्ञानविशेषितस्य स्तम्भादेर्विशेषणमतीतक्षणविषय इति मानसी प्रत्यभिज्ञा'—**न्यायमं०** पृ० ४६१, 'तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात्प्रागूर्ध्वं चापि यत्स्मृतेः । विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम् ॥' **मी० श्लो०** सू० ४ श्लो० २३७ । ३ त एव वैशेषिकादयः पुनराशङ्कन्ते **नन्विति** । ४ समवधान सन्निपात एकत्र मेलनं इति यावत् । **५** दशाद्वयं पूर्वोत्तरावस्थे व्याप्य वर्तमाने ।

न्येकत्वेऽपि [1]प्रतीतिं जनयन्तु, अञ्जनसंस्कृतं चक्षुरिव [2]व्यवहितेऽर्थे। न हि चक्षुषो व्यवहितार्थ1प्रत्यायन[3]सामर्थमस्ति, अञ्जनसंस्कारवशात्तु [4] तथात्वमुपलब्धम्[5]। [6]तद्वदेव स्मरणादि[7] सहकृतानीन्द्रियाण्येव दशाद्वयव्यापकमेकत्वं [8]प्रत्याययिष्यन्तीति किं [9]प्रमाणान्तरकल्पनाप्रयासेनेति। तदप्यसत्; सहकारिसहस्र[10]समवधानेऽप्यविषयप्रवृत्तेरयोगात्। चक्षुषो हि अञ्जनसंस्कारादिः सहकारी स्वविषये रूपादावेव प्रवर्त्तको न त्वविषये रसादौ। [11]अविषयश्च पूर्वोत्तरावस्थाव्यापकमेकत्वमिन्द्रियाणाम्। तस्मात्तत्प्रत्यायनाय[12] [13]प्रमाणान्तरमन्वेषणीयमेव, [14]सर्वत्रापि विषयविशेषद्वारेण प्रमाणभेदव्यवस्थापनात्।

§ १३. [15]किञ्च, अस्पष्टैवेयं तदेवेदमिति प्रतिपत्तिः, तस्मादपि न तस्याः प्रत्यक्षान्तर्भाव इति। अवश्यं चैतदेवं 2विज्ञेयं चक्षु-

---

१ ज्ञानम्। २ अन्तरिते। ३ प्रत्यायनं ज्ञापनम्। ४ व्यवहितार्थप्रत्यायनसामर्थ्यम्। ५ दृष्टम्। ६ चक्षुरिव। ७ आदिपदेन पूर्वानुभवस्य परिग्रहः। ८ ज्ञापयिष्यन्ति। ९ प्रमाणान्तरं प्रत्यभिज्ञानाख्यम्। १० मिलितेऽपि। ११ इन्द्रियाणामविषयमेव प्रदर्शयति **अविषयश्चेति**। १२ एकत्वज्ञापनाय। १३ प्रत्यभिज्ञाननामकम्। १४ सर्वेष्वपि दर्शनेषु, सर्वैरपि वादिभिः। स्व-स्वदर्शने विषयभेदमाश्रित्यैव प्रमाणभेदव्यवस्था कृतेति भावः। १५ युक्त्यन्तरेण प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षान्तर्भावं निराकरोति **किञ्चेति**—स एवायमिति हि ज्ञानमस्पष्टमेव, प्रत्यक्षं तु न तथा, तस्य स्पष्टत्वात्। ततोऽपि न तस्य प्रत्यक्षेऽन्तर्भाव इति भावः।

---

1 **द** 'र्थे' पाठः। 2 **द प** 'ज्ञेयं' पाठः।

रादेरैक्यप्रतीतिजननसामर्थ्यं नास्तीति। [1]अन्यथा लिङ्गदर्शन-व्याप्तिस्मरणादिसहकृतं चक्षुरादिकमेव वह्न्यादिलिङ्गिज्ञानं जनयेदिति नानुमानमपि पृथक् प्रमाणं स्यात्। [2]स्वविषयमात्र एव चरितार्थत्वाच्चक्षुरादिकमिन्द्रियं न लिङ्गिनि प्रवर्त्तितुं [3]प्रगल्भमिति चेत् प्रकृतेन[4] किमपराद्धम्? ततः स्थितं प्रत्यभिज्ञानाख्यं पृथक् प्रमाणमस्तीति।

§ १४. सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमुपमानाख्यं पृथक् प्रमाणमिति केचित्[5] कथयन्ति; तदसत्; स्मृत्यनुभवपूर्वकसङ्कलनज्ञानत्वेन

---

१ चक्षुरादेरैक्यप्रतीतिजननसामर्थ्यस्वीकरणे। २ ननु चक्षुरादेः स्वविषय एव पुरोदृश्यमाने धूमादौ प्रवृत्तेर्न परोक्षे वह्न्यादौ लिङ्गिनि प्रवर्त्तितुं सामर्थ्यमस्ति, ततोऽनुमानं पृथगेव प्रमाणमिति चेत्; प्रत्यभिज्ञानेऽप्येतत् समानम्, तत्रापि हि इदन्तोल्लिखित एवार्थे देवदत्तादौ चक्षुरादेः प्रवृत्तिर्न परोक्षे एकत्वे कुमारयुवावृद्धावस्थाव्यापिनी देवदत्तत्वादौ। तदुक्तम्—

'तया (द्रव्यसंवित्त्या) यावत्स्वतीतेषु पर्यायेष्वस्ति संस्मृतिः।
केन तद्व्यापिनि द्रव्ये प्रत्यभिज्ञास्य वार्यते॥

बालकोऽहं य एवासं स एव च कुमारकः।
युवानो मध्यमो वृद्धोऽधुनाऽस्मीति प्रतीतितः॥'

—**तत्त्वार्थश्लोकवा०** १, १३, ४५-४६।

एतदेवाह **स्वविषये**। ३ समर्थम्। ४ प्रत्यभिज्ञानेन। ५ नैयायिकाः **मीमांसका**श्च, तत्र ताव**न्मीमांसकाः**—'ननु गोदर्शनाहितसंस्कारस्य ज्ञानस्योपमानरूपत्वान्न प्रत्यभिज्ञानता। सादृश्यविशिष्टो हि विशेषो (गोलक्षणो धर्मी) विशेषविशिष्टं वा सादृश्यमुपमानस्यैव प्रमेयम्'—

प्रत्यभिज्ञानत्वानतिवृत्तेः। अन्यथा गोविलक्षणो महिष इत्यादि-विसदृशत्वप्रत्ययस्य, इदमस्माद् दूरमित्यादेश्च प्रत्ययस्य सप्रति-योगिकस्य पृथक् प्रमाणत्वं स्यात्। ततो 1वैसादृश्यादिप्रत्ययवत् सादृश्यप्रत्ययस्यापि प्रत्यभिज्ञानलक्षणाक्रान्तत्वेन प्रत्यभिज्ञान-त्वमेवेति प्रामाणिकपद्धतिः।

प्रमेयक० ३-१०। उक्तं च—

दृश्यमानाद्यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते।
सादृश्योपाधिवत्तज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृतम्॥
तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम्।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम्॥
प्रत्यक्षेणाऽवबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते।
विशिष्टस्यान्यतः सिद्धेरुपमानप्रमाणता॥

—मी० श्लो० उ० ३६-३८।

इति प्रत्यभिज्ञानस्योपमानरूपतां निरूपयन्ति, 'तदसमीक्षिताभिधानम्, एकत्व-सादृश्यप्रतीत्योः सङ्कलनज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानताऽनतिक्रमात्। 'स एवायम्' इति हि यथा उत्तरपर्यायस्य पूर्वपर्यायेणैकताप्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा, तथा सादृश्यप्रतीतिरपि 'अनेन सदृशः' इति (प्रत्यभिज्ञा), अविशेषात्' —**प्रमेयक०** ३-१०। कथमन्यथा वैलक्षण्यप्रतीतिरपि प्रमाणान्तरं न स्यात्? नैयायिकास्तु 'आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सारूप्यज्ञानमुपमानम्। यदा ह्यनेन श्रुतं भवति 'यथा गौरेवं गवयः' इति। प्रसिद्धे गो-गवयसाधर्म्ये पुनर्गवा साधर्म्यं पश्यतोऽस्य भवत्ययं गवय इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिः' —**न्यायवा०** १-१-६। समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिश्चोपमानमिति प्रतिपाद-

---

1 'वैसदृश्य' द प्रतिपाठः।

[तर्कस्य निरूपणम्]

§ १५. अस्तु प्रत्यभिज्ञानम्, कस्तर्हि तर्कः? व्याप्तिज्ञानं तर्कः। साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावप्रयोजको[1] [2]व्यभिचारगन्धासहिष्णुः सम्बन्धविशेषो[3] व्याप्तिरविनाभाव इति च1 व्यपदिश्यते। [4]तत्सामर्थ्यात्खल्वग्न्यादिं धूमादिरेव [5]गमयति न तु घटादिः, [6]तदभावात्। तस्याश्चाविनाभावापरनाम्न्याः2 व्याप्तेः प्रमितौ यत्साधकतमं तदिदं तर्काख्यं प्रमाणमित्यर्थः। तदुक्तं **श्लोकवार्त्तिकभाष्ये**— "साध्यसाधनसम्बन्धाज्ञाननिवृत्तिरूपे हि फले साधकतमस्तर्कः"[7]

यन्ति; तन्न; वैलक्षण्यादिप्रत्ययानामपि प्रमाणान्तरत्वानुषङ्गात्। तथा चोक्तं श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवैः—

> **उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्।**
> **तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम्॥**
> **प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः।**
> **तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा॥**

—लघीय० का० १९-२०।

अतः 'यथैव हि एकदा घटमुपलब्धवतः पुनस्तस्यैव दर्शने 'स एवायं घटः' इति प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा तथा 'गोसदृशो गवयः' इति सङ्केतकाले गोसदृशगवयाभिधानयोर्वाच्यवाचकसम्बन्धं प्रतिपद्य पुनर्गवयदर्शनात्तत्प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा किन्नेष्यते?'—**प्रमेयक०** ३-१०।

१ प्रसाधकः। २ व्यभिचारशून्यः। ३ नियमरूपः। ४ व्याप्तिबलात्। ५ ज्ञापयति। ६ व्याप्तेरभावात्। ७ श्लोकवार्त्तिकभाष्ये यदुक्तं तत्किञ्चित्शब्दभेदनेत्थं वर्त्तते—'प्रमाणं तर्कः साक्षात्परम्परया च स्वार्थनिश्चयने

---

1 **द** प्रतौ 'च' नास्ति। 2 'नाम्नो' इति **द आ प म** प्रतिपाठः।

[१-१३-११५] इति। ऊह इति तर्कस्यैव [1]व्यपदेशान्तरम्। स च तर्कस्तां व्याप्तिं [2]सकलदेश-कालोपसंहारेण विषयीकरोति।

§ १६. किमस्योदाहरणम्? उच्यते—यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वमिति। अत्र[3] हि धूमे सति भूयोऽग्न्युपलम्भे अग्न्यभावे च धमानुपलम्भे1 'सर्वत्र सर्वदा धूमोऽग्निं न व्यभिचरति'[4] इत्येवं सर्वोपसंहारेणाविनाभावविज्ञानं पश्चादुत्पन्नं तर्काख्यं प्रत्यक्षादेः पृथगेव। [5]प्रत्यक्षस्य2 [6]सन्निहितदेश एव [7]धूमाग्निसम्बन्धप्रकाशनान्न व्याप्तिप्रकाशकत्वम्। सर्वोपसंहारवती हि व्याप्तिः।

§ १७. ननु यद्यपि [8]प्रत्यक्षमात्रं व्याप्तिविषयीकरणे [9]शक्तं न भवति तथापि विशिष्टं प्रत्यक्षं तत्र[10] शक्तमेव। तथा हि—महान-

फले साधकतमत्वात्प्रत्यक्षवत्। स्वविषयभूतस्य **साध्यसाधनसम्बन्धाज्ञाननिवृत्तिरूपे** साक्षात्स्वार्थनिश्चयने **फले साधकतमस्तर्कः**, परम्परया तु स्वार्थानुमाने हानोपादानोपेक्षाज्ञाने वा प्रसिद्ध एवेति।'

१ नामान्तरम्। २ सर्वदेशकालावच्छेदेन। ३ अस्मिन्नुल्लेखे। ४ धूमोऽग्न्यभावे न भवति, अपि त्वग्निसद्भाव एव भवति, इति भावः। ५ 'न हि प्रत्यक्षं यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम्, सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्' **लघी० स्वोपज्ञवि०** का० ११, **अष्टस०** पृ० २८०, **प्रमाणप०** पृ० ७०, **प्रमेयक०** ३-१३। ६ समीपवर्त्तिनि योग्यदेश एव महानसादौ, न दूरवर्त्तिनि परोक्षे देशे। ७ नियतधूमाग्न्योः सम्बन्धज्ञापनात्। ८ प्रत्यक्षसामान्यम्। ९ समर्थम्। १० व्याप्तिविषयीकरणे।

1 'अग्न्यभावे च धूमानुपलम्भे' इति पाठो मुद्रितप्रतिषु नास्ति।
2 'प्रत्यक्षस्य हि' इति **म प** प्रतिपाठः :

सादौ तावत्प्रथमं धूमाऽग्न्योर्दर्शनमेकं प्रत्यक्षम्, तदनन्तरं भूयो[1] भूयः प्रत्यक्षाणि प्रवर्त्तन्ते, तानि च प्रत्यक्षाणि न सर्वाणि व्याप्ति-विषयीकरणसमर्थानि, अपि तु पूर्वपूर्वानुभूतधूमाग्निस्मरण-तत्सजातीयत्वानुसन्धानरूपप्रत्यभिज्ञानसहकृतः कोऽपि[2] प्रत्यक्ष-विशेषो व्याप्तिं सर्वोपसंहारवतीमपि1 गृह्णाति। तथा च स्मरण-प्रत्यभिज्ञानसहकृते प्रत्यक्षविशेषे व्याप्तिविषयीकरणसमर्थे किं तर्काख्येन पृथक्प्रमाणेनेति केचित्[3]; '[4]तेऽपि न्यायमार्गानभिज्ञाः; "सहकारिसहस्रसमवधानेऽप्यविषयप्रवृत्तिर्न घटत इत्युक्तत्वात्। तस्मात्प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहणमसञ्जसम्। इदं तु समञ्जसम्—स्मरणम्, प्रत्यभिज्ञानम्, भूयोदर्शनरूपं प्रत्यक्षं च मिलित्वा तादृश-मेकं ज्ञानं जनयन्ति यद्व्याप्तिग्रहणसमर्थमिति। तर्कश्च स एव। अनुमानादिकं तु व्याप्तिग्रहणं प्रत्यसम्भाव्यमेव[6]।

१ पुनः पुनः। २ अनिर्दिष्टनामा। ३ नैयायिकादयः। ४ समाधत्ते **तेऽपीति**। ५ प्रत्यक्षस्य पुरोवर्त्तिधूमवह्निव्यक्तिविषयत्वेऽपि नापुरोवर्त्ति-सकलधूमवह्निव्यक्तिविषयत्वम्, तासां तदयोग्यत्वात्। सहकारिणामविषये प्रत्यक्षस्य प्रवर्त्तकत्वाघटनाच्च। ६ न ह्यनुमानादिना व्याप्तिग्रहणं सम्भवति, अन्योन्याश्रयादिदोपात्। अनुमानेन हि व्याप्तिग्रहणं चेत्तर्हि प्रकृतानुमानेनानुमानान्तरेण वा? प्रकृतानुमानेन चेदितरेतराश्रयः। तथा हि—सत्यां व्याप्तिप्रतिपत्तावनुमानस्यात्मलाभस्तदात्मलाभे च सति व्याप्ति-प्रतिपत्तिरिति। अनुमानान्तरेण व्याप्तिप्रतिपत्तावनुमानान्तरीयव्याप्तिप्रति-पत्तिरप्यनुमानान्तरेणेत्येवमनवस्था स्यात्। ततो नानुमानाद्व्याप्तिग्रहणम्। नाऽप्यागमादेः, तस्य भिन्नविपयत्वात्। यदुक्तम्—'नाऽप्यनुमानेन (व्याप्ति-

1 'सर्वोपसंहारवतीमपि' इति पाठो **मुद्रितप्रतिषु** नास्ति।

§ १६. बौद्धास्तु 'प्रत्यक्षपृष्ठभावी[1] विकल्पः व्याप्तिं गृह्णातीति मन्यन्ते। त एवं पृष्टव्याः—स हि विकल्पः किमप्रमाणमुत प्रमाणमिति[2]। यद्यप्रमाणम्, कथं नाम तद्गृहीतायां व्याप्तौ समाश्वासः? अथ प्रमाणम्, किं प्रत्यक्षमथवाऽनुमानम्? न तावत्प्रत्यक्षम्, अस्पष्टप्रतिभासत्वात्। नाप्यनुमानम्, लिङ्गदर्शनाद्यनपेक्षत्वात्। [3]ताभ्यामन्यदेव किञ्चित्प्रमाणमिति चेदागतस्तर्हि तर्कः। तदेवं तर्काख्यं प्रमाणं निर्णीतम्।

[अनुमानस्य निरूपणम्]

१७. इदानीमनुमानमनुवर्ण्यते। साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्[4]। इहानुमानमिति लक्ष्यनिर्देशः, साधनात्साध्यविज्ञान-

---

ग्रहणम्), प्रकृतापरानुमानकल्पनायामितरेतराश्रयत्वानवस्थाऽवतारात्। आगमादेरपि भिन्नविषयत्वेन सुप्रसिद्धत्वान्न ततोऽपि तत्प्रतिपत्तिरिति'— **प्रमेयर०** ३-१८। श्री**मद्भट्टाकलङ्कदेवै**रप्युक्तम्—

अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते।
नानुमानादसिद्धत्वात्प्रमाणान्तरमाञ्जसम्॥

लघीय०का० ११

अतः सूक्तं ग्रन्थकृता **'अनुमानादिकं तु व्याप्तिग्रहणं प्रत्यसम्भाव्यमेव' इति।**

१ निर्विकल्पकप्रत्यक्षानन्तरं जायमानः। २ प्रामाण्यम्। ३ प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। ४ 'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं……'—**न्यायवि०** का० १७०, 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्'—**परीक्षामु०** ३-१४, 'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः'।—**तत्त्वार्थश्लो०** १-१३-१२०।

मिति लक्षणकथनम् । साधनाद्धूमादेर्लिङ्गात्साध्येऽग्न्यादौ लिङ्गि-नि यद्विज्ञानं जायते तदनुमानम्, [1]तस्यैवाऽग्नाद्यव्युत्पत्तिविच्छि-त्तिकरणत्वात्[2] । न पुनः साधनज्ञानमनुमानम्, [3]तस्य [4]साधनाव्यु-त्पत्तिविच्छेदमात्रोपक्षीणत्वेन साध्याज्ञाननिवर्त्तकत्वायोगात् । [5]ततो यदुक्तं नैयायिकैः—'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्' [न्यायवा० १-१-५ उद्धृतम्][6] इत्यनुमानलक्षणम् तद[7]विनीतविलसितमिति निवेदितं भवति । [8]वयं त्वनुमानप्रमाणस्वरूपलाभे व्याप्तिस्मरणसहकृतो लिङ्गपरामर्शः[9] कारण1मिति मन्यामहे, स्मृत्यादि [10]स्वरूपलाभेऽनुभवादिवत् । तथा हि—धारणाख्योऽनुभवः स्मृतौ हेतुः । तादात्विकानुभव-स्मृती प्रत्यभिज्ञाने । स्मृतिप्रत्यभिज्ञानानुभवाः साध्य-

---

१ साध्यज्ञानस्यैव । २ अग्न्यादेरव्युत्पत्तिरज्ञानं तस्या विच्छित्तिर्निरासस्तत्करणत्वात् साध्यज्ञानस्य, अतः साधनाज्जायमानं साध्यज्ञानमेवानुमानमिति भावः । ३ साधनज्ञानस्य । ४ साधनसम्बन्ध्यज्ञाननिराकरणमात्रेणैव कृतार्थत्वेन । ५ यतश्च साधनज्ञानं नानुमानं ततः । ६ 'अपरे तु मन्यन्ते लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति । वयं तु पश्यामः सर्वमनुमानमनुमितेस्तन्नान्तरीयकत्वात् । प्रधानोपसर्जनताविवक्षायां लिङ्गपरामर्श इति न्याय्यम् । कः पुनरत्र न्यायः ? आनन्तर्यप्रतिपत्तिः । यस्माल्लिङ्गपरामर्शादनन्तरं शेषार्थप्रतिपत्तिरिति । तस्माल्लिङ्गपरामर्शो न्याय्य इति ।'—**न्यायवा०** पृ० ४५ । लिङ्गपरामर्शो लिङ्गज्ञानमित्यर्थः । ७ अविनीतैरविचारिभिर्विलसितं परिकल्पितमत एव तदयुक्तमिति भावः । ८ जैनाः । ९ लिङ्गज्ञानमनुमानस्योत्पत्तौ कारणम्, न तु स्वयमनुमानमित्यर्थः । १० आदिपदेन प्रत्यभिज्ञादीनां ग्रहणम् ।

---

1 'करणं' इति मु प्रतिपाठः ।

साधनविषयास्तर्के। [1]तद्वल्लिङ्गज्ञानं व्याप्तिस्मरणादिसहकृतमनुमानोत्पत्तौ निबन्धनमित्येतत्सुसङ्गतमेव[2]।

१८. [3]ननु [4]भवतां मते साधनमेवानुमाने [1]हेतुर्न तु साधनज्ञानं 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्' इति [5]वचनादिति चेत्; न; साधनादित्यत्र निश्चयपथप्राप्ताद्धूमादेरिति विवक्षणात्[6], अनिश्चयपथप्राप्तस्य धूमादेः साधनत्वस्यैवाघटनात्। तथा चोक्तं **तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके**[2]—"साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः" [१-१३-१२०] इति। साधनाज्ज्ञायमानाद्धूमादेः साध्येऽग्न्यादौ लिङ्गिनि यद्विज्ञानं तदनुमानम्। अज्ञायमानस्य [7]तस्य साध्यज्ञानजनकत्वे हि सुप्तादीनामगृहीतधूमादीना[8]मप्यग्न्यादिज्ञानोत्पत्ति[3]प्रसङ्गः। तस्माज्ज्ञायमानलिङ्गकारणकस्य[9] साध्यज्ञानस्यैव

१ स्मृत्यादिवत्। २ अस्मदीयं कथनं सुयुक्तमेव। ३ नैयायिकः शङ्कते नन्विति। ४ जैनानाम्। ५ पूर्वं निरूपणात्। ६ अत एवा**कलङ्कदेवै**रुक्तम्—

लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्।

लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः॥ लघी०का० १२।

७ साधनस्य। ८ जनानाम्। ९ ज्ञायमानं लिङ्गं कारणं यस्य तज्ज्ञायमानलिङ्गकारणकं तस्य, साध्याविनाभावित्वेन निर्णीतसाधनहेतुकस्येत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्—न हि वयं केवलं लिङ्गमनुमाने कारणं मन्यामहे, अपि त्वन्यथानुपपन्नत्वेन निश्चितमेव, अज्ञायमानस्य लिङ्गस्यानुमितिकारणत्वासम्भवात्। अन्यथा यस्य कस्याप्यनुमितिः स्यात्। एतेन यदुक्तं नैयायिकैः

1 'अनुमानहेतुः' इति **द प** प्रत्योः पाठः। 2 'श्लोकवार्त्तिके' इति **मुद्रित**प्रतिषु पाठः। 3 'ज्ञानोत्पाद' इति **द** प्रतिपाठः।

साध्याव्युत्पत्तिनिरासकत्वेनानुमानत्वम्, न तु [1]लिङ्गपरामर्शादे-रिति बुधाः प्रामाणिका[2] विदुरिति [3]वार्त्तिकार्थः ।

अनुमायां ज्ञायमानं लिङ्गं तु कारणं न हि ।
अनागतादिलिङ्गेन न स्यादनुमितिस्तदा' ॥

यद्यनुमितौ लिङ्गं करणं स्यात्तदाऽनागतेन विनष्टेन वा लिङ्गेन (इयं यज्ञशाला वह्निमती भविष्यति, भाविधूमात् । इयं यज्ञशाला वह्निमत्यासीत्, भूतधूमात् [सिद्धान्तमु० टिप्पण] इत्येवंरूपेण) अनुमितिर्न स्यादनुमितिकरणस्य लिङ्गस्य तदानीमभावात्'—**सिद्धान्तमुक्तावली** ६७; तन्निरस्तम्; लिङ्गस्य ज्ञायमानस्य करणत्वानभ्युपगमेऽज्ञायमानादपि लिङ्गादनुमितिप्रसङ्गात् । किञ्च, वर्त्तमानत्वेन प्रतीतस्यैव लिङ्गस्यानुमितिहेतुत्वम्, न भविष्यत्वेनातीतत्वेन वा भाव्यतीतयोर्लिङ्गत्वस्यैवाघटनात् । न हि कश्चित्प्रेक्षावान् भाविधूमात्भाविवह्निमतीतधूमादतीतवह्निं वाऽनुमिनोति । तस्माज्ज्ञायमानलिङ्गकारणकस्यैव साध्यज्ञानस्यानुमानत्वमिति ध्येयम् ।

१ नैयायिकाद्यभिमतस्य । २ **अकलङ्कदेवा न्यायविनिश्चये** (का० १७०) । ३ साधनात्साध्यविज्ञानमित्यादि**तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकीय**वार्त्तिकस्यार्थः । वार्त्तिकलक्षणं तु—

'उक्तानुक्तद्विरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रसज्यते ।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः ॥'

—पराशरोपपुराण अ० १८ ।

'उक्तानुक्तद्विरुक्तानां विचारस्य निबन्धनम् ।
हेतुभिश्च प्रमाणैश्च एतद्वार्त्तिकलक्षणम् ॥'

× × ×

'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ताकारि तु वार्त्तिकम् ।'—हैमकोश ।

'वार्त्तिकं हि सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं प्रसिद्धम् ।' —तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक पृ० २ ।

[साधनस्य लक्षणकथनम्]

§ १९. किं तत्साधनं यद्धेतुकं साध्यज्ञानमनुमानम् ? इति चेत्; उच्यते—निश्चितसाध्यान्यथानुपपत्तिकं साधनम्। यस्य[1] साध्याभावासम्भवनियमरूपा[2] व्याप्त्यविनाभावाद्यपरपर्याया साध्यान्यथानुपपत्तिस्तर्काख्येन प्रमाणेन निर्णीता तत्साधनमित्यर्थः। तदुक्तं **कुमारनन्दिभट्टारकैः**—

"अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमङ्ग्यते"1[[3]वादन्याय···]इति।

[साध्यस्य लक्षणकथनम्]

§ २०. किं तत्साध्यं यदविनाभावः साधनलक्षणम् ? उच्यते—शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं साध्यम्[4]। यत्प्रत्यक्षादिप्रमाणाबाधितत्वेन साधयितुं शक्यम्, वाद्यभिमतत्वेनाभिप्रेतम्[5], [6]सन्देहाद्याक्रान्तत्वेनाप्रसिद्धम्, तदेव साध्यम्। [7]अशक्यस्य साध्यत्वे [8]वह्न्यनुष्ण-

---

१ साधनस्य। २ साध्याभावे न भवतीति नियमरूपा। ३ यद्यपि कुमारनन्दिनोऽयं वादन्यायो नेदानीमुपलभ्यते तथापीयं कारिका सहोत्तरार्द्धेन विद्यानन्दस्वामिना प्रमाणपरीक्षायां 'कुमारनन्दिभट्टारकैः' पत्रपरीक्षायां च 'कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदित्वात्' इति नामोल्लेखपुरस्सरमुद्धृताऽस्ति। ४ श्री**माणिक्यनन्दि**भिरप्युक्तम्—'इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्'—**परीक्षा०** ३-२०। ५ इष्टम्। ६ अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासविशिष्टोऽर्थः साध्य इति भावः। 'सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम्'—**परीक्षा०** ३-२१। ७ बाधितस्य। ८ 'वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्' इत्यादौ वह्नावुष्णस्पर्शग्राहिणा प्रत्यक्षेण बाधितस्यानुष्णत्वादेरपि साध्यत्वं स्यात्।

---

1 'लिङ्गमभ्यत' इति मुद्रितप्रतिषु पाठः।

त्वादेरपि साध्यत्वप्रसङ्गात् । अनभिप्रेतस्य साध्यत्वे त्वतिप्रसङ्गात्[1] । प्रसिद्धस्य साध्यत्वे पुनरनुमानवैयर्थ्यात्[2] । तदुक्तं **न्यायविनिश्चये**—

"साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्[3] ।
साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः" ॥१७२॥ इति[1] ।

§ २१. अयमर्थः[2]—यच्छक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं तत्साध्यम् । ततोऽपरं साध्याभासम् । किं तत्[3]? विरुद्धादि । विरुद्धं प्रत्यक्षादिबाधितम् । आदिशब्दादनभिप्रेतं प्रसिद्धं चेति । कुत एतत् ? साधनाविषयत्वतः—साधनेन गोचरीकर्त्तुमशक्यत्वादित्यकलङ्कदेवानामभिप्रायलेशः[4] । तदभिप्रायसाकल्यं[5] तु [6]**स्याद्वादविद्या-**

१ स्वेष्टसाधनायोगात् । अत एवाह—'अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम्'—**परीक्षा०** ३-२२ । २ साधनार्हं हि साध्यम्, साधनं चासिद्धस्यैव भवति न सिद्धस्य, पिष्टपेषणानुषङ्गात् । तथा चासिद्धस्थ साधनमेवानुमानफलम्, सिद्धस्य तु साध्यत्वे तस्य प्रागेव सिद्धत्वेनानुमानवैफल्यं स्यादेवेति भावः । यदुक्तं **स्याद्वादविद्यापतिना**—'प्रसिद्धादन्यदप्रसिद्धम्, तदेव साध्यम् । न प्रसिद्धम्, तत्र साधनवैफल्यात् । प्रसिद्धिरेव हि साधनस्य फलम्, सा च प्रागेव सिद्धेति'—**न्यायवि०** वि० २, पृ० ८ । ३ शक्यादिलक्षणात्साध्याद्विपरीतम् । ४ अभिप्रायस्य संक्षेपः । ५ अकलङ्कदेवानामभिप्रायसामस्त्यम् । ६ श्रीमद्वादिराजाचार्यो न्यायविनिश्चयविवरणकारः ।

1 **आ द** प्रत्योः 'इति' पाठो नास्ति । 2 'अस्यायमर्थः' इति **आ** प्रतिपाठः । 3 'किं तत् ?' इति **द प** प्रत्योर्नास्ति ।

पतिर्वेद1 । साधनसाध्यद्वयमधिकृत्य[1] [2]श्लोकवार्त्तिकं च2—

[3]अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनम् ।
साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धमुदाहृतम् ॥

[१-१३-२२१] इति ।

§ २२. तदेवमविनाभावनिश्चयैकलक्षणात्साधनाच्छक्याभिप्रेताप्रसिद्धरूपस्य साध्यस्य ज्ञानमनुमानमिति सिद्धम् ।

[अनुमानं द्विधा विभज्य स्वार्थानुमानस्य निरूपणम्]

§ २३. [4]तदनुमानं द्विविधम्—स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वयमेव [5]निश्चितात्साधनात्साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानम्। [6]परोपदेशमनपेक्ष्य स्वयमेव निश्चितात्प्राक्तर्कानुभूतव्याप्तिस्मरण[7]सहकृताद्धूमादेः साधनादुत्पन्नं पर्वतादौ धर्मिण्यग्न्यादेः साध्यस्य ज्ञानं स्वार्थानु-

१ आश्रित्य । २ तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकम् । ३ अन्यथानुपपत्तिरविनाभावः, सा एवैका लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्तथा साधनम्, न पक्षधर्मत्वादित्रितयलक्षणं पञ्चलक्षणं वा बौद्ध-नैयायिकाभिमतम् । ४ उक्तलक्षणलक्षितम्। ५ प्रत्यक्षादिना ज्ञातात्। ६ प्रतिज्ञादिवाक्यप्रयोगम् । ७ 'हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणपूर्वकं जायमानं साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानम्, यथा गृहीतधूमस्य स्मृतव्याप्तिकस्य 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानम् । अत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणयोः समुदितयोरेव कारणत्ववसेयम्'-**जैनतर्कभा०** पृ० १२ । अनुमाता हि पर्वतादौ धूमं दृष्ट्वा महानसादौ गृहीतव्याप्तिं स्मृत्वा च 'पर्वतोऽयं वह्निमान्' इत्यनुमिनोति । यत्रेयमनुमितिः परोपदेशमनपेक्ष्य स्वयमेव निश्चितात्साधनाद्भवति तत्स्वार्थानुमानमिति भावः ।

1 'विवेद' इति **मु** प्रतिपाठः । २ 'च' इति **द** प्रतौ नास्ति ।

मानमित्यर्थः । यथा—पर्वतोऽयमग्निमान् धमवत्त्वादिति । [1]अयं हि स्वार्थानुमानस्य ज्ञानरूपस्यापि शब्देनोल्लेखः । यथा 'अयं घटः' इति शब्देन प्रत्यक्षस्य[2] । 'पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वात्' इत्यनेन प्रकारेण प्रमाता जानातीति स्वार्थानुमानस्थितिरित्यवगन्तव्यम्[1]।।

[स्वार्थानुमानस्याङ्गप्रतिपादनम्]

§ २४. अस्य च स्वार्थानुमानस्य त्रीण्यङ्गानि—[3]धर्मी, साध्यम्, साधनं च । तत्र साधनं [4]गमकत्वेनाङ्गम् । साध्यं तु गम्यत्वेन[5] । धर्मी पुनः साध्यधर्माधारत्वेन । [6]आधारविशेषनिष्ठतया हि साध्यसिद्धिरनुमानप्रयोजनम्, धर्ममात्रस्य तु व्याप्तिनिश्चयकाल एव सिद्धत्वात् 'यत्र तत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वम्' इति ।

§ २५. [7]अथवा2, पक्षो हेतुरित्यङ्गद्वयं स्वार्थानुमानस्य, साध्य-धर्मविशिष्टस्य धर्मिणः पक्षत्वात् । तथा च स्वार्थानुमानस्य धर्मि-साध्यसाधनभेदात् त्रीण्यङ्गानि पक्षसाधनभेदादङ्गद्वयं वेति सिद्धम्,

---

१ ननु स्वार्थानुमानस्य ज्ञानरूपत्वात्कथं तस्य 'पर्वतोऽयमग्निमान् धूम-वत्त्वात्' इति शब्देनोल्लेखः? इत्यत **आह अयमिति** । अनुमाता येन प्रकारेण स्वार्थानुमानं करोति तत्प्रकारप्रदर्शनार्थमेव ज्ञानरूपस्यापि तस्य शब्दविध-योल्लेखः । भवति हि यथा 'इदं मदीयं पुस्तकम्' इति शब्देन प्रत्यक्षस्या-प्युल्लेखः । ततो न कोऽपि दोष इति । २ उल्लेख इति पूर्वेण सम्बन्धः । ३ पक्षः । ४ ज्ञापकत्वेन । ५ ज्ञाप्यत्वेन । ६ धर्मिणः स्वार्थानुमानाङ्गत्वे युक्तिः । ७ प्रकारान्तरेण स्वार्थानुमानस्याङ्गप्रतिपादनार्थमाह **अथवेति** ।

---

1 **म मु** प्रतिषु स्थितिरवगन्तव्या' इति पाठः । 2 'अथवा' इति पाठो **मुद्रितप्रतिषु** नास्ति ।

[1]विवक्षाया [2]वैचित्र्यात् । [3]पूर्वत्र हि धर्मिधर्मभेदविवक्षा, [4]उत्तरत्र तु1 [5]तत्समुदायविवक्षा । स एष धर्मित्वेनाभिमतः प्रसिद्ध एव । तदुक्तमभियुक्तैः—"प्रसिद्धो धर्मी" [परीक्षा ३-२७] इति ।

[धर्मिणस्त्रिधा प्रसिद्धेर्निरूपणम्]

§ २६. प्रसिद्धत्वं च धर्मिणः [6]क्वचित्प्रमाणात्, क्वचिद्विकल्पात्[7], क्वचित्प्रमाण-विकल्पाभ्याम् । तत्र [8]प्रत्यक्षाद्यन्यतमावधृतत्वं प्रमाणप्रसिद्धत्वम् । अनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्यय2गोचरत्वं विकल्पप्रसिद्धत्वम् । [9]तद्द्वयविषयत्वं प्रमाणविकल्पप्रसिद्धत्वम् ।

§ २७. [10]प्रमाणसिद्धो धर्मी यथा—धूमवत्त्वादग्निमत्त्वे साध्ये पर्वतः । [11]स खलु प्रत्यक्षेणानुभूयते । विकल्पसिद्धो धर्मी यथा—अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादित्यस्तित्वे साध्ये सर्वज्ञः । अथवा, खरविषाणं नास्तीति नास्तित्वे साध्ये खरविषाणम् । सर्वज्ञो ह्यस्तित्वसिद्धेः प्राग् न प्रत्यक्षादिप्रमाण-

---

१ प्रतिपादनेच्छायाः । २ भिन्नत्वात् । ३ अङ्गत्रयप्रतिपादने । ४ अङ्गद्वयवचने । ५ धर्मधर्मिणोरैक्यविवक्षा, यतो हि तत्समुदायस्य पक्षत्ववचनात् । ६ अनुमाने । ७ प्रतीतेः । ८ प्रत्यक्षादीनामन्यतमेन प्रमाणेनावधृतत्वम्, निश्चितत्वमित्यर्थः । ९ प्रमाणविकल्पोभयविषयत्वम् । १० उक्तानां त्रिविधधर्मिणां क्रमेणोदाहरणानि प्रदर्शयति **प्रमाणेति** । ११ पर्वतः ।

---

1 द प्रतौ 'तु' स्थाने 'च' पाठः । 2 'अनिश्चितप्रामाण्यप्रत्यय' इति द प्रतिपाठः ।

सिद्धः, अपि तु 'प्रतीतिमात्रसिद्ध इति विकल्पसिद्धोऽयं धर्मी। तथा खरविषाणमपि नास्तित्वसिद्धेः प्राग्विकल्पसिद्धम्[२]। 'उभयसिद्धो धर्मी यथा–[४]शब्दः परिणामी कृतकत्वादित्यत्र शब्दः। स हि वर्त्तमानः प्रत्यक्षगम्यः, भूतो भविष्यंश्च विकल्पगम्यः। स सर्वोऽपि धर्मीति प्रमाण-विकल्पसिद्धो धर्मी। प्रमाणोभयसिद्धयोर्धर्मिणोः साध्ये कामचारः[५]। विकल्पसिद्धे तु धर्मिणि [६]सत्तासत्तयोरेव साध्यत्वमिति नियमः। तदुक्तम्–"विकल्पसिद्ध [७]तस्मिन् सत्तेतरे[८] साध्ये[९]" [परीक्षा ३-२८] इति।

§२८. तदेवं परोपदेशानपेक्षिणः[1] साधनाद् [१०]दृश्यमानाद्धर्मिनिष्ठतया साध्ये यद्विज्ञानं तत्स्वार्थानुमानमिति स्थितम्। तदुक्तम्–

---

१ सम्भावनामात्रसिद्धः, सम्भावना प्रतीतिर्विकल्प इत्येकार्थकाः। २ तथा चाहुः श्री**माणिक्यनन्दिनः**—'विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये' 'अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम्'—**परीक्षा०** ३-२८,२९। ३ प्रमाणविकल्पसिद्धः। ४ अत्र शब्दत्वेन निखिलशब्दानां ग्रहणम्, तेषु वर्त्तमानशब्दाः श्रावणप्रत्यक्षेण गम्याः सन्ति, भूता भविष्यन्तश्च प्रतीतिसिद्धाः सन्ति, अतः शब्दस्योभयसिद्धधर्मित्वमिति भावः। ५ अनियमः। ६ सत्ता अस्तित्वम्, असत्ता नास्तित्वम्, ते द्वे एवात्र विकल्पसिद्धे धर्मिणि साध्ये भवतः, 'अस्ति सर्वज्ञः' इत्यादौ सत्ता साध्या, 'नास्ति खरविषाणम्' इत्यादौ चासत्ता साध्या इत्येवं नियम एव, न प्रमाणोभयसिद्धधर्मिवत्कामचारस्तत्रेत्यवसेयम्। ७ धर्मिणि। ८ सत्तासत्ते। ९ भवत इति क्रियाध्याहारः। १० एतत्पदप्रयोगात् साधनस्य वर्त्तमानकालिकत्वं प्रकटितं बोद्धव्यम्, तेन भूतभाविधूमादेर्भूतभाविवह्न्यादिसाध्यं प्रति साधनत्वं निरस्तम्।

---

1 'परोपदेशानपेक्षेण' इति **आ** प्रतिपाठः।

परोपदेशाभावेऽपि साधनात्साध्यबोधनम् ।
यद्द्रष्टु[1]र्जायते स्वार्थमनुमानं तदुच्यते ॥[ ] इति ।

[परार्थानुमानस्य निरूपणम्]

§ २९. परोपदेशमपेक्ष्य यत्साधनात्साध्यविज्ञानं तत्परार्थानुमानम् । [2]प्रतिज्ञा-हेतुरूपपरोपदेशवशात् श्रोतुरुत्पन्नं साधनात् साध्यविज्ञानं परार्थानुमानमित्यर्थः । यथा—पर्वतोऽयमग्निमान् भवितुमर्हति धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति वाक्ये केनचित्प्रयुक्ते तद्वाक्यार्थं [3]पर्यालोचयतः [4]स्मृतव्याप्तिकस्य श्रोतुरनुमानमुपजायते ।

§ ३०. परोपदेशवाक्यमेव परार्थानुमानमिति केचित्[5]; त एवं प्रष्टव्याः तत् किं मुख्यानुमानम् अथ[1] [6]गौणानुमानम् इति ? न तावन्मुख्यानुमानम्, वाक्यस्याज्ञानरूपत्वात् । गौणानुमानं [7]तद्वाक्यमिति त्वनुमन्यामहे[8], [9]तत्कारणे [10]तद्व्यपदेशोपपत्तेरायु[2]र्घृतमित्यादिवत् ।

१ अनुमातुः । २ कोऽसौ परोपदेश इत्याह **प्रतिज्ञाहेतुरूपेति** । ३ विचारयतः । ४ महानसे पूर्वगृहीतव्याप्तिं स्मरतः । ५ नैयायिकादयः । ६ औपचारिकानुमानम् । ७ परोपदेशवाक्यम् । ८ वयं जैनाः । ९ परार्थानुमानकारणे परोपदेशवाक्ये । १० **परार्थानुमानव्यपदेशघटनात्**, तत उपचारादेव परोपदेशवाक्यं परार्थानुमानम् । परमार्थतस्तु तज्जन्यं ज्ञानमेव परार्थानुमानमिति । यदाह **श्रीमाणिक्यनन्दी**—'परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्'—**परीक्षा०** ३-५५, 'तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्'—**परीक्षा०** ३-५६,

1 **म मु** 'अथवा' इति पाठः । 2 **म मु** 'रायुर्वै घृतं' इति पाठः ।

[परार्थानुमानप्रयोजकवाक्यस्य प्रतिज्ञा-हेतुरूपावयवद्वयस्य प्रतिपादनम्]

§ ३१. तस्यैतस्य परार्थानुमानस्याङ्गसम्पत्तिः स्वार्थानुमानवत्। परार्थानुमानप्रयोजकस्य च वाक्यस्य[1] द्वाववयवौ–प्रतिज्ञा हेतुश्च। तत्र धर्म-धर्मिसमुदायरूपस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा। यथा–पर्वतोऽयमग्निमान्' इति। साध्याविनाभाविसाधनवचनं हेतुः। यथा–'धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः' इति 'तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेः'–इति वा[2]। अनयोर्हेतुप्रयोगयोरुक्तिवैचित्र्यमात्रम्[१]। [२]पूर्वत्र धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्ययमर्थः–धूमवत्त्वस्याग्निमत्त्वाभावेऽनुपपत्तेरिति निषेधमुखेन कथनम्[3]। द्वितीये[३] तु धूमवत्त्वोपपत्तेरित्ययमर्थः–अग्निमत्वे सत्येव धूमवत्त्वस्योपपत्तेरिति विधिमुखेन प्रतिपादनम्[4]। अर्थस्तु[5] न भिद्यते, [४]उभयत्राप्यविनाभाविसाधनाभिधानाविशेषात्। अतस्तयोर्हेतुप्रयोगयोरन्यतर[५] एव वक्तव्यः, उभयप्रयोगे पौनरुक्त्यात्। तथा चोक्तलक्षणा प्रतिज्ञा, एतयोरन्यतरो हेतुप्रयोगश्चेत्यवयवद्वयं परार्थानुमानवाक्यस्येति स्थितिः, व्युत्पन्नस्य श्रोतुस्ताव[६]न्मात्रेणैवानुमित्युदयात्।

श्रीहेमचन्द्राचार्योऽप्याह—'यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम्' 'वचनमुपचारात्'—**प्रमाणमी०** २,१, १-२।

१ केवलं कथनभेदः। २ हेतुप्रयोगे। ३ हेतुप्रयोगे। ४ हेतुप्रयोगद्वयेऽपि। ५ एकतर एव। ६ प्रतिज्ञाहेतुद्वयेनैव।

---

1 **द प** प्रत्योः 'च वाक्यस्य' इति पाठो नास्ति। 2 **द प** प्रत्योः 'च' पाठः। 3 **आ मु म** प्रतिषु 'प्रतिपादनम्' इति पाठः। 4 **आ मु म** प्रतिषु 'कथनम्' पाठः। 5 'अर्थतस्तु' इति **द** प्रतिपाठः।

[नैयायिकाभिमतपञ्चावयवानां निरासः]

§ ३२. ¹नैयायिकास्तु परार्थानुमानप्रयोगस्य यथोक्ताभ्यां द्वाभ्यामवयवाभ्यां सममुदाहरणमुपनयो निगमनं चेति पञ्चावयवानाहुः। तथा च ते सूत्रयन्ति "प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" [न्यायसू० १-१-३२] इति। तांश्च ते लक्षणपुरस्सरमु-

---

१ अवयवमान्यतामभिप्रेत्य दार्शनिकानां मतभेदो वर्त्तते। तथा हि— **नैयायिका**स्तावत् मूले प्रदर्शितान् प्रतिज्ञादीन् पञ्चावयवान् प्रतिपेदिरे। **नैयायिकैकदेशिनः** 'पूर्वोक्ताः पञ्च, जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनम्, संशयव्युदासः' (**न्यायभा०** १-१-३२) इति दशावयवान् वाक्ये संचक्षते। **मीमांसकाः** 'तत्राबाधित इति प्रतिज्ञा, ज्ञातसम्बन्धनियमस्येत्यनेन दृष्टान्तवचनम्, एकदेशदर्शनादिति हेत्वभिधानम्, तदेवं त्र्यवयवसाधनम्' (**प्रकरणपञ्जि०** पृ० ८३) इत्येतान् त्र्यवयवान् मन्यन्ते। **सांख्याः** 'पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवं साधनम्' (**सांख्य० माठरवृ०** का० ५) प्रतिपादयन्ति। बौद्धतार्किक**दिग्नागः** 'पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते × × × एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्युच्यन्ते' (**न्याय०** पृ० १४, १६) इति प्ररूपयति। केचि**न्मीमांसकाः** प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयान् चतुरोऽवयवान् कथयन्ति (**प्रमेयर०** ३-३६)। **धर्मकीर्ति**स्तन्मतानुसारिणो **बौद्धाश्च** हेतुदृष्टान्ताविति द्वाववयवौ (**प्रमाणवा०** १-२८, **वादन्या०** पृ० ६१), 'हेतुरेव हि केवलः' (**प्रमाणवा०** १-२८) इति केवलं हेतुरूपमेकमवयवमपि च निरूपयन्ति। वैशेषिकाश्च 'अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः' (**प्रशस्तपादभा०** पृ० ११४) इत्युक्तान् पञ्चावयवान् मेनिरे। **स्याद्वादिनो जैनास्तु** 'एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्' (परीक्षा० ३-३७) इति प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयमेव मन्यन्त इति विवेकः।

दाहरन्ति च1। तद्यथा—पक्षवचनं प्रतिज्ञा, यथा—पर्वतोऽयमग्निमानिति। साधनत्वप्रकाशार्थं2 पञ्चम्यन्तं लिङ्गवचनं हेतुः, यथा—धूमवत्त्वादिति। व्याप्तिपूर्वकदृष्टान्तवचनमुदाहरणम्, यथा—यो यो धूमवानसावसावग्निमान्, यथा महानस इति साधर्म्योदाहरणम्। यो योऽग्निमान्न भवति स स धूमवान्न भवति, यथा महाह्रद इति वैधर्म्योदाहरणम्। पूर्वत्रोदाहरणभेदे हेतोरन्वयव्याप्तिः[१] प्रदर्श्यते, द्वितीये तु व्यतिरेकव्याप्तिः[२]। तद्यथा—अन्वयव्याप्तिप्रदर्शनस्थानमन्वयदृष्टान्तः[३], व्यतिरेकव्याप्तिप्रदर्शनप्रदेशो व्यतिरेकदृष्टान्तः[४]। एवं दृष्टान्तद्वैविध्यात्तद्वचनस्योदाहणस्यापि द्वैविध्यं बोध्यम्। अनयोश्चोदाहरणयोरन्यतरप्रयोगेणैव पर्याप्तत्वादितराप्रयोगः। दृष्टान्तापेक्षया पक्षे3 हेतोरुपसंहारवचनमुपनयः[५], तथा

---

१ साधनसद्भावपूर्वकसाध्यसद्भावप्रदर्शनमन्वयव्याप्तिः। २ साध्याभावपूर्वकसाधनाभावप्रदर्शनं व्यतिरेकव्याप्तिः। ३ 'यत्र प्रयोज्यप्रयोजकभावेन साध्यसाधनयोर्धर्मयोरस्तित्वं ख्याप्यते स साधर्म्यदृष्टान्तः। यद्यत् कृतकं तत्तदनित्यं दृष्टम्, यथा घट इति'—**न्यायकलि०** पृ० ११। ४ 'यत्र साध्याभावप्रयुक्तो हेत्वभावः ख्याप्यते स वैधर्म्यदृष्टान्तः। यत्रानित्यत्वं नास्ति तत्र कृतकत्वमपि नास्ति, यथा आकाश इति' (**न्यायकलि०** पृ० ११) एतदुभयमधिकृत्य कैश्चिदुक्तम्—'साध्येनानुगमो हेतोः साध्याभावे च नास्तिता इति' (**न्यायवार्त्तिक** पृ० १३७)। ५ 'साधर्म्यवैधर्म्योदाहरणानुसारेण तथेति, न तथेति वा साध्यधर्मिणि हेतोरूपसंहार उपनयः'—**न्यायकलि०** पृ० १२।

---

1 **मुद्रित**प्रतिषु 'च' पाठो नास्ति। 2 **मु म** 'प्रकाशनार्थं'। 3 **मु** 'पक्षहेतो'।

चायं धूमवानिति । हेतुपूर्वकं पुनः1 पक्षवचनं निगमनम्[१], तस्मादग्निमानेवेति । एते पञ्चावयवाः परार्थानुमानप्रयोगस्य[२] । [३]तदन्यतमाभावे वीतरागकथायां[४] विजिगीषुकथायां च2 नानुमितिरुदेतीति नैयायिकानामभिमतिः3 ।

§ ३३. तदेतदविमृश्याभिमननम्; वीतरागकथायां4 प्रतिपाद्याशयानुरोधेनावयवाधिक्येऽपि विजिगीषुकथायां प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयेनैव पर्याप्तेः किमप्रयोजनैरन्यैरवयवैः ।

[विजिगीषुकथायां प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयस्यैव सार्थक्यमिति]

§ ३४. तथा हि—वादिप्रतिवादिनोः स्वमतस्थापनार्थं जयपराजयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्त्तमानो [५]वाग्व्यापारो विजिगीषुकथा । गुरुशिष्याणां विशिष्टविदुषां वा5 रागद्वेषरहितानां तत्त्वनिर्णय-

---

१ 'द्विविधे हेतौ द्विविधे च दृष्टान्ते द्विविधे चोपनये तुल्यमेव हेत्वपदेशेन पुनः साधर्म्योपसंहरणान्निगमनम्'—**न्यायकलि०** पृ० १२ । २ 'ते इमे प्रतिज्ञादयो निगमनान्ताः पञ्चावयवाः स्वप्रतिपत्तिवत्परप्रतिपत्तिमुत्पादयितुमिच्छता यथानिर्दिष्टक्रमकाः प्रयोक्तव्याः । एतदेव साधनवाक्यं परार्थानुमानमाचक्षते ।' —**न्यायकलि०** पृ० १२ । ३ प्रतिज्ञादीनामेकतमस्याऽप्यभावे । ४ 'वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथा । सा द्विविधा—वीतरागकथा विजिगीषुकथा चेति ।—**न्यायसार** पृ० १५ । ५ वचनप्रवृत्तिः ।

---

1 **मुद्रित**प्रतौ 'पुनः' नास्ति । 2 **आ म मु** प्रतिषु 'वा' पाठः । 3 **म मु** प्रतिषु 'मतम्' । 4 **द प** प्रत्योः 'वीतरागकथायां तु' इति पाठः । 5 **द** 'वा' पाठो नास्ति ।

पर्यन्तं परस्परं प्रवर्त्तमानो वाग्व्यापारो वीतरागकथा[1]। तत्र[2] विजगीषुकथा वाद इति चोच्यते[3]। [4]केचिद्वीतरागकथा वाद इति कथयन्ति, तत्पारिभाषिकमेव[5]। न हि लोके गुरुशिष्यादिवाग्व्यापारे वादव्यवहारः, विजिगीषुवाग्व्यवहार एव वादत्वप्रसिद्धेः1। यथा **स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः** सर्वे2सर्वथैकान्तवादिनो वादे जिता इति। तस्मिंश्च वादे परार्थानुमानवाक्यस्य प्रतिज्ञा हेतुरित्यवयवद्वयमेवोपकारकम्, नोदाहरणादिकम्। तद्यथा—लिंगवचनात्मकेन हेतुना तावदवश्यं भवितव्यम्, लिङ्गज्ञानाभावेऽनुमितेरेवानुदयात्। पक्षवचनरूपया प्रतिज्ञयाऽपि भवितव्यम्, [6]अन्यथाऽभिमतसाध्यनिश्चयाभावे साध्यसन्देहवतः श्रोतुरनुमित्यनुदयात्। तदुक्तम्—"एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्"[7][परीक्षा ३-३७]इति। **अयमर्थः**—एतयोः प्रतिज्ञा-

१ जयपराजयाभिप्रायरहिता तत्त्वजिज्ञासया क्रियमाणा तत्त्वचर्चा वीतरागकथा इति भावः। २ उभयोर्मध्ये। ३ यथोक्तम्—

प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैव सिद्धये।

वचनं साधनादीनां वादः सोऽयं जिगीषतोः ॥ न्यायवि०का० ३८२।

४ **नैयायिकाः**—'गुर्वादिभिः सह वादः × × × गुर्वादिभिः सह वादोपदेशात्, यस्मादयं तत्त्वबुभुत्सुर्गुर्वादिभिः सह त्रिविधं (अनधिगततत्त्वावबोधम्, संशयनिवृत्तिम्, अध्यवसिताभ्यनुज्ञानम्) फलमाकाङ्क्षन् वादं करोति।'—**न्यायवा०** पृ० १४९। यत्र वीतरागो वीतरागेणैव सह तत्त्वनिर्णयार्थं साधनोपालम्भौ करोति सा वीतरागकथा वादसंज्ञयोच्यते।' —**न्यायसार** पृ० १५। ५ कथनमात्रम्, न तु वास्तविकम्। ६ प्रतिज्ञाया अभावे। ७ 'एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्' इत्युपलब्धसूत्रपाठः।

1 द 'सिद्धेः' पाठः। 2 द 'सर्वे' पाठो नास्ति।

हेत्वोर्द्वयमेवानुमानस्य परार्थानुमानस्याङ्गम् । वाद इति शेषः । एवकारेणावधारणपरेण[१] नोदाहरणादिकमिति सूचितं[२] भवति । [३]व्युत्पन्नस्यैव हि वादाधिकारः, प्रतिज्ञाहेतुप्रयोग1मात्रेणैवोदाहरणादिप्रतिपाद्यस्यार्थस्य गम्यमानस्य व्युत्पन्नेन ज्ञातुं शक्यत्वात् । गम्यमानस्याऽप्यभिधाने[४] [५]पौनरुक्त्यप्रसङ्गादिति2 ।

§ ३५. [६]स्यादेतत्, प्रतिज्ञाप्रयोगेऽपि पौनरुक्त्यमेव, [७]तदभिधेयस्य पक्षस्यापि '[८]प्रस्तावादिना गम्यमानत्वात् । तथा च लिङ्गवचन3लक्षणो हेतुरेक एव वादे प्रयोक्तव्य[९] इति वदन् **बौद्ध**पशुरात्मनो [१०]"दुर्विदग्धत्व4 मुद्घोषयति[११] । हेतुमात्रप्रयोगे व्युत्पन्नस्यापि साध्यसन्देहानिवृत्तेः[१२] । तस्मादवश्यं प्रतिज्ञा प्रयोक्तव्या । तदुक्तम्–"साध्यसन्देहापनोदार्थं[१३] गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम्" [परीक्षा ३-३४] इति । तदेवं[१४] वादापेक्षया परार्थानुमानस्य प्रतिज्ञाहेतुरूपमवयवद्वयमेव, न न्यूनं न5 चाधिकमिति स्थितम् । [१५]प्रपञ्चः पुनरवयवविचारस्य पत्रपरीक्षायामीक्षणीयः[१६] ।

---

१ इतरव्यवच्छेदकेन । २ ज्ञापितम् । ३ वादकरणसमर्थस्यैव वक्तुः । ४ वचने । ५ पुनर्वचनं पौनरुक्त्यम् । ६ सौगतः शङ्कते । ७ प्रतिज्ञायाः प्रतिपाद्यस्य । ८ प्रकरणव्याप्तिप्रदर्शनादिना । ९ प्रतिज्ञामन्तरेण केवलस्य हेतोरेव प्रयोगः करणीयः, 'हेतुरेव हि केवलः' इति **धर्मकीर्ति**वचनात् । १० जाड्यम् ११ प्रकटयति । १२ साध्यस्य सन्देहो न निवर्त्तते । १३ साध्यसंशयनिवृत्त्यर्थम् । १४ विजिगीषुकथामाश्रित्य । १५ विस्तरः । १६ दृष्टव्यः ।

---

1 **द प** प्रत्योः 'प्रतिज्ञाहेतुमात्रे' इति पाठः । 2 **मु** 'इति' नास्ति । 3 **द** 'वचन' नास्ति । 4 **प मु** 'दुर्विदग्धता' पाठः । 5 'नाधिक' इति मु प्रतिपाठः ।

[वीतरागकथायामधिकावयवप्रयोगस्यौचित्यसमर्थनम्]

§ ३६. वीतरागकथायां तु प्रतिपाद्याशयानुरोधेन[1] प्रतिज्ञाहेतू द्वाववयवौ, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि त्रयः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयाश्चत्वारः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि वा1पञ्चेति यथायोग2 प्रयोगपरिपाटी[2]। तदुक्तं **कुमारनन्दिभट्टारकैः**—

"प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः"–[वादन्याय···]इति।

तदेवं प्रतिज्ञादिरूपात्परोपदेशादुत्पन्नं[3] परार्थानुमानम्। तदुक्तम्—

परोपदेशसापेक्षं साधनात्साध्यवेदनम्[4]।
श्रोतुर्यज्जायते सा हि परार्थानुमितिर्मता ॥[ ] इति।

तथा च स्वार्थं परार्थं चेति द्विविधमनुमानं साध्याविनाभावनिश्चयैकलक्षणाद्धेतोरुत्पद्यते।

---

१ प्रतिपाद्याः शिष्यास्तेषामाशयोऽभिप्रायस्तदपेक्षया। २ परार्थानुमानवाक्यावयववचनसमुदायः प्रयोगपरिपाटी। अत्रायं भावः—वीतरागकथायामवयवप्रयोगस्य न कश्चिन्नियमः, तत्र यावद्भिः प्रयोगैः प्रतिपाद्यो बोधनीयो भवति तावन्तस्ते प्रयोक्तव्याः। दृश्यन्ते खलु केचिद् द्वाभ्यामवयवाभ्यां प्रकृतार्थं प्रतिपद्यन्ते, केचन त्रिभिरवयवैः, अपरे चतुर्भिरवयवैः, अन्ये पञ्चभिरवयवैः, अत उक्तं 'प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः' इति। अत एव च परानुग्रहप्रवृत्तैः शास्त्रकारैः प्रतिपाद्यावबोधनदृष्टिभिस्तथैव प्ररूपणात्। व्युत्पन्नप्रज्ञानां तु न तथाऽनियमः, तेषां कृते तु प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयस्यैव पर्याप्तत्वादस्ति तादृङ्नियमः। ३ ज्ञानम्। ४ साध्यज्ञानम्।

---

1 द 'वा' नास्ति। 2 म मु 'यथायोग्यं' पाठः।

[बौद्धाभिमतत्रैरूप्यहेतुलक्षणस्य निरासः]

§ ३७. इत्थमन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरनुमितिप्रयोजक[1] इति [2]प्रथितेऽप्यार्हते1 मते तदेतदवितर्क्यान्ये[3]ऽन्यथा[4]ऽप्याहुः। तत्र तावत्ताथागताः 'पक्षधर्मत्वादित्रितयलक्षणा2ल्लिङ्गादनुमानोत्थानम्' इति वर्णयन्ति[5]। तथा हि–पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिरिति हेतोस्त्रीणि रूपाणि। तत्र साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, यथा[6]धूमध्वजानुमाने पर्वतः, तस्मिन् व्याप्य वर्त्तमानत्वं हेतोः पक्षधर्मत्वम्। साध्यसजातीयधर्मा धर्मी सपक्षः, यथा तत्रैव[7] महानसः, तस्मिन् सर्वत्रैकदेशे वा वर्त्तमानत्वं हेतोः सपक्षे सत्त्वम्। साध्यविरुद्धधर्मा धर्मी विपक्षः, यथा तत्रैव ह्रदः3,[8]तस्मात्सर्वस्माद्

१ जनक इत्यर्थः। २ प्रसिद्धे। ३ सौगतादयः। ४ त्रैरूप्यादिकम्। ५ अयमभिप्रायो बौद्धानाम्—नान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयैकलक्षणं साधनम्, अपि तु पक्षधर्मत्वादिरूपत्रययुक्तम्, तेनैवासिद्धत्वादिदोषपरिहारात्। उक्तं च।—

हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः॥

प्रमाणवा० १-१६।

'हेतुस्त्रिरूपः। किं पुनस्त्रैरूप्यम्? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षे चासत्त्वमिति।' **न्यायप्र०** पृ० १। अत्र **न्यायबिन्दुटी०** पृ० ३१,३३। **वादन्याय०** पृ. ६०। **तत्त्वसं०** पृ. ४०४ इत्याद्यपि दृष्टव्यम्। ६ धूमध्वजो वह्निः, धूमस्य तज्ज्ञापकत्वात्। ७ धूमध्वजानुमाने। ८ ह्रदादिसर्वविपक्षात्।

1 **म मु** 'अर्हतमते' पाठः। 2 **ब प** 'लक्षणलिङ्गा' इति पाठः। 3 **आ म मु** 'महाह्रदः' इति पाठः।

व्यावृत्तत्वं हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तिः[१]। तानीमानि त्रीणि रूपाणि मिलितानि हेतोर्लक्षणम्। [२]अन्यतमाभावे हेतोराभासत्वं[३] स्यादिति।

§ ३८. [४]तदसङ्गतम्; कृत्तिकोदयादेर्हेतोरपक्षधर्मस्य[५] शकटोदयादिसाध्यगमकत्वदर्शनात्। तथा हि—शकटं मुहूर्त्तान्ते उदेष्यति कृत्तिकोदयादिति। अत्र हि—शकटं धर्मी1, मुहूर्त्तान्तोदयः2 साध्यः, कृत्तिकोदयो हेतुः। न हि कृत्तिकोदयो हेतुः पक्षीकृते शकटे वर्त्तते, अतो न पक्षधर्मः। [६]तथाप्यन्यथानुपपत्तिबलाच्छकटोदयाख्यं साध्यं गमयत्येव[७]। तस्माद् **बौद्धाभिमतं** हेतोर्लक्षणमव्याप्तम्[८]।

[नैयायिकाभिमतपाञ्चरूप्यहेतुलक्षणस्य निरासः]

§ ३९. नैयायिकास्तु पाञ्चरूप्यं हेतोर्लक्षणमाचक्षते। तथा हि–

---

१ विपक्षावृत्तित्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिः। २ प्रोक्तरूपत्रयाणामेकैकापाये। ३ तन्नामको हेत्वाभासः स्यादिति भावः। तथा च पक्षधर्मत्वाभावेऽसिद्धत्वम्, सपक्षसत्त्वविरहे विरुद्धत्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्त्यभावे चानैकान्तिकत्वमिति। ४ ग्रन्थकारः समाधत्ते **तदसङ्गतमिति**। ५ पक्षेऽवर्तमानस्य। ६ पक्षधर्मत्वाऽभावेऽपि। ७ किञ्च, 'उपरि वृष्टिरभूत्, अधोपूरान्यथानुपपत्तेः' इत्यादावपि पक्षधर्मत्वं नास्ति तथापि गमकत्वं सर्वैरभ्युपगम्यते, अन्यथानुपपत्तिसद्भावात्। अतः सैव हेतोः प्रधानं लक्षणमस्तु? किं त्रैरूप्येण। ८ अव्याप्तिदोषदूषितम्। अपि च, 'बुद्धोऽसर्वज्ञो वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवत्' इत्यत्र पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयसद्भावेनातिव्याप्तम्।

---

1 **मु** 'शकटः पक्षः' पाठः। 2 **म मु** 'मुहूर्तान्ते उदयः' पाठः।

पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिः अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्च रूपाणि। [1]तत्राद्यानि[2] त्रीण्युक्तलक्षणानि। साध्यविपरीतनिश्चायकप्रबलप्रमाणरहितत्वमबाधितविषयत्वम्। तादृशसमबलप्रमाणशून्यत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम्। तद्यथा—पर्वतोऽयमग्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवानसा[1]वसावग्निमान्, यथा महानसः, यो योऽग्निमान्न भवति स धूमवान्न भवति, यथा महाह्रदः, तथा चायं धूमवांस्तस्मादग्निमानेवेति। [3]अत्र ह्यग्निमत्त्वेन साध्यधर्मेण विशिष्टः पर्वताख्यो धर्मी पक्षः, धूमवत्त्वं हेतुः। [4]तस्य च तावत्पक्षधर्मत्वमस्ति, पक्षीकृते पर्वते वर्त्तमानत्वात्। सपक्षे सत्त्वमप्यस्ति, सपक्षे महानसे वर्त्तमानत्वात्। [5]ननु केषुचित्सपक्षेषु धूमवत्त्वं न वर्त्तते, अङ्गारावस्थापन्नाग्निमत्सु प्रदेशेषु धूमाभावात्, इति चेत्; न; सपक्षैकदेशवृत्तेरपि हेतुत्वात्, सपक्षे सर्वत्रैकदेशे वा वृत्तिर्हेतोः सपक्षे सत्त्वमित्युक्तत्वात्। विपक्षाद्व्यावृत्तिरप्यस्ति, धूमवत्त्वस्य सर्वमहाह्रदादिविपक्ष[2]व्यावृत्तेः। [6]अबाधितविषयत्वमप्यस्ति, धूमवत्त्वस्य हेतोर्यो विषयोऽग्निमत्त्वाख्यं साध्यं तस्य प्रत्यक्षादि[7] प्रमाणाबाधितत्वात्। [8]असत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्ति, अग्निरहितत्वसाधकसमबलप्रमाणासम्भ-

---

१ तेषु। २ पक्षधर्मत्वादीनि। ३ वह्न्यनुमाने। ४ धूमवत्त्वस्य। ५ यौगं प्रति परः शङ्कते **नन्विति**। ६ धूमवत्त्वे पक्षधर्मत्वादित्रयं समर्थ्याबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चापि शेषरूपद्वयं समर्थयति प्रकरणकारोऽबाधितेत्यादिना। ७ आदिपदादनुमानागमादिग्रहणम्। ८ न विद्यते

---

1 **म मु** प्रतिषु 'स स' इति पाठः। 2 **आ म मु** 'विपक्षाद्व्या' इति पाठः।

वात्। [१]तथा च पाञ्चरूप्य[1] सम्पत्तिरेव धूमवत्त्वस्य [2]स्वसाध्य-साधकत्वे[२] निबन्धनम्। एवमेव सर्वेषामपि[३] सद्धेतूनां रूपपञ्चक-सम्पत्तिरूहनीया[४]।

§ ४०. तदन्यतमविरहादेव[५] खलु पञ्च हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिक-कालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाख्याः सम्पन्नाः। तथा हि—[६]अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धः, यथा—'अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वात्'। अत्र हि चाक्षुषत्वं हेतुः पक्षीकृते शब्दे न वर्त्तते, श्रावणत्वाच्छब्दस्य। तथा च पक्षधर्मविरहादसिद्धत्वं चाक्षुषत्वस्य। साध्यविपरीतव्याप्तो[८] विरुद्धः, यथा—'नित्यः शब्दः कृतकत्वात्' इति। कृतकत्वं हेतुः साध्यभूतनित्यत्वविपरीतेनानित्यत्वेन [९]व्याप्तः[3], सपक्षे[4] गगनादावविद्यमानो[5] विरुद्धः। [१०]सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः, यथा—'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्' इति। प्रमेयत्वं

प्रतिपक्षो यस्य सोऽसत्प्रतिपक्षस्तस्य भावस्तत्त्वम्, प्रतिद्वन्द्विहेतुरहितत्वमित्यर्थः। न ह्यत्र 'पर्वतो नाग्निमान् अमुकत्वात्' इत्येवंभूतमग्निरहितत्वसाधकं किञ्चित् समबलप्रमाणं वर्त्तते। ततोऽसत्प्रतिपक्षत्वं धूमवत्त्वस्य।

१ उक्तमेवोपसंहरति तथा चेति। २ स्वपदेन धूमवत्त्वं तस्य साध्यं वह्निस्तत्प्रसाधने। ३ कृतकत्वादीनाम्। ४ विचारणीया। ५ पक्षधर्मत्वादीनामेकैकापायात्। ६ तानेवोपदर्शयति। ७ न निश्चिता पक्षे वृत्तिर्यस्य सोऽसिद्धः। ८ 'साध्याद् (नित्यत्वादेः) विपरीतं यत् (अनित्यत्वादि) तेन सह व्याप्तो व्याप्तिमान् हेतुः स विरुद्धो हेत्वाभासः। ९ नियमेन वर्त्तमानः। १० साध्यासत्त्वे हेतुसत्त्वं व्यभिचारस्तेन सहितः सव्यभिचारः। साध्याभाववद्वृत्तिर्हेतुर्व्यभिचारीत्यर्थः।

1 द पञ्चरूप' पाठः। 2 आ प म मु 'स्व' नास्ति। 3 मु 'व्याप्तत्वात्' पाठः। 4 मु 'सपक्षे च' पाठः। 5 मु 'वविद्यमानत्वात्' पाठः।

हि हेतुः1 साध्यभूतमनित्यत्वं व्यभिचरति, गगनादौ विपक्षे[१] नित्यत्वेनापि सह वृत्तेः। ततो विपक्षाद्व्यावृत्त्यभावादनैकान्तिकः2। [२]बाधितविषयः [३]कालात्ययापदिष्टः। [४]यथा—'अग्निरनुष्णः पदार्थत्वात्' इति। अत्र हि पदार्थत्वं हेतुः स्वविषयेऽनुष्णत्वे उष्णत्वग्राहकेण प्रत्यक्षेण बाधिते प्रवर्त्तमानोऽबाधितविषयत्वाभावात्कालात्ययापदिष्टः। [५]प्रतिसाधनप्रतिरुद्धो3 हेतुः [६]प्रकरणसमः, [७]यथा—'अनित्यः शब्दो नित्यधर्मरहितत्वात्' इति। अत्र

१ अनित्यत्वाभाववति। २ प्रत्यक्षादिना बाधितो विषयः साध्यं यस्य हेतोः स बाधितविषयः कालात्ययापदिष्टो नाम। ३ एतन्नामकश्चतुर्थो हेत्वाभासः। तथा चोक्तम्—'प्रत्यक्षागमविरुद्धः कालात्ययापदिष्टः। अबाधितपरपक्षपरिग्रहो हेतुप्रयोगकालः तमतीत्यासावुपदिष्ट इति। अनुष्णोऽग्निः कृतकत्वात् घटवदिति प्रत्यक्षविरुद्धः। ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवत् इत्यागमविरुद्धः।'—**न्यायकलि०** पृ० १५। ४ कालात्ययापदिष्टमुदाहरति **यथेति**। ५ विरोधिसाधनं प्रतिसाधनम्, तेन साध्यप्रत्यायनं प्रति रुद्धोऽसमर्थीकृतो यो हेतुः स प्रकरणसमो नाम पञ्चमो हेत्वाभासः। ६ **जयन्तभट्टस्तु** प्रकरणसममित्थं लक्षयति—'विशेषाग्रहणात् प्रकरणे पक्षे संशयो भवति—नित्यः शब्दोऽनित्यः शब्दो वेति। तदेव विशेषाग्रहणं भ्रान्त्या हेतुत्वेन प्रयोज्यमानं प्रकरणसमो हेत्वाभासो भवति। अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेः घटवदिति, नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेराकाशवदिति। न चानयोरन्यतरदपि साधनं बलीयः यदितरस्य बाधकमुच्येत।'—**न्यायकलि०** पृ० १५। ७ असत्प्रतिपक्षापरनामप्रकरणसममुदाहरणद्वारा दर्शयति **यथेति**।

1 **ब आ** प्रत्योः 'हेतुः' नास्ति। 2 **ब** 'कम्'। 3 **ब** 'विरुद्धो' पाठः।

हि नित्यधर्मरहितत्वादिति हेतुः प्रतिसाधनेन प्रतिरुद्धः[1]। किं तत्प्रतिसाधनम् इति चेत्; नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मरहितत्वादिति नित्यत्वसाधनम्। तथा नासत्प्रतिपक्षत्वाभावात्प्रकरणसमत्वं नित्यधर्मरहितत्वादिति हेतोः। तस्मात्पाञ्चरूप्यं हेतोर्लक्षणमन्यतमाभावे हेत्वाभासत्वप्रसङ्गादिति सूक्तम्। 'हेतुलक्षणरहिता हेतुवदवभासमानाः खलु हेत्वाभासाः[१]। पञ्चरूपान्यतमशून्यत्वाद्धेतुलक्षणरहितत्वम्, कतिपयरूपसम्पत्तेर्हेतुवदवभासमानत्वम्' [ ] इति वचनात्।

§ ४१. [२]तदेतदपि नैयायिकाभिमतमनुपपन्नम्, कृत्तिकोदयस्य पक्षधर्मरहितस्यापि शकटोदयं प्रति हेतुत्वदर्शनात्पाञ्चरूप्यस्याव्याप्तेः।

§ ४२. [३]किञ्च, केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोर्हेत्वोः पाञ्चरूप्याभावेऽपि गमकत्वं तैरेवाङ्गीक्रियते। तथा हि—ते मन्यन्ते '[४]त्रिविधो हेतुः—अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी

१ 'अहेतवो हेतुवदवभासमानाः हेत्वाभासाः'—**न्यायकलि०** पृ० १४।
२ त्रैरूप्यवत्पाञ्चरूप्यमपि। ३ नैयायिकमतानुसारेणैव पुनरव्याप्तिं दर्शयति **किञ्चेति**। ४ 'अन्वयी, व्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी चेति। तत्रान्वयव्यतिरेकी विवक्षिततज्जातीयोपपत्तौ विपक्षावृत्तिः, यथा—अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वाद् घटवदिति। अन्वयी विवक्षिततज्जातीयवृत्तित्वे सति विपक्षहीनो, यथा सर्वानित्यत्ववादिनामनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति। अस्य हि विपक्षो नास्ति। व्यतिरेकी विवक्षितव्यापकत्वे सति सपक्षाभावे सति विपक्षावृत्तिः, यथा नेदं जीवच्छरीरं निरात्मकमप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गादिति—**न्यायवा०** पृ० ४६।

1 द 'विरुद्धः' पाठः।

चेति। तत्र पञ्चरूपोपपन्नोऽन्वयव्यतिरेकी। यथा–'शब्दोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात्, यद्यत्कृतकं तत्तदनित्यं यथा घटः, यद्यदनित्यं न भवति तत्तत् कृतकं न भवति1 यथाऽऽकाशम्, तथा चायं कृतकः, तस्मादनित्य एवेति'। अत्र शब्दं [1]पक्षीकृत्यानित्यत्वं साध्यते। तत्र कृतकत्वं हेतुस्तस्य पक्षीकृतशब्दधर्मत्वात्पक्षधर्मत्वमस्ति। सपक्षे घटादौ वर्त्तमानत्वाद्विपक्षे गगनादववर्त्तमानत्वादन्वयव्यतिरेकित्वम्।

§ ४३. पक्षसपक्षवृत्तिर्विपक्षरहितः केवलान्वयी। यथा–'अदृष्टादयः कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्, यद्यदनुमेयं तत्तत्कस्यचित्प्रत्यक्षम्, यथाऽग्न्यादि' इति। अत्रादृष्टादयः पक्षः, कस्यचित् प्रत्यक्षत्वं साध्यम्, अनुमेयत्वं हेतुः अग्न्याद्यन्वयदृष्टान्तः। अनुमेयत्वं हेतुः पक्षीकृतेऽदृष्टादौ वर्त्तते, सपक्षभूतेऽग्न्यादौ वर्त्तते। ततः पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं चास्ति। विपक्षः पुनरत्र नास्त्येव, सर्वस्यापि पक्ष2सपक्षान्तर्भावात्तस्माद्विपक्षाद्व्यावृत्तिर्नास्त्येव। [2]व्यावृत्तेरवधिसापेक्षत्वात्, अवधिभूतस्य च विपक्षस्याभावात्। शेषमन्वयव्यतिरेकिवद् द्रष्टव्यम्।

---

१ धर्मिणं कृत्वा। २ व्यावृत्तिर्ह्यवधिमपेक्ष्य भवति, अवधिश्च विपक्षः, स चात्र नास्त्येव। ततोऽवधिभूतविपक्षाभावान्न विपक्षव्यावृत्तिः केवलान्वयिनि हेताविति भावः।

---

1 **द आ** 'यत्कृतकं तदनित्यं यथा घटः यदनित्यं न भवति तत्कृतकं न भवति' इति पाठः। 2 **द** 'पक्षान्तर्भावा–' पाठः।

§ ४४. पक्षवृत्तिर्विपक्षव्यावृत्तः सपक्षरहितो हेतुः केवलव्यतिरेकी। यथा—'जीवच्छरीरं सात्मकं भवितुमर्हति प्राणादिमत्त्वात्, यद्यत्सात्मकं न भवति तत्तत्प्राणादिमन्न भवति यथा लोष्ठम्' इति। अत्र जीवच्छरीरं पक्षः, सात्मकत्वं साध्यम्, प्राणादिमत्त्वं हेतुः, लोष्ठादिर्व्यतिरेकदृष्टान्तः। प्राणादिमत्त्वं हेतुः पक्षीकृते जीवच्छरीरे वर्त्तते। विपक्षाच्च लोष्ठादेर्व्यावर्त्तते। सपक्षः पुनरत्र नास्त्येव, सर्वस्यापि 1पक्षविपक्षान्तर्भावादिति। शेषं पूर्ववत्।

§४५. एवमेतेषां त्रयाणां हेतूनां मध्येऽन्वयव्यतिरेकिण एव पाञ्चरूप्यम्, केवलान्वयिनो विपक्षव्या2वृत्तेरभावात्, केवलव्यतिरेकिणः सपक्षे3 सत्त्वाभावाच्च **नैयायिक**मतानुसारेणैव पाञ्चरूप्यव्यभिचारः[१]। अन्यथानुपपत्तेस्तु सर्वहेतुव्याप्तत्वाद्धेतुलक्षणत्वमुचितम्, [२]तदभावे हेतोः स्वसाध्यगमकत्वाघटनात्।

§ ४६. यदुक्तम्—'असिद्धादिदषपञ्चकनिवारणाय पञ्चरूपाणि' [ ] इति, तन्न; अन्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चितत्वस्यैवास्मदभिमतलक्षणस्य [३]तन्निवारकत्वसिद्धेः। [४]तथा हि—साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथप्राप्तत्वं खलु हेतोर्लक्ष-

१ अत्र व्यभिचारपदेनाव्याप्तिदोषो विवक्षितः। २ अन्यथानुपपत्तेरभावे। ३ असिद्धादिदोषव्यवच्छेदकत्वप्रसिद्धेः। ४ ननु कथमेकेनान्यथानुपपत्तिलक्षणेनासिद्धादिपञ्चहेत्वाभासानां निराकरणम्? इत्यत आह **तथा** हीति।

1 **द** 'पक्षान्तर्भा—'। 2 **आ प म मु** 'विपक्षव्यावृत्त्यभावात्' 3 **मु** 'सपक्षसत्वाभावात्'।

णम्, "साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः" [परीक्षा० ३-१५] इति वचनात्। न [1]चैतदसिद्धस्यास्ति। शब्दानित्यत्वसाधनायाभिप्रेतस्य [2]चाक्षुषत्वादेः स्वरूपस्यैवाभावे कुतोऽन्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चयपथप्राप्तिः? ततः साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चयपथप्राप्त्यभावादेवास्य हेत्वाभासत्वम्, न तु पक्षधर्मत्वाभावात्, [3]अपक्षधर्मस्यापि कृत्तिकोदयादेर्यथोक्त[4] लक्षणसम्पत्तेरेव सद्धेतुत्वप्रतिपादनात्। विरुद्धादेस्तदभावः[5] स्पष्ट एव। न हि विरुद्धस्य व्यभिचारिणो बाधितविषयस्य सत्प्रतिपक्षस्य वाऽन्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चयपथप्राप्तिरस्ति। तस्माद्यस्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति योग्यदेशनिश्चयपथप्राप्तिरस्तीति स एव सद्धेतुरपरस्तदाभास इति स्थितम्।

§ ४७. किंच[6], 'गर्भस्थो मैत्रीतनयः2 श्यामो भवितुमर्हति, मैत्रीतनयत्वात्, सम्प्रतिपन्नमैत्रीतनयवत्' इत्यत्रापि त्रैरूप्य-

---

१ साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथप्राप्तत्वम्। २ 'शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात्' इत्यत्र शब्देऽनित्यत्वसाधनाय प्रयुक्तस्य चाक्षुषत्वहेतोः स्वरूपत्वमेव नास्ति। यतो हि शब्दस्य श्रोत्रग्राह्यत्वम्, न तु चाक्षुषत्वम्। अतो न चाक्षुषत्वादेरन्यथानुपपन्नत्वम्। तदभावादेव चास्यासिद्धत्वमिति ज्ञेयम्। ३ पक्षधर्मरहितस्य। ४ साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथप्राप्तत्वलक्षणसद्भावादेव। ५ साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथप्राप्तत्वाभावः। ६ त्रैरूप्यपाञ्चरूप्ययोरतिव्याप्तिप्रदर्शनार्थमाह किञ्चेत्यादि।

---

1 द प्रतौ 'वा' स्थाने 'च' पाठः। 2 आ द प्रत्योः सर्वत्र 'मैत्र' स्थाने 'मैत्री' शब्दः प्रयुक्तः। जैनतर्कभाषायां (पृ० १८) स्त्रीलिङ्गवाचको 'मित्रा' शब्दः प्रयुक्तः।

पाञ्चरूप्ययोर्बौद्ध-यौगाभिमतयोरतिव्याप्तेरलक्षणत्वम्[१]। तथा हि–परिदृश्यमानेषु पञ्चसु मैत्रीपुत्रेषु श्यामतामुपलभ्य [२]तद्गर्भ-गतमपि1 विवादापन्नं पक्षीकृत्य श्यामत्वसाधनाय प्रयुक्तो मैत्री-तनयत्वाख्यो हेतुराभास[३]इति तावत्प्रसिद्धम्, अश्यामत्वस्यापि तत्र[४] सम्भावितत्वात्। तत्सम्भावना च श्यामत्वं प्रति मैत्रीतनयत्वस्या-न्यथानुपपत्त्यभावात्[५]। [६]तदभावश्च सहक्रमभावनियमाभावात्।

§ ४८. यस्य हि2 धर्मस्य येन धर्मेण सहभावनियमः स तं गमयति। यथा शिंशपात्वस्य वृक्षत्वेन सहभावनियमोऽस्तीति शिंशपात्वं हेतुर्वृक्षत्वं गमयति। यस्य च3 क्रमभावनियमः स तं गमयति। यथा धूमस्याग्न्यनन्तरभावनियमोऽस्तीति धूमोऽग्निं गमयति। [७]न हि मैत्रीतनयत्वस्य हेतुत्वाभिमतस्य श्यामत्वेन साध्यत्वाभिमतेन सहभावः क्रमभावो वा 4नियमोऽस्ति, येन मैत्रीतनयत्वं हेतुः श्यामत्वं साध्यं गमयेत्।

---

१ लक्षणाभासत्वम्। २ मैत्रीगर्भस्थम्। ३ असद्धेतुः। ४ गर्भस्थे मैत्रीतनये। ५ न हि श्यामत्वेन सह मैत्रीतनयत्वस्यान्यथानुपपत्तिरस्ति, गौरत्वेनापि तस्य वृत्तिसम्भवात्। ६ अन्यथानुपपत्त्यभावः, अन्यथानुपपत्ति-रविनाभावः। स च द्विविधः–सहभावनियमः क्रमभावनियमश्च। तदेतद्-द्विविधस्याप्यत्राभावादिति भावः। ७ ननु मैत्रीतनयत्वस्य श्यामत्वेन सह-भावः क्रमभावो वा नियमोऽस्तु, तथा च मैत्रीतनयत्वं श्यामत्वं गमयेदेव इत्याशङ्कायामाह नहीत्यादि।

---

1 **द प आ** 'तद्भार्यागर्भगतमपि' पाठः। 2 **द** 'हि' नास्ति। 3 **आ म** 'यस्य यत्क्रमभावनियमः' **मु** 'यस्य येन क्रम···'। 4 **द आ प म** प्रतिषु 'नियतो' पाठः।

§ ४६. यद्यपि सम्प्रतिपन्नमैत्रीपुत्रेषु श्यामत्वमैत्रीतनयत्वयोः सहभावोऽस्ति तथापि नासौ नियतः[१]। मैत्रीतनयत्वमस्तु श्यामत्वं माऽस्तु इत्येवंरूपे विपक्षे[२] बाधकाभावात्[३]। विपक्षे बाधकप्रमाण-बलात्खलु हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिनिश्चयः1। व्याप्तिनिश्चयतः सह-भावः क्रमभावो वा। "सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः" [परीक्षा० ३-१६] इति वचनात्। [४]विवादाध्यासितो वृक्षो भवितुमर्हति शिंशपात्वात्। या या शिंशपा स स वृक्षः, यथा सम्प्रतिपन्न इति। अत्र हि हेतुरस्तु साध्यं मा भूदित्येतस्मिन् विपक्षे सामान्य-विशेष-भावभङ्गप्रसङ्गो बाधकः। वृक्षत्वं हि सामान्यं शिंशपात्वं तद्विशेषः। न हि विशेषः सामान्याभावे सम्भवति। न चैवं मैत्रीतनयत्वमस्तु श्यामत्वं माऽस्तु इत्युक्ते किञ्चिद्बाधकमस्ति। तस्मान्मैत्रीतन-यत्वं हेत्वाभास एव। तस्य2 तावत्पक्षधर्मत्वमस्ति, पक्षीकृते

---

१ नियमेन वर्त्तमानः। २ व्यभिचारशङ्कायाम्। ३ तन्निवर्त्तकानुकूल-तर्काभावात्। अत्रायम्भावः 'हेतुरस्तु साध्यं माऽस्तु' इत्येवं व्यभिचार-शङ्कायां सत्यां यदि तन्निवर्त्तकं 'यदि साध्यं न स्यात्तर्हि हेतुरपि न स्यात् वह्न्यभावे धूमाभाववत्' इत्येवंभूतं विपक्षबाधकं प्रमाणमस्ति तदाऽसौ हेतुः सद्धेतुर्भवति, विपक्षबाधकप्रमाणाभावे च न सद्धेतुः, तथा च 'मैत्री-तनयत्वमस्तु श्यामत्वं माऽस्तु' इत्यत्र श्यामत्वाभावे मैत्रीतनयत्वस्यासत्त्वा-पादने न खलु 'यदि श्यामत्वं न स्यात्तर्हि मैत्रीतनयत्वमपि न स्यात्' इत्ये-वंभूतं किञ्चिद्विपक्षबाधकं वर्त्तते, यतः गर्भस्थे मैत्रीतनये मैत्रीतनयत्वस्य सत्त्वेऽपि श्यामत्वस्य सन्दिग्धत्वादिति। ४ पूर्वोक्तमेव स्पष्टयति **विवादा-ध्यासितेत्यादिना**।

---

1 द 'नियमः। 2 द 'तत्र तावत्प' पाठः।

गर्भस्थे तत्सद्भावात् । सपक्षेषु सम्प्रतिपन्नपुत्रेषु1 तस्य विद्यमानत्वात्सपक्षे सत्त्वमप्यस्ति । विपक्षेभ्यः पुन[1]रश्यामेभ्यश्चैत्रपुत्रेभ्यो व्यावर्त्तमानत्वाद्विपक्षाद्व्यावृत्तिरस्ति । [2]विषयबाधाभावादबाधितविषयत्वमस्ति । न हि गर्भस्थस्य श्यामत्वं केनचिद् बाध्यते । असत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्ति, प्रतिकूलसमबलप्रमाणाभावात् । इति पाञ्चरूप्यसम्पत्तिः । त्रैरूप्यं तु [3]सहस्रशतन्यायेन2 सुतरां सिद्धमेव ।

[अन्यथानुपपन्नत्वमेव हेतोर्लक्षणमित्युपपादनम्]

§ ५०. ननु च न पाञ्चरूप्यमात्रं हेतोर्लक्षणम् । किं तर्हि ? [4]अन्यथानुपपत्त्युपलक्षितमेव लक्षणमिति3 चेत्; तर्हि [5]सैवैका तल्लक्षणमस्तु4 [6]तदभावे पाञ्चरूप्यसम्पत्तावपि मैत्रीतनयत्वादौ न हेतुत्वम् । तत्सद्भावे पाञ्चरूप्याभावेऽपि कृत्तिकोदयादौ हेतुत्वमिति । तदुक्तम्—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्[7] ॥
[ ] इति बौद्धान् प्रति ।

---

१ गौरेभ्यः । २ विषयः साध्यम्, तच्चात्र श्यामत्वरूपम्, तस्य प्रत्यक्षादिना बाधाभावात् । ३ यथा सहस्रे शतमायात्येव तथा मैत्रीतनयत्वेपाञ्चरूप्यप्रदर्शिते त्रैरूप्यं प्रदर्शितमेवेति बोध्यम् । ४ अन्यथानुपपत्तिविशिष्टमेव पाञ्चरूप्यं हेतोर्लक्षणमित्यर्थः । ५ अन्यथानुपपत्तिरेवान्यनिरपेक्षा ६ कारणमाह **तदभावे** इति, तथा च हेतोः स्वसाध्यगमकत्वे अन्यथानुपपन्नत्वमेव प्रयोजकम्, न त्रैरूप्यं न च पाञ्चरूप्यमिति ध्येयम् । ७ कारिकेयं

---

1 **मु** 'सम्प्रतिपन्नेषु' । 2 **आ मु** 'सहस्रे शतन्यायेन' । 3 **मु** 'अन्यथानुपपत्त्युपलक्षणमिति' पाठः । 4 **प** 'सैवैकान्ताल्लक्षणमस्तु' पाठः । **मु** 'सैवैकान्तलक्षणमस्तु' इति पाठः ।

§ ५१. **यौगं**I प्रति तु—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ॥

[प्रमाणपरी० पृ० ७२] इति ।

[हेतुं विधिप्रतिषेधरूपाभ्यां द्विधा विभज्य तयोरवान्तरभेदानां कथनम्]

§ ५२. [1]सोऽयमन्यथानुपपत्तिनिश्चयैकलक्षणो हेतुः संक्षेपतो द्विविधः—[2]विधिरूपः, प्रतिषेधरूपश्चेति। विधिरूपोऽपि द्विविधः—विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्चेति । तत्राद्यो[3]ऽनेकधा । तद्यथा—कश्चित्कार्यरूपः, यथा—'पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः' इत्यत्र धूमः । धूमो ह्यग्नेः कार्यभूतस्तदभावे[4]ऽनुपपद्यमानो[5]ऽग्निं गमयति । कश्चित्कारणरूपः, यथा—'वृष्टिर्भविष्यति

तत्त्वसंग्रहकृता पात्रस्वामिकर्तृका निर्दिष्टा । सिद्धिविनिश्चयटीकाकृता तु भगवत्सीमन्धरस्वामिनः प्रदर्शिता । न्यायविनिश्चयविवरणे आराधनाकथाकोशे च भगवत्सीमन्धरस्वामिसकाशादानीय पद्मावतीदेव्या पात्रस्वामिने समर्पितेति समुल्लिखतम् । समुद्धृता च निम्नग्रन्थेषु—

तत्त्वसं० पृ० ४०६, न्यायविनि० का० ३२३, सिद्धिविनि० टी० २, पृ० ३७२, धवला पु. १३, पृ. २४६, तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३, २०५ । प्रमाणप० पृ० ७२, जैनतर्कवार्त्तिक पृ० १३५, सूत्रकृताङ्गटी० पृ० २२५, प्रमाणमी० पृ० ४०, सन्मतिटी० पृ० ५६०, स्या० रत्ना० पृ० ५२१, इत्थं चेयं कारिका जैनपरम्परायां सर्वत्र प्रतिष्ठिता ।

१ हेतुलक्षणं विस्तरतः प्रदर्श्याधुना तत्प्रकारनिरूपणार्थमाह **सोऽयमिति।** २ सद्भावात्मकः । ३ विधिसाधकः । ४ अग्न्यभावे । ५ अनुपपन्नः ।

I मुद्रितप्रतिषु 'यौगान्' इति पाठः ।

'विशिष्टमेघान्यथानुपपत्तेः' इत्यत्र मेघविशेषः। मेघविशेषो हि वर्षस्य कारणं स्वकार्यभूतं वर्षं गमयति।

§ ५३ [2]ननु कार्यं कारणानुमापकमस्तु, कारणाभावे कार्यस्यानुपपत्तेः। कारणं तु कार्याभावेऽपि सम्भवति, यथा—धूमाभावेऽपि

---

१ यथा चोक्तम्—

'गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः।

त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिसङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः॥'—न्यायम० पृ.१२६।

'रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः (तमसन्निभाः)।

वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः॥—षड्दर्श० २०।

ईदृशाः खलु विशिष्टमेघा वृष्टिं गमयन्त्येवेति भावः।

२ सौगतः शङ्कते **नन्विति,** तेषामयमाशयः—नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्तीति नियमः, अतश्च कारणं न कार्यस्य गमकं व्यभिचारात्, कार्यं तु कारणसत्त्वे एव भवति तदभावे च न भवति, अतस्तत्तु गमकमिष्टम्; तन्न युक्तम् 'यथैव हि किञ्चित् कारणमुद्दिश्य किञ्चित्कार्यम्, तथैव किञ्चित् कार्यमुद्दिश्य किञ्चित् कारणम्। यद्वदेवाजनकं प्रति **न** कार्यत्वम्, तद्वदेवाजन्यं प्रति न कारणत्वमिति नानयोः कश्चिद्विशेषः। अपि च रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छता न्यायवादिनेष्टमेव कारणस्य हेतुत्वम्। यदाह—

एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः।

हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत्॥

(प्रमाणवा० १-१०)

न च वयमपि यस्य कस्यचित् कारणस्य हेतुत्वं ब्रूमः। अपि तु यस्य न मन्त्रादिना शक्तिप्रतिबन्धो न वा कारणान्तरवैकल्यम्।'—**प्रमाणमी०**

सम्भवन् वह्निः सुप्रतीतः। अत एव वह्निर्न धूमं गमयतीति चेत्; तन्न; उन्मीलितशक्तिकस्य[1] कारणस्य कार्याव्यभिचारित्वेन कार्यं प्रति हेतुत्वाविरोधात्।

§ ५४. कश्चिद्विशेषरूपः[2], यथा—वृक्षोऽयं शिंशपात्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र [शिंशपा]। शिंशपा हि वृक्षविशेषः सामान्यभूतं वृक्षं गमयति। न हि वृक्षाभावे वृक्षविशेषो घटत इति। कश्चित्पूर्वचरः, यथा—उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयान्यथानुपपत्तेरित्यत्र कृत्तिकोदयः[1]। कृत्तिकोदयान्तरं मुहूर्त्तान्ते नियमेन शकटोदयो जायत इति कृत्तिकोदयः पूर्वचरो हेतुः शकटोदयं गमयति। कश्चिदुत्तरचरः, यथा—उदगाद्भरणिः प्राक्, कृत्तिकोदयादित्यत्र कृत्तिकोदयः। कृत्तिकोदयो हि भरण्युदयोत्तरचरस्तं गमयति। कश्चित्सहचरः, यथा—मातुलिङ्गं रूपवद्भवितुमर्हति रसवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र रसः। रसो हि नियमेन रूपसहचरितस्तदभावेऽनुपपद्यमानस्तद् गमयति।

१–२–१२। 'रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किंचित् कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्ध-कारणान्तरावैकल्ये।' —**परीक्षामु०** ३–६०। किञ्च, अस्त्यत्र छाया छत्रादित्यादौ छत्रादेर्विशिष्टकारणस्य छायादिकार्यानुमापकत्वेन हेतुत्वमवश्यं स्वीकार्यमस्ति। ततो न कारणहेतोरपह्नवः कर्त्तुं शक्य इति भावः।

१ प्रकटितसामर्थ्यस्य। २ विशेषो व्याप्यः।

---

1 द 'कृत्तिकोदयः' नास्ति।

§ ५५. एतेषूदाहरणेषु भावरूपानेवाग्न्यादीन् साधयन्तो धूमादयो हेतवो भावरूपा एवेति विधिसाधक-विधिरूपः[1]। एत1 एवा[2]विरुद्धोपलब्धय इत्युच्यन्ते। एवं विधिरूपस्य हेतोर्विधि-साधकाख्य आद्यो भेद उदाहृतः।

§ ५६. द्वितीयस्तु निषेधसाधकाख्यः, विरुद्धोपलब्धिरिति तस्यैव नामान्तरम्। स यथा—नास्य मिथ्यात्वम्, आस्तिक्यान्यथानुपपत्तेरित्यत्रास्तिक्यम्। आस्तिक्यं हि सर्वज्ञवीतरागप्रणीत-जीवादितत्त्वार्थरुचिलक्षणम्। तन्मिथ्यात्ववतो न सम्भवतीति मिथ्यात्वाभावं साधयति। यथा वा, नास्ति वस्तुनि सर्वथैकान्तः, अनेकान्तात्मकत्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्रानेकान्तात्मकत्वम्2। अनेकान्तात्मकत्वं हि वस्तुन्यबाधितप्रतीतिविषयत्वेन प्रतिभासमानं सौगतादिपरिकल्पितसर्वथैकान्ताभावं साधयत्येव।

§ ५७. [3]ननु किमिदमनेकान्तात्मकत्वं यद्बलाद्वस्तुनि सर्वथैकान्ताभावः साध्यते इति चेत्; उच्यते; सर्वस्मिन्नपि जीवादि-वस्तुनि भावाभावरूपत्वमेकानेकरूपत्वं नित्यानित्यरूपत्व-मित्येवमादिकमनेकान्तात्मकत्वम्। एवं विधिरूपो [4]हेतुर्दर्शितः[5]।

---

१ साध्यं साधनं चोभयमपि सद्भावात्मकम्। अत एवोल्लिखिता हेतवो विधिसाधक-विधिरूपा इति कथ्यते। २ अविरुद्धेन साध्येन सहोपलभ्यन्त इत्यविरुद्धोपलब्धयः। ३ एकान्तवादी शङ्कते नन्विति। ४ हेतोर्मूलभेदयो-र्विधि-प्रतिषेधरूपयोर्विधिरूपः प्रथमभेदः। ५ व्याख्यातः।

---

1 द प 'अत' पाठान्तरम्। 2 द 'हेतुः' इत्यधिको पाठः।

§ ५८. [1]प्रतिषेधरूपोऽपि[1] हेतुर्द्विविधः—[2]विधिसाधकः [3]प्रतिषेधसाधकश्चेति। तत्राद्यो यथा, अस्त्यत्र प्राणिनि सम्यक्त्वं [4]विपरीताभिनिवेशाभावात्। अत्र विपरीताभिनिवेशाभावः प्रतिषेधरूपः सम्यक्त्वसद्भावं साधयतीति प्रतिषेधरूपो विधिसाधको हेतुः।

§ ५९. [5]द्वितीयो यथा, नास्त्यत्र[6] धूमोऽग्न्यनुपलब्धेरित्यत्राग्न्यभावः प्रतिषेधरूपो धूमाभावं प्रतिषेधरूपमेव साधयतीति प्रतिषेधरूपः प्रतिषेधसाधको हेतुः। तदेवं विधिप्रतिषेधरूपतया द्विविधस्य हेतोः [7]कतिचिदवान्तरभेदा उदाहृताः[8]। विस्तरतस्तु **परीक्षामुखतः**[9] प्रतिपत्तव्याः[2]। इत्थमुक्तलक्षणा[10] एव[3] हेतवः साध्यं गमयन्ति। [11]नान्ये, हेत्वाभासत्वात्।

[हेत्वाभासानां चातुर्विध्यमुक्त्वा तेषां निरूपणम्]

§ ६०. [12]के ते हेत्वाभासाः इति चेत्; उच्यते; हेतुलक्षण-

---

१ हेतोर्द्वितीयभेदं प्रदर्शयति **प्रतिषेधेति**। २ विधिं सद्भावं साधयतीति विधिसाधकः। ३ प्रतिषेधमभावं साधयतीति प्रतिषेधसाधकः। ४ सम्यक्त्वस्य विपरीतं मिथ्यात्वं तस्याभिनिवेशो मिथ्यैकान्ताग्रहस्तदसत्त्वात्। मिथ्यात्वाभिनिवेशाभावो हि नियमेन जीवे सम्यक्त्वास्तित्वं साधयति, इति भावः। ५ प्रतिषेधसाधको हेतुः। ६ अस्मिन्प्रदेशे। ७ कतिपयाः प्रभेदाः। ८ उदाहरणद्वारा प्रदर्शिताः। ९ अत्र **परीक्षामुखस्य** ३–५९ सूत्रमारभ्य ३-९२ पर्यन्तसूत्राणि द्रष्टव्यानि। १० अन्यथानुपपन्नत्वविशिष्टाः। ११ अन्यथानुपपत्तिविरहिताः। १२ हेत्वाभासान् प्रदर्शयति **के ते**, इति।

---

1 **म** 'प्रतिषेधरूपः'। 2 **ब** प्रतौ 'प्रतिज्ञातव्याः' इति पाठः 3 **स प आ मु** प्रतिषु 'एव' पाठो नास्ति।

रहिता हेतुवदवभासमाना हेत्वाभासाः[1]। ते चतुर्विधाः–असिद्ध-विरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करभेदात्[2]। [3]तत्रानिश्चयपथप्राप्तोऽसिद्धः। अनिश्चयपथप्राप्तिश्च हेतोः स्वरूपाभावनिश्चयात् स्वरूपसन्देहाच्च। स्वरूपाभावनिश्चये स्वरूपासिद्धः, स्वरूपसन्देहे सन्दिग्धासिद्धः। तत्राद्यो यथा–परिणामी शब्दः चाक्षुषत्वादिति[4]। शब्दस्य हि श्रावणत्वाच्चाक्षुषत्वाभावो निश्चित इति स्वरूपासिद्धश्चाक्षुषत्वहेतुः। द्वितीयो यथा, धूमवाष्पादिविवेकानिश्चये कश्चिदाह–'अग्निमानयं प्रदेशो धूमवत्त्वात्'[5] इति। अत्र हि धूमवत्त्वं हेतुः सन्दिग्धासिद्धः, तत्स्वरूपे सन्देहात्।

---

१ तदुक्तं श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवैः—

अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये विडम्बिताः।
हेतुत्वेन परैस्तेषां हेत्वाभासत्वमीक्ष्यते॥

न्यायवि० का० ३४३।

२ तथा चोक्तम्–'हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः।' —परीक्षा० ६-२१। एतेषां संक्षेपलक्षणानि—

स विरुद्धोऽन्यथाभावादसिद्धः सर्वथाऽत्ययात्॥
व्यभिचारी विपक्षेऽपि सिद्धेऽकिञ्चित्करोऽखिलः।

प्रमाणसं० का० ४८, ४९

३ हेत्वाभासानां चतुर्भेदेषु प्रथमोद्दिष्टमसिद्धं लक्षयति **तत्रेति**।

४ यदुक्तं श्री**माणिक्यनन्दि**भिः—'अविद्यमानसत्ताकः (स्वरूपासिद्धः) परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात्।'—**परीक्षा०** ६-२३। ननु कुतोऽस्य चाक्षुषत्वहेतोरसिद्धत्वमिति चेत्तदप्याह 'स्वरूपेणासत्वात्'–**परीक्षा** ६-२४ इति।

५ उक्तञ्च **परीक्षामुखकृता**—'अविद्यमाननिश्चयो (सन्दिग्धासिद्धः)

§ ६१. 'साध्यविपरीतव्याप्तो हेतु[1] विरुद्धः। यथाऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वादिति[2]। कृतकत्वं ह्यपरिणामित्वविरोधिना परिणामित्वेन व्याप्तम्।

§ ६२. पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः[3]। स द्विविधः—निश्चितविपक्षवृत्तिकः शङ्कितविपक्षवृत्तिकश्च। तत्राद्यो यथा, धूमवानयं प्रदेशोऽग्निमत्त्वादिति। अत्राग्निमत्त्वं पक्षीकृते सन्दिह्यमानधूमे पुरोवर्त्तिनि प्रदेशे वर्त्तते, सपक्षे धूमवति महानसे च2 वर्त्तते, विपक्षे धूमरहितत्वेन निश्चितेऽङ्गारावस्थापन्नाग्निमति प्रदेशे वर्त्तते इति निश्चयान्निश्चितविपक्षवृत्तिकः[4]। द्वितीयो यथा,

मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात्' इति। 'तस्य वाष्पादिभावेन भूतसङ्घाते सन्देहात्'—**परीक्षा०** ६-२६।

१ 'साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा—शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनाऽनित्यत्वेन व्याप्तम्'—**तर्कसं०** पृ० ११२। 'विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्'—**परीक्षा०** ६-२९। २ यः स्वोत्पत्तौ परव्यापारमपेक्षते स कृतक उच्यते। शब्दोऽपि ताल्वादिपरिस्पन्दव्यापारमपेक्ष्य जन्यते। अतस्तस्य कृतकत्वं सुव्यक्तमेव। यच्च कृतकं तत्परिणामि दृष्टं यथा घटपटादि। तथा चात्र कृतकत्वं साध्यभूतापरिणामित्वविपरीतेन परिणामित्वेन सह व्याप्तत्वाद्विरुद्धमिति भावः। ३ 'विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः'—परीक्षा० ६-३०। ४ उदाहरणान्तरम्—'निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत्'—परीक्षा० ६-३१। 'आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात्'—परीक्षा ६-३२।

1 प म मु 'हेतुः' नास्ति। 2 ब 'च' नास्ति।

गर्भस्थो मैत्रीतनयः श्यामो भवितुमर्हति मैत्रीतनयत्वादितरतत्तनयवदिति। अत्र मैत्रीतनयत्वं हेतुः पक्षीकृते गर्भस्थे वर्त्तते, सपक्षे इतरतत्पुत्रे वर्त्तते, विपक्षे अश्यामे वर्त्ततापीति1शङ्कायां अनिवृत्तेः शङ्कितविपक्षवृत्तिकः। अपरमपि शङ्कितविपक्षवृत्तिकस्योदाहरणम्—अर्हन् सर्वज्ञो न भवितुमर्हति2 वक्तृत्वात् रथ्यापुरुषवदिति। वक्तृत्वस्य हि हेतोः पक्षीकृते अर्हति, सपक्षे रथ्यापुरुषे यथा वृत्तिरस्ति तथा विपक्षे सर्वज्ञेऽपि वृत्तिः सम्भाव्येत3, वक्तृत्वज्ञातृत्वयोरविरोधात्। यद्धि येन सह विरोधि तत्खलु तद्वति न वर्त्तते। न च वचन-ज्ञानयोर्लोके विरोधोऽस्ति, प्रत्युत ज्ञानवत एव वचनसौष्ठवं स्पष्टं दृष्टम्। ततो ज्ञानोत्कर्षवति सर्वज्ञे वचनोत्कर्षे काऽनुपपत्तिरिति ?

§ ६३. 'अप्रयोजको4 हेतुरकिञ्चित्करः। स द्विविधः—सिद्धसाधनो बाधितविषयश्चेति। तत्राद्यो यथा, शब्दः श्रावणो भवितुमर्हति शब्दत्वादिति। अत्र श्रावणत्वस्य साध्यस्य शब्दनिष्ठत्वेन सिद्धत्वाद्धेतुरकिंचित्करः। बाधितविषयस्त्वनेकधा। कश्चित्प्रत्यक्षबाधितविषयः, यथा—अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादिति। अत्र द्रव्यत्वं हेतुस्तस्य विषयत्वेनाभिमतमनुष्णत्वमुष्णत्वग्राहकेण स्पार्शनप्रत्यक्षेण5 बाधितम्। ततः किञ्चिदपि कर्त्तुमशक्यत्वादकिंचित्करो

१ ननु किं नामाप्रयोजकत्वमिति चेत्, अन्यथासिद्धत्वमप्रयोजकत्वम्, साध्यसिद्धिं प्रत्यसमर्थत्वमित्यर्थः।

1 म प मु प्रतिषु 'वर्त्तते नापीति' पाठः। 2 प म मु 'न भवति'। 3 म मु 'सम्भाव्यते' प 'सम्भाव्येति' पाठः। 4 द म 'अथाप्रयोजको'। 5 द प 'स्पर्शनेन प्रत्यक्षेण'।

द्रव्यत्वहेतुः। कश्चित्पुनरनुमानबाधितविषयः, यथा—अपरिणामी शब्दः कृतकत्वादिति। अत्र परिणामी शब्दः प्रमेयत्वादित्यनुमानेन बाधितविषयत्वम्। कश्चिदागमबाधितविषयः, यथा—प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवदिति। अत्र धर्मः सुखप्रद इत्यागमस्तेन बाधितविषयत्वं हेतोः। कश्चित्स्ववचनबाधितविषयः, यथा—मे माता बन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धबन्ध्यावत्। एवमादयो[1]ऽप्यकिञ्चित्करविशेषाः स्वयमूह्याः[2]। तदेवं हेतुप्रसङ्गाद्धेत्वाभासा [3]अवभासिताः।

[उदाहरणस्य निरूपणम्]

§ ६४. ननु व्युत्पन्नं प्रति यद्यपि प्रतिज्ञाहेतुभ्यामेव पर्याप्तं तथापि बालबोधार्थ1मुदाहरणादिकमप्यभ्युपगत2माचार्यैः[4]। उदा-

१ एतत्सर्वमभिप्रेत्य सूत्रमाहुः—'सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः'—**परीक्षा०** ६-३५। २ चिन्तनीयाः। ३ प्रकाशिता निरूपिता इत्यर्थः। ४ तथा हि—'प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगोपगमात्। यथैव हि कस्यचित्प्रतिबोध्यस्यानुरोधेन साधनवाक्ये सन्धाऽभिधीयते (तथा) दृष्टान्तादिकमपि—**पत्रपरी०** पृ० ३। **कुमारनन्दिभट्टारकै**रप्युक्तम्—

प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा।

प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैस्तथोदाहरणादिकम्॥ पत्रपरी. पृ. ३ उद्धृतम्।

श्री**माणिक्यनन्द्य**प्याह—'बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ, न वादेऽनुपयोगात्।' **परीक्षा०** ३-४६। श्री**यशोविजयसूरिणा**ऽप्युक्तम्—

1 द 'बोधनार्थ'। 2 म 'मभ्युपगन्तव्य', मु 'मभ्युपगत'।

हरणं च सम्यग्दृष्टान्तवचनम्[1]। कोऽयं दृष्टान्तो नाम इति चेत्; उच्यते; व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेशो दृष्टान्तः[2]। व्याप्तिर्हि साध्ये वह्न्यादौ सत्येव साधनं धूमादिरस्ति, असति तु नास्तीति साध्य-साधननियतसाहचर्य।लक्षणा। एतामेव2 साध्यं विना साधनस्या-भावादविनाभावमिति च व्यपदिशन्ति। तस्याः सम्प्रतिपत्तिर्नाम वादिप्रतिवादिनोर्बुद्धिसाम्यम्[3], सैषा यत्र सम्भवति स सम्प्रति-पत्तिप्रदेशो महानसादिर्ह्रदादिश्च। तत्रैव धूमादौ सति नियमेना-ऽग्न्यादिरस्ति, अग्न्याद्यभावे नियमेन धूमादिर्नास्तीति सम्प्रति-पत्तिसम्भवात्। तत्र महानसादिरन्वयदृष्टान्तः[4]। अत्र साध्यसाध-

'मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तादिप्रयोगोऽप्युपयुज्यते'—**जैनतर्कभाषा** पृ. १६

१ 'सम्यग्दृष्टान्ताभिधानमुदाहरणम्'—**न्यायसार** पृ० १२। 'दृष्टान्त-वचनमुदाहरणम्'—**न्यायकलिका** पृ० ११। २ यथा चोक्तम्—

सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञातः साध्यसाधनधर्मयोः।
स दृष्टान्तः तदाभासाः साध्यादिविकलादयः॥

—**न्यायविनि० का० ३८०।**

३ 'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः'—न्याय-सू० १-१-२५। 'तत्र दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खाविदुषां बुद्धिसाम्यं'—**चरकसं०** पृ० २६३। 'दृष्टान्तवचनं हि यत्र पृथग्जनानामार्याणां च बुद्धिसाम्यं तदा वक्तव्यम्। दृष्टान्तो द्विविधः—सम्पूर्णदृष्टान्त आंशिकदृष्टा-न्तश्च'—**उपायहृदय** पृ० ५। ४ 'दृष्टान्तो द्वेधा, अन्वयव्यतिरेकभेदात्' 'साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः'—**परीक्षा०** ३-४७,४८। 'दृष्टान्तो द्विविधः साधर्म्येण वैधर्म्येण च। तत्र साधर्म्येण तावत्,

1 म मु नियतता साहचर्यं'। २ प म मु 'एनामेव'।

नयोर्भावरूपान्वयसम्प्रतिपत्तिसम्भवात् । ह्रदादिस्तु व्यतिरेकदृष्टान्तः[1], अत्र साध्यसाधनयोरभावरूपव्यतिरेकसम्प्रतिपत्तिसम्भवात् । दृष्टान्तौ चैतौ, दृष्टावन्तौ धर्मौ साध्यसाधनरूपौ यत्र स दृष्टान्त इत्यर्थानुवृत्तेः ।

§ ६५. उक्तलक्षणस्य दृष्टान्तस्य यत्सम्यग्वचनं तदुदाहरणम् । न च वचनमात्रमयं दृष्टान्त इति । किन्तु दृष्टान्तत्वेन वचनम् । तद्यथा—यो यो धूमवानसावसावग्निमान्, यथा महानस इति । यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा महाह्रद इति च । एवंविधेनैव वचनेन दृष्टान्तस्य दृष्टान्तत्वेन प्रतिपादनसम्भवात् ।

[उदाहरणप्रसङ्गादुदाहरणाभासस्य कथनम्]

§ ६६. उदाहरणलक्षणरहित उदाहरणवदवभासमान उदाहरणाभासः । उदाहरणलक्षणराहित्यं1 द्वेधा सम्भवति, दृष्टान्तस्यासम्यग्वचनेनादृष्टान्तस्य सम्यग्वचनेन वा । तत्राद्यं यथा, यो

यत्र हेतोः सपक्ष एवास्तित्वं ख्याप्यते । तद्यथा—यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टम्, यथा घटादिरिति ।'—**न्यायप्र०** पृ० १,२ । यत्र प्रयोज्यप्रयोजकभावेन साध्यसाधनधर्मयोरस्तित्वं ख्याप्यते स साधर्म्यदृष्टान्तः ।'—**न्यायकलिका** पृ० ११ ।

१ 'साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः'—**परीक्षा०** ३-४९ । 'यत्र साध्याभावप्रयुक्तो हेत्वभावः ख्याप्यते स वैधर्म्यदृष्टान्तः'—**न्यायकलिका** पृ० ११ । "वैधर्म्येणाऽपि, यत्र साध्याभावे हेतोरभाव एव कथ्यते । तद्यथा—यन्नित्यं तदकृतकं दृष्टम्, यथाऽऽकाशमिति ।'—**न्यायप्र०** पृ० २ ।

1 म मु 'च' अधिकः ।

योऽग्निमान्1 स स धूमवान्, यथा महानस इति2, यत्र यत्र धूमो नास्ति तत्र तत्राऽग्निर्नास्ति, यथा महाह्रद इति च व्याप्य-व्यापकयोर्वैपरीत्येन कथनम्।

§ ६७. ननु किमिदं व्याप्यं व्यापकं नाम इति चेत्; उच्यते; साहचर्यनियमरूपां[१] व्याप्तिक्रियां प्रति यत्कर्म तद्व्याप्यम्, वि-पूर्वादापेः कर्मणि ण्यद्विधानाद्व्याप्यमिति सिद्धत्वात्। तत्तु व्याप्यं धूमादि। एतामेव3 व्याप्तिक्रियां प्रति यत्कर्तृ तद्व्यापकम्, व्यापेः कर्तरि ण्वुलि4 सति व्यापकमिति सिद्धेः[२]। एवं सति धूम-

१ 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः'—**तर्कसं०** पृ० ६१। २ अत्रेदं बोध्यम्—साहचर्यनियमरूपां व्याप्तिमाश्रित्य व्याप्य-व्यापकयोर्व्युत्पत्तिमुखेन लक्षणं प्रदर्शयता ग्रन्थकृता व्याप्तेरुभयधर्मत्वं प्रकटितम्। प्रमाणमीमांसाकृताऽपि तथैवोक्तम्—'व्याप्तिः' इति यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते तयोरुभयोर्धर्मः। तत्र यदा व्यापकधर्मतया विवक्ष्यते तदा व्यापकस्य गम्यस्य व्याप्ये धर्मे सति, यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र सर्वत्र भाव एव व्यापकस्य स्वगतो धर्मो व्याप्तिः। ततश्च व्याप्यभावापेक्षा व्याप्यस्यैव व्याप्तताप्रतीतिः।···यदा तु व्याप्यधर्मतया व्याप्तिर्विवक्ष्यते तदा व्याप्यस्य वा गमकस्य तत्रैव व्यापके गम्ये सति यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव भावः, न तदभावेऽपि व्याप्तिरिति।'—**प्रमाणमी०**पृ. ३८। इत्थं च व्याप्तेर्व्याप्यव्यापकोभयधर्मत्वेऽपि व्याप्यस्यैव धूमादेर्गमकत्वम्, व्यापकस्यैव च वह्न्यादेर्गम्यत्वम्, विशिष्टव्याप्तिसद्भावात्। व्याप्यस्य

1 **आ म मु प** 'वह्निमान्'। अग्रेतनव्याप्तिस्थाग्निशब्दप्रयोगापेक्षया **द** प्रतेरेव 'अग्निमान्' पाठो मूले निक्षिप्तः। 2 **द** 'इत्यादि'। 3 **म मु प** 'एनामेव'। 4 **मु** 'ण्वौ', **द** 'ण्वुण्णि'।

मग्निर्व्याप्नोति, यत्र धूमो वर्त्तते तत्र नियमेनाग्निर्वर्त्तते इति, यावत्सर्वत्र धूमवति नियमेनाग्निदर्शनात् । धूमस्तु न तथाऽग्नि व्याप्नोति, तस्याङ्गारावस्थस्य धूमं विनापि वर्त्तनात्1। यत्राग्नि-र्वर्त्तते तत्र नियमेन धूमो2 वर्त्तते इत्यसम्भवात् ।

§ ६८. [1]नन्वार्द्रेन्धनमग्निं व्याप्नोत्येव धूम इति चेत्; [2]ओ-मिति ब्रूमहे । यत्र यत्राविच्छिन्नमूलो3 धूमस्तत्र तत्राग्निरिति यथा, तथैव4 यत्र यत्राऽऽर्द्रेन्धनोऽग्निः तत्र तत्र धूम इत्यपि सम्भवात् । वह्निमात्रस्य[3] तु धूमविशेषं प्रति व्यापकत्वमेव[4],

व्यापकेनैव सहोपलब्धेः, व्यापकस्य तु व्याप्याभावेऽप्युपलब्धेरिति भावः । इदं च बौद्धविदुषाऽर्चटेनापि हेतुबिन्दुटीकायां निरूपितम् । व्याप्यव्यापक-मधिकृत्यात्र श्लोकः :—

व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च ।
साध्यं व्यापकमित्याहुः साधनं व्याप्यमुच्यते ॥'

प्रमाणमी० टि० पृ० ३७ ।

१ अथ नायं नियमः यत् 'अग्निरेव धूमं व्याप्नोति, न धूमोऽग्निम्' इति, धूमस्याऽप्याऽऽर्द्रेन्धनाग्निव्यापकत्वदर्शनात् 'यत्राऽऽर्द्रेन्धनोऽग्निर्वर्त्तते तत्र नियमेन धूमो वर्त्तते' इति, यावत्सर्वत्राऽऽर्द्रेन्धनवति धूमोपलब्धेः, तथा चाग्नेरपि धूमवद्व्याप्यत्वम्, ततश्च तस्यापि गमकत्वं स्वीकार्यमित्याशयेन शङ्कते **नन्विति** । २ समाधत्ते **ओमिति** । आर्द्रेन्धनस्याग्नेर्धूमव्याप्यत्वेऽपि वह्निसामान्यस्य तु व्यापकत्वमेव। ततो नोक्तदोष इति भावः। ३ वह्निसा-मान्यस्य । ४ न व्याप्यत्वमित्यर्थः ।

1 **आ** 'वर्त्तमानात्', **म मु** 'वर्त्तमानत्वात्' 2 **आ म मु** 'तत्र धूमो-ऽपि नियमेन' । 3 **द** 'यत्र यत्रानवच्छिन्नमूलो' । 4 **द** 'तथा' ।

अनुमानस्य तावन्मात्रा1 पेक्षत्वात्[१]। ततो यो यो धूमवानसाव-सावग्निमान्, यथा महानस इत्येवं सम्यग्दृष्टान्तवचनं वक्तव्यम्। विपरीतवचनं तु दृष्टान्ताभास एवेत्ययमसम्यग्वचनरूपो[२]ऽन्वय-दृष्टान्ताभासः। व्यतिरेकव्याप्तौ तु व्यापकस्याग्नेरभावो व्याप्यः, व्याप्यस्य धूमस्याभावो व्यापकः। तथा सति यत्र यत्राऽग्न्यभाव-स्तत्र तत्र धूमाभावो यथा ह्रद इत्येवं वक्तव्यम्। विपरीतकथनं तु, असम्यग्वचनत्वादुदाहरणाभास एव। [३]अदृष्टान्तवचनं2 तु, अन्वयव्याप्तौ व्यतिरेकदृष्टान्तवचनम्, व्यतिरेकव्याप्तावन्वय-दृष्टान्तवचनं च, उदाहरणाभासौ। स्पष्टमुदाहरणम्[४]।

§ ६९. ननु गर्भस्थो मैत्रीतनयः3 श्यामः, मैत्रीतनयत्वात्, साम्प्रत4मैत्रीतनयवत् इत्याद्यनुमानप्रयोगे पञ्चसु मैत्रीतनयेष्व-न्वयदृष्टान्तेषु 'यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम्' इत्यन्वय-व्याप्तेः, व्यतिरेकदृष्टान्तेषु गौरेष्वमैत्रीतनयेषु सर्वत्र 'यत्र यत्र

---

१ 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यनुमाने वह्निसामान्यस्यापेक्षणात्, न तु वह्निविशेषस्य। नातो कश्चिद्दोष इति भावः। २ अन्वयदृष्टान्ताभासो द्विविधः—दृष्टान्तस्यासम्यग्वचनमदृष्टान्तस्य सम्यग्वचनं च, तत्रायमाद्यः। ३ अन्वयदृष्टान्ताभासस्य (उदाहरणाभासस्य) द्वितीयभेदमदृष्टान्तस्य सम्यग्वचनाख्यं दर्शयति **अदृष्टान्तेति**। ४ अनयोरुदाहरणाभासयोरुदाहरणं स्पष्टमेवेत्यर्थः।

---

1 'अनुमातुस्तावन्मात्रा' इति **म मु** पाठः। 2 **मु** 'अदृष्टान्तवचनं' नास्ति। तत्र त्रुटितोऽयं पाठः। 3 **मु** 'मैत्रीतनयः' नास्ति। 4 **द प** 'सम्मत' पाठः।

श्यामत्वं नास्ति तत्र तत्र मैत्रीतनयत्वं नास्ति' इति व्यतिरेकव्याप्तेश्च सम्भवान्निश्चितसाधने गर्भस्थमैत्रीतनये पक्षे साध्यभूतश्यामत्वसन्देहस्य[1] 'गुणत्वात्[1] सम्यगनुमानं प्रसज्येदिति चेत्; न; दृष्टान्तस्य विचारान्तरबाधितत्वात् ।

§ ७०. तथा हि—साध्यत्वेनाभिमतमिदं हि श्यामत्वरूपं[2] कार्यं सत् स्वसिद्धये कारणमपेक्षते। तच्च कारणं न तावन्मैत्रीतनयत्वम्, विनाऽपि तदिदं[२] पुरुषान्तरे[३] श्यामत्वदर्शनात् । न हि कुलालादिक[3]मन्तरेण सम्भविनः पटस्य कुलालादिकं कारणम्[४]। एवं[५] मैत्रीतनयत्वस्य श्यामत्वं प्रत्यकारणत्वे निश्चिते यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं न तत्र तत्र श्यामत्वम्, किन्तु यत्र तत्र श्यामत्वस्य कारणं विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहारपरिणामस्तत्र तत्र तस्य कार्यं श्यामत्वम्, इति सिद्धं [६]सामग्रीरूपस्य विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहारपरिणामस्य श्यामत्वं प्रति व्याप्यत्वम् । स[७] तु पक्षे[८] न

१ अतो गर्भस्थे श्यामत्वस्य सन्देहो गौणः, स च न मैत्रीतनयत्वहेतोः समीचीनत्वे बाधकः । तथा च तत्समीचीनमेवानुमानमिति शङ्कितुर्भावः । २ मैत्रीतनयत्वम् । ३ मैत्रीपुत्रभिन्नपुरुषे । ४ ततो न मैत्रीतनयत्वमन्तरेण जायमानं श्यामत्वं प्रति मैत्रीतनयत्वं कारणमिति भावः । ५ इत्थं च । ६ श्यामत्वजनिका सामग्री, सा चात्र विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहारपरिणामः, तत्सत्त्वे एव श्यामत्वसत्त्वम्, तदभावे च तदभाव इति भावः । ७ विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहारपरिणामः । ८ गर्भस्थे मैत्रीतनये ।

1 म 'गोणत्वा' । 2 द भा म मु 'श्यामरूपं । 3 आ प म मु कुलालचक्रादिकमन्तरेणापि' ।

निश्चीयत' इति सन्दिग्धासिद्धः। मैत्रीतनयत्वं तु[2]अकारणत्वादेव1 श्यामत्वं कार्यं न गमयेदिति।

§ ७१. [3]केचित्2 "निरुपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः[4]" [ ]इत्यभिधाय "साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तिरूपाधिः[5]" [ ] इत्यभिदधते3। सोऽयमन्योन्या-

१ श्यामत्वसामग्रचन्तर्गतविशिष्टनामकर्मादेरतीन्द्रियत्वान्निश्चयासम्भवात्। २ मैत्रीतनयत्वस्य श्यामत्वं प्रति कारणत्वाभावादेव। ३ ननु नाकरणत्वान्मैत्रीतनयत्वं श्यामत्वं प्रत्यगमकम्, अपि तु व्याप्त्यभावात्। व्याप्तिर्हि निरुपाधिकः सम्बन्धः। स चात्र नास्त्येव, शाकपाकजत्वोपाधिसत्त्वेन मैत्रीतनयत्वस्य निरुपाधिकत्वासम्भवादिति केषाञ्चिदाशयं प्रदर्शयन्नाह **केचिदिति**। केचित् **नैयायिकादय** इत्यर्थः। ४ 'ननु कोऽयं प्रतिबन्धो नाम? **अनौपाधिकः सम्बन्ध** इति ब्रूमः।'—**किरणावली** पृ० २९७। अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः। अनौपाधिकत्वं तु यावत्स्वव्यभिचारिव्यभिचारिसाध्यसामानाधिकरण्यम्, यावत्स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिप्रतियोगिकात्यन्ताभावसमानाधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्यं वा। यावत्साधनाव्यापकाव्याप्यसाध्यसामानाधिकरण्यमिति निरुक्तिद्वयार्थः।'—**वैशेषिकसूत्रोपस्कार** पृ० ९२। ५ **'साधने सोपाधिः साध्ये निरूपाधिरेवोपाधित्वेन निश्चेयः। ××× उपाधिलक्षणं तु साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापत्वमित्युक्तमेव।'**—**किरणावली** पृ० ३००, ३०१। 'नन्वनौपाधिकत्वमुपाधिविरहः, उपाधिरेव दुष्परिकलनीय इति चेन्न; साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वस्योपाधित्वात्। तदुक्तम्—साधने सोपाधिः साध्ये निरुपाधिरुपाधिः।'—**वैशेषिकसूत्रोपस्कार** पृ० ९३। 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वमुपाधिः। साध्यसमानाधिकरणाऽत्यन्ताभावा-

1 म 'अकारणादेव'। 2 मु कश्चित्'। 3 मु 'अभिधत्ते'।

श्रयः[1]। प्रपञ्चितमेतदुपाधिनिराकरणं कारुण्यकलिकायामिति विरम्यते।

[उपनयनिगमनयोस्तदाभासयोश्च लक्षणकथनम्]

§ ७२. साधनवत्तया पक्षस्य दृष्टान्तसाम्यकथनमुपनयः—तथा चायं धूमवानिति। साधनानुवादपुरस्सरं साध्यनियमवचनं निग-

---

ऽप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वं। साधनवन्निष्ठाऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाऽव्यापकत्वम्। यथा—'पर्वतो धूमवान् बह्निमत्त्वात्' इत्यत्राऽऽर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। तथा हि—'यत्र धूमस्तत्राऽऽर्द्रेन्धनसंयोगः' इति साध्यव्यापकत्वम्, 'यत्र वह्निस्तत्राऽऽर्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति' अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाभावादिति साधनाऽव्यापकत्वम्। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वादार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः।'—तर्कसं० पृ० ११४। 'उपाधिश्चतुर्विधः—केवलसाध्यव्यापकः, पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकश्चेति। आद्यः—आर्द्रेन्धनसंयोगः। द्वितीयो यथा—'वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्' इत्यत्र बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वव्यापकमुद्भूतरूपवत्त्वम्। तृतीयो यथा—'प्रागभावो विनाशी जन्यत्वात्' इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम्। चतुर्थस्तु 'प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात्' इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम्।'—तर्कदी० पृ० ११४-११६।

१ व्याप्तिलक्षणस्योपाधिगर्भत्वादुपाधिलक्षणस्य च व्याप्तिघटितत्वात्। तथा च व्याप्तिग्रहे सति उपाधिग्रहः स्यात् उपाधिग्रहे च सति व्याप्तिग्रहः स्यादित्येवमन्योन्याश्रयः। यथा चोक्तम्—नाप्यनौपाधिकः सम्बन्धः, उपाधेरेव दुर्वचत्वात्। सुवचत्वेऽपि दुर्ग्रहत्वात्, सुग्रहत्वेऽप्यन्योन्याश्रयात्। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादेर्व्याप्तिग्रहाधीनग्रहत्वात्।'—वैशेषिकसूत्रोप० पृ० ६०।

मनम्—तस्मादग्निमानेवेति । अनयोर्व्यत्ययेन[१] कथनमनयोराभासः । [२]अवसित1मनुमानम् ।

[परोक्षप्रमाणभेदस्यागमस्य निरूपणम्]

§ ७३. [३]अथागमो लक्ष्यते2 । आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः[४] । 3अत्रागम इति लक्ष्यम् । अवशिष्टं लक्षणम् । अर्थज्ञानमित्ये4तावत्युच्यमाने प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिः, अत उक्तं वाक्यनिबन्धनमिति । वाक्यनिबन्धमर्थज्ञानमित्युच्यमानेऽपि 5यादृच्छिकसंवादिषु विप्रलम्भवाक्यजन्येषु सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्येषु वा नदीतीरफलसंसर्गादिज्ञानेष्वतिव्याप्तिः, अत उक्तमाप्तेति[५] । आप्तवाक्यनिबन्धनज्ञानमित्युच्यमानेऽप्याप्तवाक्यकर्मके श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः, अत उक्तमर्थेति । अर्थस्तात्पर्यरूढः6 [प्रयोजनारूढ]इति यावत्[६] । अर्थ एव7 'तात्पर्यमेव वचसि'[ ]

---

१ विपरीतक्रमेण, क्रमभङ्गेनेत्यर्थः । २ निर्णीतम् । ३ विस्तरतोऽनुमानं प्ररूप्याधुना क्रमप्राप्तमागमं लक्षयति **अथेति** । ४ 'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः' । परीक्षा—३-९९ । आप्तस्य वाक्यं वचनं तन्निबन्धनं यस्यार्थज्ञानस्येत्याप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमिति । अत्र 'आप्तशब्दोपादानादपौरुषेयत्वव्यवच्छेदः । अर्थज्ञानमित्यनेनान्यापोहज्ञानस्याभिप्रायसूचनस्य च निरासः ।—**प्रमेयर०**पृ. १२५ । ५ आप्तो यथार्थवक्ता । ६ उक्तं च—'अर्थज्ञानमित्येतावत्युच्यमाने प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिरत उक्तं वाक्यनिबन्धनमिति । वाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युच्यमानेऽपि यादृच्छिकसंवादिषु विप्रलम्भ-

---

1 **मु** 'इत्यवसित' । 2 **द** 'लिख्यते' । 3 **द** 'तत्रागम' । 4 **म मु** 'तावदुच्यमा' । 5 **द** 'यादृग्विसंवादिविप्रलम्भ' । 6 **म मु प** 'तात्पर्यरूप' । 7 **मु** 'अर्थ एव' नास्ति ।

इत्यभियुक्तवचनात् । तत आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युक्तमागमलक्षणं निर्दोषमेव । यथा—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" [तत्त्वार्थसू० १-१] इत्यादिवाक्यार्थज्ञानम् । सम्यग्दर्शनादीनि1 मोक्षस्य सकलकर्मक्षयस्य मार्ग उपायः, न तु मार्गाः । ततो भिन्नलक्षणानां दर्शनादीनां त्रयाणां समुदितानामेव मार्गत्वम्, न तु प्रत्येकमित्ययमर्थो मार्ग इत्येकवचनप्रयोगतात्पर्य2 सिद्धः । अयमेव वाक्यार्थः । अत्रैवार्थे प्रमाणसाध्या संशयादिनिवृत्तिः3 प्रमितिः ।

[आप्तस्य लक्षणम्]

§ ७४. [1]कः पुनरयमाप्तः इति चेत्; उच्यते; आप्तः[2] प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशकः । प्रमितेत्यादावेवोच्यमाने श्रुतकेवलिष्वतिव्याप्तिः, तेषामागमप्रमितसकलार्थत्वात्[3] ।

वाक्यजन्येषु सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्येषु वा नदीतीरफलसंसर्गादिज्ञानेष्वतिव्याप्तिः, अत उक्तमाप्तेति । आप्तवाक्यनिबन्धनज्ञानमित्युच्यमानेऽप्याप्तवाक्यकर्मके (कारणे) श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिरत उक्तमर्थेति । अर्थस्तात्पर्यरूढः, प्रयोजनारूढ इति यावत् । तात्पर्यमेव वचसीत्यभियुक्तवचनात् वचसां प्रयोजनस्य प्रतिपादकत्वात् ।'—**प्रमेयक०** टि० पृ०३६१ । **प्रमेयर०** टि० पृ० १२४ ।

१ आप्तस्य स्वरूपं जिज्ञासमानः परः पृच्छति **कः पुनरयमाप्त इति** ।
२ 'तत्राप्तिः साक्षात्करणादिगुणः "सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः" इत्यादिना साधितः'।—**अष्टश० अष्टस०** पृ० २३६ । तया विशिष्टो योऽसावाप्त इति भावः । ३ श्रुतकेवलिनो हि श्रुतेन सकलार्थान् प्रतिपद्यन्ते ।

1 **मु प** 'दीन्यनेकानि', **म** 'दीन्येतानि' । 2 **मु** 'प्रयोगस्तात्पर्यं' । 3 **मु** 'साध्यसंशयादिनिवृत्तिः' ।

अत उक्तं प्रत्यक्षेति । प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थ इत्येतावत्युच्यमाने1 सिद्धेष्वतिव्याप्तिः । अत उक्तं परमेत्यादि2 । परमहितं3 निःश्रेयसम्, तदुपदेश **एवार्हतः**4प्रामुख्येन प्रवृत्तिः । 'अन्यत्र तु प्रश्नानुरोधादुपसर्जनत्वेनेति' भावः । नैवंविधः **सिद्धपरमेष्ठी**, तस्यानुपदेशकत्वात् । ततोऽनेन विशेषणेन तत्र नातिव्याप्तिः । आत्मसद्भावे प्रमाणमुपन्यस्तम्[४] । **नैयायिका**द्यभिमतानामाप्ताभासानामसर्वज्ञत्वात्प्रत्यक्षप्रमितेत्यादिविशेषणेनैव निरासः[५] ।

§ ७५. ननु **नैयायिका**भिमत आप्तः कथं न सर्वज्ञः इति चेत्; उच्यते; तस्य 'ज्ञानस्यास्वप्रकाशकत्वादेकत्वाच्च विशेषणभूतं स्वकीयं ज्ञानमेव न जानातीति तद्विशिष्टमात्मानं 'सर्वज्ञोऽहम्' इति कथं जानीयात् ? एवमनात्मज्ञोऽयमसर्वज्ञ एव । प्रपञ्चितं च

१ अशरीरिणो मुक्तात्मानः सिद्धाः सिद्धपरमेष्ठिन इत्युच्यन्ते । उक्तं च—

'णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।

लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पाद-वयेहिं संजुत्ता ॥'—द्रव्यसं० १४ ।

२ निःश्रेयसातिरिक्ते विषये । ३ अमुख्येन, गौणरूपेणेत्यर्थः । ४ द्वितीयप्रकाशे । ५ व्यावृत्तिः, ततो न तत्राप्यतिव्याप्तिरिति भावः । ६ नैयायिका हि ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं मन्यन्ते । ततो तैराप्तत्वेनाभिमतो महेश्वरः स्वज्ञानस्याप्रवेदनात्तद्विशिष्टस्यात्मनोऽप्यज्ञानान्न सर्वज्ञ इति भावः ।

1 द 'इत्युच्यमाने' मु 'इत्येतावदुच्यमाने' । 2 द 'परमेति' । 3 मु परमं हितं' 4 म 'सम्भवति' इत्यधिकः पाठः ।

सुगतादीनामाप्ताभासत्वमाप्तमीमांसाविवरणे[1] श्रीमदाचार्यपादै[2]रिति विरम्यते। वाक्यं तु 'तन्त्रान्तरसिद्धमिति नेह' लक्ष्यते।

---

१ अष्टशत्याम्। २ श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवैः। आप्तमीमांसालङ्कारे (अष्टसहस्र्यां) च श्रीविद्यानन्दस्वामिभिरित्यपि बोध्यम्। ३ तदित्थम्—'पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्।'—अष्टश० अष्टस० पृ० २८५। 'वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम्। पदानां तु परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्।'—न्यायकुमु० पृ० ७३७। प्रमेयक० पृ० ४५८। 'यस्य प्रतिपत्तुर्यावत्सु परस्परापेक्षेषु पदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिरिति प्रतिपत्तव्यम्।'—प्रमेयक० पृ० ४५८। 'वाक्यं विशिष्टपदसमुदायः। यदाह—

पदानां संहतिर्वाक्यं सापेक्षाणां परस्परम्।
साख्यताः कल्पनास्तत्र पश्चात्सन्तु यथायथम्॥'

—न्यायाव० टी० टि० पृ० ८।

'वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां संहतिः पदम्, पदानां तु वाक्यमिति।'—प्रमाणनयत० ४-१०।

परैस्तु वाक्यलक्षणमित्थमभिमतम्—'आख्यातं साव्ययं सकारकं स-कारक-विशेषणं वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्, अपर आह—आख्यातं सविशेषणमित्येव। सर्वाणि ह्येतानि विशेषणानि। एकतिङ्, एकतिङ् वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्।' पात० महाभा० २-१-१। 'तिङ्-सुबन्त-चयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता।'—अमरको०। 'पूर्वपदस्मृत्यपेक्षोऽन्त्यपदप्रत्ययः स्मृत्यनुग्रहेण प्रतिसन्धीयमानो विशेषप्रतिपत्तिहेतुर्वाक्यम्।'—न्यायवा० पृ० १६। 'यावद्भिः पदैरर्थपरिसमाप्तिः तदेकं वाक्यम्।'—वादन्याय० पृ० १०८। 'पदसमूहो वाक्यम्।—न्यायम० पृ० ६३७। न्यायवा० ता० पृ० ४३४। 'वाक्यं पदसमूहः, यथा—गामा-

[अर्थस्य लक्षणम्]

§ ७६. ¹अथ कोऽयमर्थो नाम ? उच्यते; अर्थोऽनेकान्तः। अर्थ इति लक्ष्यनिर्देशः, अभिधेय इति यावत्। अनेकान्त इति

नय शुक्लां दण्डेनेति।'—**तर्कसं०** पृ० १२२। 'अथात्र प्रसङ्गान्मीमांसक-वाक्यलक्षणमर्थद्वारेण प्रदर्शयितुमाह—

साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम्।
कर्मप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते॥—**वाक्यप०** २-४।

मिथः साकाङ्क्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यं चतुर्विधम्।
सुप्तिङन्तचयो नैवमतिव्याप्त्यादिदोषतः॥

यादृशशब्दानां यादृशार्थविषयताकान्वयबोधं प्रत्यनुकूला परस्परा-काङ्क्षा तादृशशब्दस्तोम एव तथाविधार्थे वाक्यम्।'—**शब्दश०** श्लो. १३।

'वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।'—साहि०द० २-१। 'पदानामभिधित्सार्थग्रन्थनाकारः सन्दर्भो वाक्यम्।'—**काव्यमी०** पृ० २२। अन्यदपि वाक्यलक्षणं कैश्चिदुक्तम्—

आख्यातशब्दः(१) सङ्घातो(२) जातिः सङ्घातवर्तिनी(३)।
एकोऽनवयवः शब्दः(४) क्रमो(५) बुद्ध्यनुसंहृती(६,७)॥
पदमाद्यं(८) पदं चान्त्यं(९) पदं सापेक्षमित्यपि(१०)।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम्॥'

—**वाक्यप०** २-१, २।

तत्र पूर्वोक्तमेव 'पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्' इति वाक्यलक्षणं समीचीनम्। अन्येषां तु सदोषत्वादिति प्रतिपत्तव्यम्।

४ न्यायदीपिकायाम्।

१ अर्थस्य स्वरूपं प्रतिपादयितुमाह **अर्थेति**।

लक्षणकथनम् । 'अनेके अन्ता धर्माः सामान्य-विशेष-पर्याय-गुणा[1] यस्येति सिद्धोऽनेकान्तः । तत्र सामान्यमनुवृत्ति2स्वरूपम्[2] । तद्धि घटत्वं पृथुबुध्नोदराकारः3, गोत्वमिति सास्नादिमत्त्वमेव । तस्मान्न व्यक्तितोऽत्यन्तमन्यन्नित्यमेकमनेकवृत्ति[3] । अन्यथा—

१ अनेकान्तस्य व्युत्पत्तिमुखेन लक्षणं निबध्नाति **अनेके** इति । २ अनुगताकारप्रतीतिविषयमित्यर्थः । अत्रायं विशेषः–'सामान्यं द्विविधम्–ऊर्ध्वतासामान्यं तिर्यक्सामान्यं चेति । तत्रोर्ध्वतासामान्यं क्रमभाविषु पर्यायेष्वेकत्वान्वयप्रत्ययग्राह्यं द्रव्यम् । तिर्यक्सामान्यं नानाद्रव्येषु पर्यायेषु च सादृश्यप्रत्ययग्राह्यं सदृशपरिणामरूपम् ।'—युक्त्यनुशा० टी० पृ० ६० । 'सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् । ४·३ । सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् । ४-४ । परापरविवर्त्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु' ।४·५।—**परीक्षामुख** । ३ 'सामान्यं द्विविधं परमपरं च । तत्र परं सत्ता, अपरं सत्ताव्याप्यं द्रव्यत्वादि ।···तत्र नित्यमनेकव्यक्तिवृत्ति सामान्यम्, नित्यत्वे सति स्वाश्रयान्योन्याभावसामानाधिकरण्यं वा । परमपि सामान्यमपरमपि तथाऽपरं तु सामान्यं विशेषसंज्ञामपि लभते ।'—**वैशेषिकसूत्रोप०** पृ० ३४ । तन्न युक्तम्—'नित्यैकरूपस्य गोत्वादेः क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्तिषु वृत्त्ययोगाच्चानेकं सदृशपरिणामात्मकमेवेति तिर्यक्सामान्यमुक्तम् ।'–**प्रमेयर०** ४-४, पृ० १७६ । 'तच्चाऽनित्यासर्वगतस्वभावमभ्युपगन्तव्यम्, नित्यसर्वगतस्वभावत्वेऽर्थक्रियाकारित्वायोगात् ।···तत् (सामान्यं) सर्वसर्वगतं स्वव्यक्तिसर्वगतं वा ? न तावत्सर्वसर्वगतम्; व्यक्त्यन्तरालेऽनुपलभ्यमानत्वाद्व्यक्तिस्वात्मवत् ।···नापि स्वव्यक्तिसर्वगतम्; प्रतिव्यक्ति परिसमाप्तत्वेनास्याऽने-

1 **मु** 'पर्याया गुणा' । 2 **म प मु** 'अनुवृत्त' । 3 **आ प** 'पृथुबुध्नोदराद्याकारः' ।

कत्वानुषङ्गाद्वयक्तिस्वरूपवत् । कात्स्न्यैकदेशाभ्यां वृत्त्यनुपपत्तेश्चासत्त्वम् । किञ्च, एकत्र व्यक्तौ सर्वात्मना वर्त्तमानस्यान्यत्र वृत्तिर्न स्यात् । तत्र हि वृत्तिस्तद्देशे गमनात्, पिण्डेन सहोत्पादात्, तद्देशे सद्भावात्, अंशवत्तया वा स्यात् ? न तावद् गमनादन्यत्र पिण्डे तस्य वृत्तिः; निष्क्रियत्वोपगमात् । किञ्च, पूर्वपिण्डपरित्यागेन तत्तत्र गच्छेत्, अपरित्यागेन वा ? न तावत्परित्यागेन, प्राक्तनपिण्डस्य गोत्वपरित्यक्तस्यागोरूपताप्रसङ्गात् । नाप्यपरित्यागेन, अपरित्यक्तप्राक्तनपिण्डस्यास्यानंशस्य रूपादेरिव गमनासम्भवात् । न ह्यपरित्यक्तपूर्वाधाराणां रूपादीनामाधारान्तरसंक्रान्तिर्दृष्टा । नापि पिण्डेन सहोत्पादात्, तस्यानित्यत्वानुषङ्गात् । नापि तद्देशे सत्त्वात्, पिण्डोत्पत्तेः प्राक् तत्र निराधारस्यास्यावस्थानाभावात् । भावे वा स्वाश्रयमात्रवृत्तित्वविरोधः । नाप्यंशवत्तया, निरंशत्वप्रतिज्ञानात् । ततो व्यक्त्यन्तरे सामान्यस्याभावानुषङ्गः । परेषां प्रयोगः 'ये यत्र नोत्पन्ना नापि प्रागवस्थायिनो नापि पश्चादन्यतो देशादागतिमन्तस्ते तत्राऽसन्तः, यथा खरोत्तमाङ्गे तद्विषाणम्, तथा च सामान्यं तच्छून्यदेशोत्पादवति घटादिके वस्तुनि' इति । उक्तं च—

'न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत् ।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥'—प्रमेयक० पृ० ४७३ ।

किञ्च, इदं सामान्यं व्यक्तिभ्यो भिन्नं चेत्; तत् व्यक्त्युत्पत्तौ उत्पद्यते न वा ? यद्युत्पद्यते, तद्वदेवानित्यत्वम् । नोत्पद्यते चेत्; तत् उत्पत्तिप्रदेशे विद्यते न वा ? यदि विद्यते, व्यक्त्युत्पत्तेः पूर्वमपि गृह्येत । अथ तद्देशे तत् नास्ति, उत्पन्ने तु व्यक्तिविशेषे व्यक्त्यन्तराद् आगच्छति । ननु ततः तत् आगच्छत् पूर्वव्यक्तिं परित्यज्य आगच्छति न वा ? प्रथमपक्षे तस्याः तद्रहितत्वप्रसङ्गः । अथापरित्यज्य, तत्रापि किं व्यक्त्या सहैवागच्छति किं वा केनचिदंशेन तत्रैव तिष्ठति केनचिदागच्छति ? प्रथमविकल्पे शाबलेयेऽपि 'बाहुलेयोऽयम्' इति प्रतीतिः स्यात् । द्वितीयविकल्पस्त्वयुक्तः,

न [1]याति न च [2]तत्रास्ते न [3]पश्चादस्ति [4]नांशवत्[1]।
[5]जहाति पूर्वं नाधारमहो[6] व्यसनसन्ततिः[7] ॥ [ ]

इति **दिग्नागदर्शित**[2]दूषणगणप्रसरप्रसङ्गात्[8]। पृथुबुध्नोदराकारादिदर्शनानन्तरमेव 'घटोऽयं घटोऽयं गौरयं गौरयम्'

निरंशत्वेनास्यांशवत्तया प्रवृत्त्यसम्भवात्। सांशत्वे चास्य व्यक्तिवदनित्यत्वप्रसङ्गः।'–**न्यायकुमु**० पृ० २८७, २८८। 'क्वचिदेकत्र नित्यात्मन्याश्रये सर्वात्मना वृत्तं सामान्यं समवायश्च तावत् **उत्पित्सुप्रदेशे प्राग्नासीदना**श्रितत्वप्रसङ्गात्, **नान्यतो याति** सर्वात्मना पूर्वाधारापरित्यागादन्यथा तदभावप्रसङ्गात्, नाप्येकदेशेन, सांशत्वाभावात्, **स्वयमेव पश्चाद्भवति** स्वप्रत्ययकारित्वात्, **आश्रयविनाशे च न नश्यति** नित्यत्वात्, **प्रत्येकं परिसमाप्तं चेति व्याहतमेतत्**।'—अष्टस. पृ. २१९। एतदुक्तानेव दोषान् दिग्नागोक्तकारिकया मूले **दीपिकाकारो** दर्शयति **न यातीति**।

१ गोत्वादिसामान्यं हि व्यक्त्यन्तरं न गच्छति निष्क्रियत्वोपगमात्। २ व्यक्तिदेशे, यत्र गोपिण्ड उत्पद्यते तत्र न गोपिण्डोत्पादात्पूर्वं विद्यते, देशस्यापि तस्य गोत्वापत्तेः। ३ न वा गोपिण्डोत्पादानन्तरं तेन सहोत्पद्यते, तस्य नित्यत्वाभ्युपगमात्। अन्यथाऽनित्यत्वानुषङ्गात्। ४ न चांशसहितं निरंशत्वप्रतिज्ञानात्, अन्यथा सांशत्वप्रसङ्गात्। ५ न च प्राक्तनमाधारं गोपिण्डं त्यजति, तस्यागोत्वापत्तेः। ६ तदेवं गोत्वादिसामान्यस्य नित्यैकसर्वगतत्वाभ्युपगमे एतैर्दूषणैर्न परिमुच्यते सोऽयं यौगः। अहो आश्चर्यं कष्टं वा एतेषामपरिहार्या व्यसनसन्ततिः दूषणपरम्परा, वृथा स्थितिरितियावत्। ७ कारिकेयं **धर्मकीर्त्तिविरचिते प्रमाणवार्त्तिकेऽपि** (१-१५३) मूलरूपेणोपलभ्यते। परमत्र ग्रन्थकृता नामोल्लेखपुरस्सरं **दिग्नागस्योक्ता**। ततः सम्भवति दिग्नागस्यैव कस्यचिद् ग्रन्थस्येयं कारिका स्यादिति। ८ दिग्नागे-

1 प मु 'नाशवत्'। 2 मु 'दूषित'।

इत्याद्यनुवृत्तप्रत्ययसम्भवात्[१]। [२]विशेषोऽपि 'स्थूलोऽयं घटः, सूक्ष्मः' इत्यादिव्यावृत्तप्रत्ययालम्बनं[1] घटादिस्वरूपमेव। [३]तथा चाह भगवान् **माणिक्यनन्दिभट्टारकः**—"सामान्य-विशेषात्मा तदर्थः" [परीक्षा० ४-१] इति।

§ ७७. [४]पर्यायो द्विविधः—अर्थपर्यायो व्यञ्जनपर्यायश्चेति। तत्रार्थपर्यायो भूतत्वभविष्यत्वसंस्पर्शरहितशुद्धवर्त्तमानकालाव2-च्छिन्नं वस्तुस्वरूपम्। तदेतदृजुसूत्रनयविषयमामनन्त्यभियुक्ताः। एतदेकदेशावलम्बिनः खलु सौगताः क्षणिकवादिनः। व्यञ्जनं व्यक्तिः प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनं जलानयनाद्यर्थक्रियाकारित्वम्3, तेनोपलक्षितः पर्यायो व्यञ्जनपर्यायः, मृदादेः [यथा] पिण्ड-स्थास-कोश-कुशूल-घट-कपालादयः4 पर्यायाः।

नोक्तकारिकया दर्शितानि दूषणानि, तेषां गणः समूहस्तस्य प्रसरो विस्तरस्तस्य प्रसङ्गस्तस्मादित्यर्थः।

१ अनुगतप्रतीतिभावात्। ततो घटत्वादिसामान्यं घटादिव्यक्तेः कथ-ञ्चिदभिन्नमेवेत्यवसेयम्। २ तदुक्तं **परीक्षामुखे**—'विशेषश्च।४-६। पर्याय-व्यतिरेकभेदात्।४-७। एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्।४-८। अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गो-महिषादिवत्'।४-९। ३ स्वोक्तमेव प्रमाणयति **तथा चाहेति**। ४ संक्षे-पतः सामान्यं विशेषं च निरूप्य पर्यायं निरूपयितुमाह **पर्यायेति**।

---

1 **मु** 'वलम्बनं'। 2 **प मु** 'कालत्वाव'। 3 **आ** 'निबन्धनजलानय-नाद्यर्थक्रियाकारित्वे', **म प मु** 'निबन्धनजलानयनाद्यर्थक्रियाकारित्वं'। 4 **द** 'कपालमालादयः'।

§ ७८. [1]यावद्द्रव्यभाविनः सकलपर्यायानुवर्त्तिनो गुणाः [2]वस्तुत्व-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादयः। मृद्द्रव्यसम्बन्धिनो हि वस्तुत्वादयः पिण्डादिपर्यायाननुवर्त्तन्ते, न तु पिण्डादयः स्थासादीन्। तता। एव पर्यायाणां गुणेभ्यो भेदः[3]। [4]यद्यपि सामान्यविशेषौ पर्यायौ तथापि सङ्केतग्रहणनिबन्धनत्वाच्छब्दव्यवहारविषयत्वाच्च।गम2

१ गुणं लक्षयति **यावदिति**। २ वस्तुत्वप्रमेयत्वादयः सामान्यगुणाः। रूपरसादयो विशेषगुणाः। तेषां लक्षणं तु—

सर्वेष्वविशेषेण हि ये द्रव्येषु च गुणाः प्रवर्त्तन्ते।
ते सामान्यगुणा इह यथा सदादि प्रमाणतः सिद्धम्॥
तस्मिन्नेव विवक्षितवस्तुनि मग्ना इहेदमिति चिज्जाः।
ज्ञानादयो यथा ते द्रव्यप्रतिनियमिता विशेषगुणाः॥

—अध्यात्मक० २–७, ८।

३ गुणपर्याययोः को भेदः? इत्यत्रोच्यते, सहभाविनो गुणाः, क्रमभाविनः पर्याया इति। गुणा हि द्रव्येण सह त्रिकालावच्छेदेन वर्त्तन्ते, न तु पर्यायाः, तेषां क्रमवर्त्तित्वादिति भावः। तथा चोक्तम्—

अन्वयिनः किल नित्या गुणाश्च निर्गुणावयवा ह्यनन्तांशाः।
द्रव्याश्रया विनाशप्रादुर्भावाः स्वशक्तिभिः शश्वत्॥
व्यतिरेकिणो ह्यनित्यास्तत्काले द्रव्यतन्मयाश्चापि।
ते पर्याया द्विविधा द्रव्यावस्थाविशेषधर्मांशाः॥

—अध्यात्मक० २–६, ६।

४ ननु सामान्यविशेषावपि पर्यायावेव, तत्कथमत्र तयोः पर्यायेभ्यः पृथग् निर्देश इत्यत आह **यद्यपीति**। सामान्यविशेषौ यद्यपि पर्यायावेव तथाप्याऽऽगमप्रकरणानुरोधात्तयोः पृथग्निर्देशकर्त्तव्यस्यावश्यकत्वादिति।

1 द 'अत'। 2 मु 'निबन्धनस्य शब्दव्यवहारविषयत्वादागम'।

§ ८०. तथैवाजीवस्य[1] मृद्द्रव्यस्यापि मृदः पिण्डाकारस्य व्ययः, पृथुबुध्नोदराकारस्योत्पादः, मृद्रूपस्य ध्रुवत्वमिति सिद्धमुत्पादादियुक्तत्वमजीवद्रव्यस्य[2] । **स्वामिसमन्तभद्राचार्या**भिमतानु[3]सारी **वामनो**ऽपि सदुपदेशात्प्राक्तनमज्ञानस्वभावं हन्तुमुपरितनमर्थज्ञानस्वभावं स्वीकर्त्तुं च यः समर्थ आत्मा स एव शास्त्राधिकारीत्याह "न शास्त्रमसद्द्रव्येष्वर्थवत्" [ ] इति । तदेवमनेकान्तात्मकं वस्तु प्रमाणवाक्यविषयत्वादर्थत्वेनावतिष्ठते । तथा च प्रयोगः—[1]सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात् । यदुक्तसाध्यं न, तन्नोक्तसाधनम्, यथा गगनारविन्दमिति ।

§ ८१. ननु यद्यप्यरविन्दं गगने नास्त्येव तथापि सरस्यस्तीति ततो न सत्त्वरूपहेतु[4]व्यावृत्तिरिति[5] चेत्; तर्हि तदेतदरविन्दमधिकरणविशेषापेक्षया सदसदात्मकमनेकान्तमित्यन्वयदृष्टान्तत्वं[2] भवतैव प्रतिपादितमिति सन्तोष्टव्यमायुष्मता । [3]उदाहृतवाक्ये-

---

भद्राचार्यः —

प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती ।
तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ॥

—**आप्तमी०** का० ३६ ।

१ यदुक्तम्—

'तद्द्रव्यपर्यायात्माऽर्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः ।'

—**लघीय०** का० ७ ।

२ अरविन्दस्येति शेषः । ३ प्रत्यक्षेणानुमानेन च वस्तुनोऽनेकान्ता-

---

1 मु 'तथैवाजीवद्रव्यस्यापि' २ म मु 'मजीवस्य' । 3 मु 'भिमतमतानु' । 4 आ म मु 'सत्वहेतु' । 5 द मु 'इति' नास्ति ।

नापि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षकारणत्वमेव, न संसार-कारणत्वमिति विषयविभागेन कारणाकारणात्मकत्वं प्रतिपाद्यते। 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायात्। एवं प्रमाणसिद्धमनेकान्तात्मकं वस्तु।

[नयं स्वरूपतः प्रकारतश्च निरूप्य सप्तभङ्गीप्रतिपादनम्]

§ ८२. नया विभज्यन्ते1। ननु कोऽयं नयो नाम2? उच्यते; प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही [1]प्रमातुरभिप्रायविशेषः3। "नयो ज्ञातुरभिप्रायः[2]" [लघीय० का० ५२] इत्यभिधानात्। स नयः संक्षेपेण द्वेधा[3]—द्रव्यार्थिकनयः पर्यायार्थिकनयश्चेति। तत्र द्रव्यार्थिकनयः

त्मकत्वं प्रसाध्यागमेनापि तत्प्रसाधनार्थमाह **उदाहृतेति**। अयं भावः—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यागमो यथा सम्यग्दर्शनादित्रयाणां समुदितानां मोक्षकारणत्वं प्रतिपादयति तथा संसारकारणत्वाभावमपि। तथा चागमादपि सम्यग्दर्शनादीनां कारणाकारणात्मकत्वमनेकान्तस्वरूपं प्रतिपादितं बोद्धव्यम्।

१ श्रुतज्ञानिनः। अभिप्रायो विवक्षा। २ सम्पूर्णश्लोकस्त्वित्थम्—

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः॥

३ 'नयो द्विविधः—द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। पर्यायार्थिकनयेन पर्यायतत्त्वमधिगन्तव्यम्। इतरेषां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्यार्थिकेन, सामान्यात्मकत्वात्।'—सर्वार्थसि० १-६। यथोक्तं श्री**विद्यानन्दस्वामिभिः**—

संक्षेपाद् द्वौ विशेषेण द्रव्यपर्यायगोचरौ।'—त० श्लो० पृ० २६८।

---

1 **ब** 'अथ नयं विभजति' पाठः। 2 **द** 'नाम नयः'। 3 **म मु** 'नयः' इत्यधिकः पाठः।

प्रस्तावे तयोः पृथग्निर्देशः । 1तदनयोर्गुणपर्याययोः द्रव्यमाश्रयः, "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" [तत्त्वार्थसू० ५-३८] इत्याचार्यानुशासनात्[१] । तदपि सत्त्वमेव "सत्त्वं द्रव्यम्"[२] [ ] इत्यकलङ्कीयवचनात्2।

[सत्त्वं द्विधा विभज्य द्वयोरप्यनेकान्तात्मकत्वप्ररूपणम्]

§ ७६. [३]तदपि जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं चेति संक्षेपतो द्विविधम् । [४]द्वयमप्येतदुत्पत्तिविनाशस्थितियोगि "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" [तत्त्वार्थसू० ५-३०] इति निरूपणात्[५]। तथा हि—जीव-

१ उपदेशात् । २ भगवता श्रीउमास्वातिनाऽप्युक्तम्—'सद्द्रव्यलक्षणम्'—तत्त्वार्थसू० ५-२६ । ३ सत्त्वमपि । ४ जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं चापि । ५ समन्तभद्रस्वामिभिरपि तथैव प्रतिपादनात् । तथा हि—

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥

—आप्तमी० का० ५६, ६० ।

इदमत्राकूतम्—सर्वं हि वस्तुजातं प्रतिसमयमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं समनुभूयते । घटार्थिनो हि जनस्य घटविनाशे शोकः, मुकुटार्थिनो मुकुटोत्पादे हर्षः, सुवर्णार्थिनश्च सुवर्णसत्त्वे माध्यस्थ्यं जायमानं दृश्यते । न चैतद् निर्हेतुकं सम्भवति । तेन विज्ञायते सुवर्णादिवस्तु उत्पादादित्रयात्मकम्, तदन्तरेण शोकाद्यनुपपत्तेरिति । एवं 'यस्य पयो दुग्धमेवाहं भुञ्जे इति व्रतं

1 द 'तद्वदनयो' । 2 आ प 'इत्याकरज्ञवचनात्', मु 'इत्याकरजवचनात्' पाठः । मूले द प्रतेः पाठो निक्षिप्तः । स च युक्तः प्रतिभाति ।—सम्पा० ।

द्रव्यस्य स्वर्गप्रापकपुण्योदये सति मनुष्यस्वभावस्य व्ययः, दिव्य1-स्वभावस्योत्पादः, चैतन्यस्वभावस्य ध्रौव्यमिति। जीवद्रव्यस्य 'सर्वथैकरूपत्वे2 पुण्योदयवैफल्यप्रसङ्गात्। सर्वथा भेदे पुण्यवानन्यः फलवानन्य इति पुण्यसम्पादनवैयर्थ्यप्रसङ्गात्'। 3परोपकारेऽप्यात्मसुकृतार्थमेव प्रवर्त्तनात्4 तस्माज्जीवद्रव्यरूपेणाभेदो मनुष्य5देवपर्यायरूपेण भेद इति 6प्रतिनियतनयनिरस्तविरोधौ भेदाभेदौ प्रामाणिकावेव'।

नियमः, नासौ दध्यत्ति—दधि भुंक्ते। यस्य च दध्यहं भुञ्जे इति व्रतम् नासौ पयोऽत्ति—दुग्धं भुंक्ते। यस्य चागोरसमहं भुञ्जे इति व्रतम्, नासावुभयमत्ति। कुतः? गोरसरूपेण तयोरेकत्वात्। दुग्धव्रतस्य दधिरूपेणाभावात्, दधिव्रतस्य पयोरूपेणाभावात्, अगोरसव्रतस्य दधिदुग्धरूपेणाभावात्। तस्मात्तत्त्वं वस्तु त्रयात्मकं स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकं सुघटमेतदनेकान्ते जैनमते इति।'—आप्तमी० वृ० का० ६०। श्रीपण्डितप्रवरराजमल्लेनाप्युक्तम्—

> कैश्चित्पर्य्ययविगमैर्व्येति द्रव्यं ह्युदेति समकाले।
> अन्यैः पर्ययभवनैर्धर्मद्वारेण शाश्वतं द्रव्यम्॥

—अध्यात्मक० २–१६।

१ पर्यायेभ्यः सर्वथाऽभेदे। २ मनुष्यादिपर्यायेभ्यो जीवद्रव्यस्य कथञ्चिदप्यन्वयाभावे कृतस्य फलाभावादकृतस्य च फलप्राप्तेः पुण्यसम्पादनं व्यर्थमेव स्यात्। कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च स्यादिति भावः। ३ नहीमावनुभूयमानौ भेदाभेदौ मिथ्याभूतौ विरुद्धौ वा। तथा चोक्तं श्रीमत्समन्त-

---

1 म मु 'देव'। 2 म प 'कान्तरूपे', मु 'कान्तरूपत्वे'। 3 म 'कारोऽप्या', मु 'कारस्याप्या'। 4 प 'प्रर्त्तमानात्', मु 'प्रवर्त्तमानत्वात्'। 5 मु 'मनुष्यपर्यायदेवपर्याय'। 6 द 'प्रतिनियम'।

§ ८०. तथैवाजीवस्य1 मृद्द्रव्यस्यापि मृदः पिण्डाकारस्य व्ययः, पृथुबुध्नोदराकारस्योत्पादः, मृद्रूपस्य ध्रुवत्वमिति सिद्ध-मुत्पादादियुक्तत्वमजीवद्रव्यस्य2 । **स्वामिसमन्तभद्राचार्या**भि-मतानु3सारी **वामनो**ऽपि सदुपदेशात्प्राक्तनमज्ञानस्वभावं हन्तुमु-परितनमर्थज्ञानस्वभावं स्वीकर्त्तुं च यः समर्थ आत्मा स एव शास्त्राधिकारीत्याह "न शास्त्रमसद्द्रव्येष्वर्थवत्" [ ] इति । तदेवमनेकान्तात्मकं वस्तु प्रमाणवाक्यविषयत्वादर्थत्वेनाव-तिष्ठते । तथा च प्रयोगः—'सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात् । यदुक्त-साध्यं न, तन्नोक्तसाधनम्, यथा गगनारविन्दमिति ।

§ ८१. ननु यद्यप्यरविन्दं गगने नास्त्येव तथापि सरस्यस्तीति ततो न सत्त्वरूपहेतु4व्यावृत्तिरिति5 चेत्; तर्हि तदेतदरविन्दम-धिकरणविशेषापेक्षया सदसदात्मकमनेकान्तमित्यन्वयदृष्टान्तत्वं[२] भवतैव प्रतिपादितमिति सन्तोष्टव्यमायुष्मता । [३]उदाहृतवाक्ये-

---

भद्राचार्यैः —

> **प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती ।**
> **तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ॥**
>
> —**आप्तमी**० का० ३६ ।

१ यदुक्तम्—

> **'तद्द्रव्यपर्यायात्माऽर्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः ।'**
>
> —**लघीय**० का० ७ ।

२ अरविन्दस्येति शेषः । ३ प्रत्यक्षेणानुमानेन च वस्तुनोऽनेकान्ता-

---

1 मु 'तथैवाजीवद्रव्यस्यापि' २ **म मु** 'मजीवस्य' । 3 **मु** 'भिमतमतानु' । 4 **आ म मु** 'सत्वहेतु' । 5 **द मु** 'इति' नास्ति ।

नापि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षकारणत्वमेव, न संसार-कारणत्वमिति विषयविभागेन कारणाकारणात्मकत्वं प्रतिपाद्यते। 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायात्। एवं प्रमाणसिद्धमनेकान्तात्मकं वस्तु।

[नयं स्वरूपतः प्रकारतश्च निरूप्य सप्तभङ्गीप्रतिपादनम्]

§ ८२. नया विभज्यन्ते1। ननु कोऽयं नयो नाम2? उच्यते; प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही [1]प्रमातुरभिप्रायविशेषः3। "नयो ज्ञातुरभिप्रायः[2]" [लघीय०का० ५२] इत्यभिधानात्। स नयः संक्षेपेण द्वेधा[3]—द्रव्यार्थिकनयः पर्यायार्थिकनयश्चेति। तत्र द्रव्यार्थिकनयः

त्मकत्वं प्रसाध्यागमेनापि तत्प्रसाधनार्थमाह **उदाहृतेति**। अयं भावः—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यागमो यथा सम्यग्दर्शनादित्रयाणां समुदितानां मोक्षकारणत्वं प्रतिपादयति तथा संसारकारणत्वाभावमपि। तथा चागमादपि सम्यग्दर्शनादीनां कारणाकारणात्मकत्वमनेकान्तस्वरूपं प्रतिपादितं बोद्धव्यम्।

१ श्रुतज्ञानिनः। अभिप्रायो विवक्षा। २ सम्पूर्णश्लोकस्त्वित्थम्—

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः॥

३ 'नयो द्विविधः—द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। पर्यायार्थिकनयेन पर्यायतत्त्वमधिगन्तव्यम्। इतरेषां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्यार्थिकेन, सामान्यात्मकत्वात्।'—सर्वार्थसि० १-६। यथोक्तं श्री**विद्यानन्दस्वामिभिः**—

संक्षेपाद् द्वौ विशेषेण द्रव्यपर्यायगोचरौ।'—त० श्लो० पृ० २६८।

---

1 द 'अथ नयं विभजति' पाठः। 2 द 'नाम नयः'। 3 म मु 'नयः' इत्यधिकः पाठः।

द्रव्यपर्यायरूपमेकानेकात्मकमनेकान्तं प्रमाणप्रतिपन्नमर्थं विभज्य पर्यायार्थिकनयविषयस्य भेदस्योपसर्जनभावेनावस्थानमात्रमभ्यनुजानन्1 स्वविषयं द्रव्यमभेदमेव व्यवहारयति, "नयान्तरविषयसापेक्षः सन्नयः" [ ]इत्यभिधानात्'। यथा सुवर्णमानयेति। अत्र द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण सुवर्णद्रव्यानयनचोदनायां कटकं कुण्डलं केयूरं चोपनयन्नुपनेता कृती भवति, सुवर्णरूपेण कटकादीनां भेदाभावात्। द्रव्यार्थिकनयमुपसर्जनीकृत्य प्रवर्त्तमानपर्यायार्थिकनयमवलम्ब्य कुण्डलमानयेत्युक्ते न कटकादौ प्रवर्त्तते, कटकादिपर्यायात् कुण्डलपर्यायस्य भिन्नत्वात्2। ततो द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण सुवर्णं स्यादेकमेव। पर्यायार्थिकनयाभिप्रायेण स्यादनेकमेव। क्रमेणोभयनयाभिप्रायेण स्यादेकमनेकं च3। युगपदुभय4नयाभिप्रायेण स्यादवक्तव्यम्, युगपत्प्राप्तेन नयद्वयेन विविक्तस्वरूपयोरेकत्वानेकत्वयोर्विमर्शासम्भवात्। न हि युगपदुपनतेन शब्दद्वयेन घटस्य प्रधानभूतयो5रूपवत्त्वरसवत्त्वयोर्विविक्तस्वरूपयोः प्रतिपादनं शक्यम्। तदेतदवक्तव्यस्वरूपं तत्तदभिप्रायैरुप-

---

'स द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। द्रवति द्रोष्यति अद्रुवत् इति द्रव्यम्, तदेवार्थोऽस्ति यस्य सो द्रव्यार्थिकः।' लघीय० का० स्वो० ३०।

१ उक्तं च—

भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः।
ये तेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः॥—लघीय०का० ३०।

---

1 ब 'मभ्यनुजानानः'। 2 मु 'कटकादिपर्यायस्य ततो भिन्नत्वात्। 3 ब 'च' नास्ति। 4 ब 'एवं च युगपदुभय'। 5 आ म मु 'रूपत्वरसत्वयो'।

नतेनैकत्वादिना समुचितं स्यादेकमवक्तव्यम्, स्यादनेकमवक्तव्यम्, स्यादेकानेकमवक्तव्यमिति स्यात्। सैषा नयविनियोगपरिपाटी सप्तभङ्गीत्युच्यते, भङ्गशब्दस्य वस्तुस्वरूपभेदवाचकत्वात् सप्तानां भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गीति[1] सिद्धेः।

§ ८३. नन्वेकत्र वस्तुनि [2]सप्तानां भङ्गानां कथं सम्भवः इति चेत्; यथैकस्मिन् रूपवान् घटः रसवान् गन्धवान् स्पर्शवानिति

---

१ ननु केयं सप्तभङ्गी इति चेत्; उच्यते; 'प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी'—**तत्त्वार्थवार्तिक** १-६। **न्यायविनिश्चयेऽपि श्रीमदकलङ्कदेवै**रुक्तम्—

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविभागतः।
स्याद्विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गी प्रवर्तते ॥४५१॥

श्रीयशोविजयोऽप्याह—'एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्यप्रयोगः सप्तभङ्गी। इयं च सप्तभङ्गी वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तविधधर्माणां सम्भवात् सप्तविधसंशयोत्थापितसप्तविधजिज्ञासामूलसप्तविधप्रश्नानुरोधादुपपद्यते।'—**जैनतर्कभा०** पृ० १६। 'ननु एकत्राऽपि जीवादिवस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मसद्भावात्तत्कल्पनाऽनन्तभङ्गी स्यात् (न तु सप्तभङ्गी); इति चेन्न; अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामिष्टत्वात्, तत्रैकत्वानेकत्वादिकल्पनयाऽपि सप्तानामेव भङ्गानामुपपत्तेः, प्रतिपाद्यप्रश्नानां तावतामेव सम्भवात्, प्रश्नवशादेव सप्तभङ्गीति नियमवचनात्। सप्तविध एव तत्र प्रश्नः कुत इति चेत्, सप्तविधजिज्ञासाघटनात्। सापि सप्तविधा कुत इति चेत्, सप्तधा संशयोत्पत्तेः। सप्तधैव संशयः कथमिति चेत्, तद्विषयवस्तुधर्मसप्तविधत्वात्।'—**अष्टस०** पृ० १२५, १२६। २ के ते वस्तुनिष्ठाः सप्त धर्मा इत्यत्रोच्यते (१) सत्त्वम्,

पृथग्व्यवहारनिबन्धना1 रूपवत्त्वादिस्वरूपभेदाः सम्भवन्ति तथैवेति सन्तोष्टव्यमायुष्मता।

§ ८४. एवमेव परमद्रव्यार्थिकनयाभिप्रायविषयः परमद्रव्यं सत्ता2, तदपेक्षया "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन", सद्रूपेण चेतनानामचेतनानां च भेदाभावात्। भेदे तु सद्विलक्षणत्वेन तेषामसत्त्वप्रसङ्गात्।

§ ८५. ऋजुसूत्रनयस्तु परमपर्यायार्थिकः। स हि भूतत्वभविष्यत्वाभ्यामपरामृष्टं शुद्धं वर्त्तमानकालावच्छिन्नवस्तुस्वरूपं3 परामृशति। तन्नयाभिप्रायेण **बौद्धा**भिमतक्षणिकत्वसिद्धिः। एते नयाभिप्रायाः सकलस्वविषयाशेषात्मकमनेकान्तं प्रमाणविषयं विभज्य व्यवहारयन्ति। स्यादेकमेव वस्तु द्रव्यात्मना न नाना4, स्यान्नानैव पर्यायात्मना नैकमिति। तदेतत्प्रतिपादित**माचार्यसमन्तभद्रस्वामिभिः**—

[१]अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥

[स्वयम्भू० १०३] इति।

---

(२) असत्त्वम्, (३) क्रमार्पितोभयं सत्त्वासत्त्वाख्यम्, (४) सहार्पितोभयमवक्तव्यत्वरूपम्, (५) सत्त्वसहितमवक्तव्यत्वम्, (६) असत्त्वसहितमवक्तव्यत्वम्, (७) सत्त्वासत्त्वविशिष्टमवक्तव्यत्वमिति।

१ ननु सर्वस्य वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वेऽनेकान्तस्याप्यनेकान्तात्मकत्वं

---

1 द 'निबन्धन'। 2 मु 'परमद्रव्यसत्ता'। 3 म मु 'वस्तुरूपं'। 4 म प मु 'स्यादेकमेव द्रव्यात्मना वस्तु नो नाना'।

'अनियतानेकधर्मवद्वस्तुविषयत्वात्प्रमाणस्य, नियतैकधर्मवद्वस्तुविषयत्वाच्च नयस्य । यद्येनामार्हतीं सरणिमुल्लङ्घ्य सर्वथैकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन, कथञ्चिदपि1 नाना नेत्याग्रहः स्यात्तदेतदर्थाभासः । एतत्प्रतिपादकं वचनमपि2 आगमाभासः, प्रत्यक्षेण "सत्यं भिदा तत्त्वं भिदा" [ ] इत्यादिनाऽऽगमेन च बाधितविषयत्वात् । सर्वथा भेद एव, न कथञ्चिदप्यभेद इत्यत्राप्येवमेव[२] विज्ञेयम्[२], सद्रूपेणापि भेदेऽसतः[३]

परिकल्पनीयम्, तथा चानवस्था इत्यत्राह **अनेकान्तोऽप्यनेकान्त** इति । इदमत्राकूतम्—प्रमाणनयसाधनत्वेनानेकान्तोऽप्यनेकान्तात्मकः । प्रमाणविषयापेक्षयाऽनेकान्तात्मकः, विवक्षितनयविषयापेक्षया एकान्तात्मकः । एकान्तो द्विविधः—सम्यगेकान्तः मिथ्यैकान्तश्च । तत्र सापेक्षः सम्यगेकान्तः, स एव नयविषयः । अपरस्तु निरपेक्षः, स न नयविषयः, अपि तु दुर्नयविषयः; मिथ्यारूपत्वात् । तदुक्तम्—'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्' इति । तथा चानेकान्तस्याप्यनेकान्तात्मकत्वमविरुद्धम्, प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुन्यनवस्थादिदोषानवकाशादिति ध्येयम् ।

१ प्रमाणनययोः को भेदः ? इत्यत आह अनियतेति । उक्तं च—

'अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः ।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः ॥'

२ तस्यापि प्रत्यक्षादिना बाधितत्वादर्थाभासत्वं बोध्यमिति भावः । ३ सद्रू-

1 द 'तत्कथंचिदपि' । 2 **आ प** 'एतत्प्रतिपादकमपि वचनं', **म मु** 'एतत्प्रतिपादकमतिवचनं' ।

अर्थक्रियाकारित्वासम्भवात्[१]।

§ ८६. [२]ननु प्रतिनियताभिप्रायगोचरतया पृथगात्मनां परस्परसाहचर्यानपेक्षायां[1] मिथ्याभूतानामेकत्वानेकत्वादीनां[2] धर्माणां साहचर्यलक्षणसमुदायोऽपि मिथ्यैवेति चेत्; तदङ्गीकुर्महे, परस्परोपकार्योपकारकभावं विना स्वतन्त्रतया नैरपेक्ष्यापेक्षायां पटस्वभावविमुख[3]तन्तुसमूहस्य शीतनिवारणाद्यर्थक्रियावदेकत्वानेकत्वादीनामर्थक्रियायां सामर्थ्याभावात् कथञ्चिन्मिथ्यात्वस्यापि सम्भवात्। [३]तदुक्तमाप्तमीमांसायां **स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः**—

[४]मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।

पापेक्षयाऽपि घटादिवस्तूनां सर्वथा भेदेऽसत्त्वप्रसङ्गात्। तथा च खपुष्पवदेव तत्सर्वं स्यात्। तदुक्तम्—

सदात्मना च भिन्नं चेत् ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाऽप्यसत्।
ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम्॥

—**आप्तमी०** का० ३० ।

१ अर्थक्रियाकारित्वं हि सतो लक्षणम्। असत्त्वे च तन्न स्यादिति भावः। २ अनेकान्ततत्त्वे दूषणमुद्भावयन् परः शङ्कते **नन्विति**। ३ स्वोक्तमेव **प्रकरणकारः** श्रीमत्**समन्तभद्रस्वामि**वचनेन प्रमाणयति तदुक्तमिति। ४ अस्याः कारिकाया अयमर्थः—ननु एकत्वानेकत्व-नित्य-

---

1 **मु** 'साहचर्यानपेक्षाणां'। 2 मु 'मेकत्वादीनां'। 3 **प** 'विमुक्ततन्तुसमूहस्य', **म** 'विमुक्तस्य तन्तसमूहस्य'।

[1]निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु ते[2]ऽर्थकृत्[3] ।।१०८।।इति ।

§ ८७. [4]ततो [5]"नयप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' इति सिद्धः सिद्धान्तः[6] । पर्याप्तमागमप्रमाणम्[7] ।

त्वानित्यत्वादीनां सर्वथैकान्तरूपाणां धर्माणां मिथ्यात्वात्तत्समुदायरूपः स्याद्वादिभिरभ्युपगतोऽनेकान्तोऽपि मिथ्यैव स्यात् । न हि विषकणिकाया विषत्वे तत्समूहस्याविषत्वं कैश्चिदभ्युपगम्यते । तन्न युक्तम्; मिथ्यासमूहस्य जैनैरनभ्युपगमात् । मिथ्यात्वं हि निरपेक्षत्वम्, तच्च नास्माभिः स्वीक्रियते, सापेक्षाणामेव धर्माणां समूहस्यानेकान्तत्वाभ्युपगमात् । तत एव चार्थक्रियाकारित्वम्, अर्थक्रियाकारित्वाच्च तेषां वस्तुत्वम् । क्रम-यौगपद्याभ्यां ह्यनेकान्त एवार्थक्रिया व्याप्ता, नित्यक्षणिकाद्येकान्ते तदनुपपत्तेः । तथा च निरपेक्षा नया मिथ्या—अर्थक्रियाकारित्वाभावादसम्यक्, अवस्तु इत्यर्थः । सापेक्षास्तु ते वस्तु—सम्यक्, अर्थक्रियाकारित्वादिति दिक् ।

१ 'निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा प्रमाणनयाविशेषप्रसङ्गात् । धर्मान्तरादानोपेक्षाहानि-लक्षणत्वात् प्रमाणनय-दुर्नयानां प्रकारान्तरासम्भवाच्च' । **अष्टश०का० १०८** । २ ते सापेक्षा नयाः । ३ अर्थक्रियाकारिणो भवन्तीति क्रियाध्याहारः । ४ पूर्वोक्तमेवोपसंहरति **ततो** इति । ५ नयशब्दस्याल्पाच्तरत्वात् 'प्रत्यासत्तेर्बलीयान्' इति न्यायाच्च पूर्वनिपातो बोध्यः । ६ यः खलु 'प्रमाणनयैरधिगमः' इति सिद्धान्तः प्रकरणादावुपन्यस्तः स सिद्ध इति भावः । ७ आगमाख्यं परोक्षप्रमाणं यथेप्सितं समाप्तम् ।

[1]मद्गुरोर्वर्द्धमानेशो वर्द्धमानदयानिधेः ।
श्रीपादस्नेहसम्बन्धात् सिद्धेयं न्यायदीपिका[2] ॥२॥

इति श्रीमद्वर्द्धमानभट्टारकाचार्यगुरुकारुण्यसिद्धसार-
स्वतोदयश्रीमदभिनवधर्मभूषणाचार्यविरचितायां
न्यायदीपिकायां परोक्षप्रकाशस्तृतीयः[3] ॥३॥

समाप्तेयं न्यायदीपिका ।

—:o:—

---

१ ग्रन्थकाराः श्रीमदभिनवधर्मभूषणयतयः प्रारब्धनिर्वहणं प्रकाशयन्नाहुर्मद्गुरोरिति । सुगममिदं पद्यम् । समाप्तमेतत्प्रकरणम् ।

जैनन्याय-प्रवेशाय बालानां हितकारकम् ।
दीपिकायाः प्रकाशाख्यं टिप्पणं रचितं मया ॥१॥
द्विसहस्रैकवर्षाब्दे ख्याते विक्रमसंज्ञके ।
भाद्रस्य सितपञ्चम्यां सिद्धमेतत्सुबोधकम् ॥२॥
मतिमान्द्यात्प्रमादाद्वा यदत्र स्खलनं क्वचित् ।
संशोध्यं तद्धि विद्वद्भिः क्षन्तव्यं गुणदृष्टिभिः ॥३॥

इति श्रीमदभिनवधर्मभूषणयतिविरचिताया न्यायदीपिकाया न्यायतीर्थ-
जैनदर्शनशास्त्रि-न्यायाचार्यपण्डितदरबारीलालेन रचितं
प्रकाशाख्यं टिप्पणं समाप्तम् ।

—:o:—

---

1 **द** 'यद्गुरो' पाठः । 2 पद्यमिदं **म प मु** प्रतिषु नोपलभ्यते । 3 **आ प द** 'परोक्षप्रकाशस्तृतीयः' पाठो नास्ति । तत्र 'आगमप्रकाशः' इति पाठो वर्त्तते ।—सम्पा० ।

न्याय-दीपिकाका हिन्दी अनुवाद

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः
समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खंडितमानशृङ्गो
भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥

—स्वामिसमन्तभद्र ।

श्री-समन्तभद्राय नमः

श्रीमदभिनव-धर्मभूषण-यति-विरचित

न्याय-दीपिका

का

हिन्दी अनुवाद

—:❀:—

पहला प्रकाश

●

मंगलाचरण और ग्रन्थ-प्रतिज्ञा—

ग्रन्थ के आरम्भ में मंगल करना प्राचीन भारतीय आस्तिक परम्परा है। उसके अनेक प्रयोजन और हेतु माने जाते हैं। १ निर्विघ्न-शास्त्र-परि-समाप्ति २ शिष्टाचार-परिपालन ३ नास्तिकता-परिहार ४ कृतज्ञता-प्रकाशन और ५ शिष्य-शिक्षा। इन प्रयोजनों को संग्रह करने वाला निम्नलिखित पद्य है, जिसे पण्डित आशाधरजी ने अपने अनगारधर्मामृत की टीका में उद्धृत किया है :—

नास्तिकत्वपरीहारः शिष्टाचारप्रपालनम् ।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात् ॥

इसमें नास्तिकतापरिहार, शिष्टाचारपरिपालन, पुण्यावाप्ति और निर्विघ्नशास्त्रपरिसमाप्तिको मङ्गलका प्रयोजन बताया है। कृतज्ञता-प्रकाशनको आचार्य विद्यानन्दने[1] और शिष्यशिक्षाको आचार्य अभयदेवने[2] प्रकट किया है। इनका विशेष खुलासा इस प्रकार है :—

१. प्रत्येक ग्रन्थकारके हृदयमें ग्रन्थारम्भके समय सर्व प्रथम यह कामना अवश्य होती है कि मेरा यह प्रारम्भ किया ग्रन्थरूप कार्य निर्विघ्न समाप्त हो जाय। वैदिकदर्शनमें 'समाप्तिकामो-मङ्गलमाचरेत्' इस वाक्य को श्रुति-प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करके समाप्ति और मङ्गल में कार्यकारणभाव की स्थापना भी की गई है। न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन के पीछे के अनुयायिओं ने इसका अनेक हेतुओं और प्रमाणों द्वारा समर्थन किया है। प्राचीन नैयायिकों ने[3] समाप्ति और मङ्गल में अव्यभिचारी कार्यकारणभाव स्थिर करने के लिए विघ्नध्वंसको समाप्ति का द्वार माना है और जहाँ मङ्गल के होने पर भी समाप्ति नहीं देखी जाती वहाँ मङ्गल-में कुछ कमी (साधनवैगुण्यादि) को बतलाकर समाप्ति और मङ्गल के कार्यकारणभाव की सङ्गति बिठलाई है। तथा जहाँ मङ्गल-

---

१ "अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः
प्रभवति स च शास्त्रात् तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धै-
र्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥"

—**तत्त्वार्थश्लो.** पृ. २।

२ देखो, सन्मतितर्कटीका पृ. २।

३ देखो, सिद्धान्तमुक्तावली पृ. २, दिनकरी टीका पृ. ६।

के बिना भी ग्रन्थ-समाप्ति देखी जाती है वहाँ अनिबद्ध वाचिक अथवा मानसिक या जन्मान्तरीय मङ्गल को कारण माना जाता है। नवीन नैयायिकों का[1] मत है कि मङ्गल का सीधा फल तो विघ्न-ध्वंस है और समाप्ति ग्रन्थकर्त्ता की प्रतिभा, बुद्धि और पुरुषार्थ का फल है। इनके मत से विघ्नध्वंस और मङ्गल में कार्यकारण-भाव है।

जैन तार्किक आचार्य विद्यानन्द ने[2] किन्हीं जैनाचार्य के नाम से निर्विघ्नशास्त्रपरिसमाप्ति को और वादिराज[3] आदि ने निर्विघ्नता को मङ्गल का फल प्रकट किया है।

२. मङ्गल करना एक शिष्ट कर्त्तव्य है। इससे सदाचार का पालन होता है। अतः प्रत्येक शिष्ट ग्रन्थकार को शिष्टाचार परिपालन करने के लिए ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गल करना आवश्यक है। इस प्रयोजन को[4] आ० हरिभद्र और विद्यानन्द ने[5] भी माना है।

३. परमात्मा का गुण-स्मरण करने से परमात्मा के प्रति ग्रन्थ-कर्त्ता की भक्ति और श्रद्धा तथा आस्तिक्यबुद्धि स्थापित होती है। और इस तरह नास्तिकता का परिहार होता है। अतः ग्रन्थकर्त्ता-को ग्रन्थ के आदि में नास्तिकता के परिहार के लिए भी मङ्गल करना उचित और आवश्यक है।

४. अपने प्रारब्ध ग्रन्थ की सिद्धि में अधिकांशतः गुरुजन ही निमित्त होते हैं। चाहे उनका सम्बन्ध ग्रन्थ-सिद्धि में साक्षात् हो या परम्परा। उनका स्मरण अवश्य ही सहायक होता है। यदि उनसे या उनके रचे शास्त्रों से सुबोध न हो तो ग्रन्थ-निर्माण नहीं

---

१ मुक्तावली पृ० २, दिनकरी पृ ६। २ तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक पृ० १। ३ न्यायविनिश्चयविवरण लिखितप्रति पत्र २ ४ अनेकान्तजयपताका पृ० २। ५ तत्त्वार्थश्लो० पृ० १, आप्तप० पृ० ३।

हो सकता। इसलिये प्रत्येक कृतज्ञ ग्रन्थकार का कर्त्तव्य होता है कि वह अपने ग्रन्थ के आरम्भ में कृतज्ञता-प्रकाशन के लिए परा-पर गुरुओं का स्मरण करे। अतः कृतज्ञता-प्रकाशन भी मङ्गल का एक प्रमुख प्रयोजन है। इस प्रयोजन को आ० विद्यानन्दादि ने स्वीकार किया है।

५· ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण को निबद्ध करने से शिष्यों, प्रशिष्यों और उपशिष्यों को मङ्गल करने की शिक्षा प्राप्ति होती है। अतः 'शिष्या अपि एवं कुर्युः' अर्थात् शिष्य- समुदाय भी शास्त्रारम्भ में मङ्गल करने की परिपाटी को कायम रक्खे, इस बात को लेकर शिष्य-शिक्षा को भी मङ्गल के अन्यतम प्रयोजन रूप में स्वीकृत किया है। पहले बतला आए हैं कि इस प्रयोजन को भी जैनाचार्यों ने माना है।

इस तरह जैनपरम्परा में मंगल करने के पाँच प्रयोजन स्वीकृत किए गए हैं। इन्हीं प्रयोजनों को लेकर ग्रन्थकार श्री अभिनव धर्म-भूषण भी अपने इस प्रकरण के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करते हैं और ग्रन्थ-निर्माण (न्याय-दीपिका के रचने) की प्रतिज्ञा करते हैं:—

वीर, अतिवीर, सन्मति, महावीर और वर्द्धमान इन पाँच नाम विशिष्ट अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान स्वामी को अथवा 'अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग[१] विभूति से प्रकर्ष को प्राप्त समस्त जिनसमूह' को नमस्कार करके मैं (अभिनव धर्मभूषण) न्यायस्वरूप जिज्ञासु बालकों (मन्द जनों) के बोधार्थ विशद, संक्षिप्त और सुबोध न्याय-दीपिका' (न्याय-स्वरूप की प्रतिपादक पुस्तिका) ग्रन्थ को बनाता हूं।

प्रमाण और नयके विवेचन की भूमिका—

'प्रमाणनयैरधिगमः' [त० सू० १-६] यह महाशास्त्र तत्त्वार्थ-सूत्र के पहले अध्याय का छठवाँ सूत्र है। वह परमपुरुषार्थ—मोक्ष-

के कारणभूत[1] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के विषय जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तत्त्वों का[2] ज्ञान करानेवाले उपायों का प्रमाण और नयरूप से निरूपण करता है; क्योंकि प्रमाण और नय के द्वारा ही जीवादि पदार्थों का विश्लेषण पूर्वक सम्यक्ज्ञान होता है। प्रमाण और नय को छोड़कर जीवादिकों के जानने में अन्य कोई उपाय नहीं हैं[3]। इसलिए जीवादि तत्त्वज्ञान के उपायभूत प्रमाण और नय भी विवेचनीय—व्याख्येय हैं। यद्यपि इनका विवेचन करनेवाले प्राचीन ग्रन्थ विद्यमान हैं[4] तथापि उनमें कितने ही ग्रन्थ विशाल हैं[5] और कितने ही अत्यन्त गम्भीर हैं[6]—छोटे होनेपर भी अत्यन्त गहन और दुरूह हैं। अतः उनमें बालकों का प्रवेश सम्भव नहीं है। इसलिए उन बालकों को सरलता से प्रमाण और नयरूप न्याय के स्वरूप का बोध करानेवाले शास्त्रों में प्रवेश पाने के लिए यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

उद्देशादिरूपसे ग्रन्थ की प्रवृत्ति का कथन—

इस ग्रन्थ में प्रमाण और नय का व्याख्यान उद्देश, लक्षण-निर्देश तथा परीक्षा इन तीन द्वारा किया जाता है। क्योंकि विवेचनीय वस्तु का उद्देश—नामोल्लेख किए बिना लक्षणकथन नहीं

१ 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'—त० सू० १-१। २ 'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्'—त० सू० १-४। ३ लक्षण और निक्षेपका भी यद्यपि शास्त्रों में पदार्थोंके जानने के उपायरूपसे निरूपण है तथापि मुख्यतया प्रमाण और नय ही अधिगम के उपाय हैं। दूसरे लक्षणके ज्ञापक होनेसे प्रमाणमें ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है और निक्षेप नयोंके विषय होनेसे नयोंमें शामिल हो जाते हैं। ४ अकलङ्कादिप्रणीत न्यायविनिश्चय आदि। ५ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड वगैरह। ६ न्यायविनिश्चय आदि।

हो सकता और लक्षणकथन किए बिना परीक्षा नहीं हो सकती तथा परीक्षा हुए बिना विवेचन—निर्णयात्मक वर्णन नहीं हो सकता। लोक[1] और शास्त्र[2] में भी उक्त प्रकार से (उद्देश, लक्षण-निर्देश और परीक्षा द्वारा) ही वस्तु का निर्णय प्रसिद्ध है।

विवेचनीय वस्तु के केवल नामोल्लेख करने को उद्देश्य कहते हैं। जैसे 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्र द्वारा प्रमाण और नय का उद्देश्य किया गया है। मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को अलग करनेवाले हेतुको (चिन्ह को) लक्षण कहते हैं। जैसा कि श्री अकलंकदेव ने राजवार्त्तिक में कहा है—'परस्पर मिली हुई वस्तुओं में से कोई एक वस्तु जिसके द्वारा व्यावृत्त (अलग) की जाती हैं उसे लक्षण कहते हैं।'

लक्षण के दो भेद हैं[3]—१ आत्मभूत और २ अनात्मभूत। जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे अग्नि की उष्णता। यह उष्णता अग्नि का स्वरूप होती

---

१ स्वर्णकार जैसे सुवर्ण का पहिले नाम निश्चित करता है फिर परिभाषा बांधता है और खोटे खरेके के लिए मसान पर रखकर परीक्षा करता है तब वह इस तरह सुवर्ण का ठीक निर्णय करता है।
२ 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधान उद्देशः। तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथा लक्षणमुपपद्यते नवेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा।'—**न्यायभा० १-१-२**।

३ लक्षण के सामन्यलक्षण और विशेष लक्षण के भेदसे भी दो भेद माने गए हैं। यथा—'तद् द्वेधा सामान्यलक्षणं विशेषलक्षणम् च।' **प्रमाणमी०** पृ० २। न्याय**दीपिकाकार** को ये भेद मान्य हैं। जैसा कि ग्रन्थ के व्याख्यान से सिद्ध है। पर उनके यहां कथन न करने का कारण

हुई अग्निको जलादि पदार्थों से जुदा करती है। इसलिए उष्णता अग्नि का आत्मभूत लक्षण है। जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो—उससे पृथक् हो उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे दण्डी पुरुष का दण्ड। 'दण्डी को लाओ' ऐसा कहने पर दण्ड पुरुष में न मिलता हुआ ही पुरुष को पुरुषभिन्न पदार्थों से पृथक् करता है। इसलिए दण्ड पुरुष का अनात्मभूत लक्षण है। जैसा कि तत्त्वार्थराजवार्त्तिकभाष्य में कहा है:—'अग्नि की उष्णता आत्मभूत लक्षण है और देवदत्त का दण्ड अनात्मभूत लक्षण है।' आत्मभूत और अनात्मभूत लक्षण में यही भेद है कि आत्मभूत लक्षण वस्तु के स्वरूपमय होता है और अनात्मभूत लक्षण वस्तु के स्वरूप से भिन्न होता है और वह वस्तु के साथ संयोगादि सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है।

'असाधारण धर्म के कथन करने को लक्षण कहते हैं' ऐसा किन्हीं (नैयायिक और हेमचन्द्राचार्य) का कहना है; पर वह ठीक नहीं है। क्योंकि लक्ष्यरूप धर्मिवचन का लक्षणरूप धर्मवचन के साथ सामानाधिकरण्य (शाब्द सामानाधिकरण्य) के अभाव का प्रसङ्ग आता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

यदि असाधारण धर्म को लक्षण का स्वरूप माना जाय तो लक्ष्यवचन और लक्षणवचन में सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता। यह नियम है कि लक्ष्य-लक्षणभावस्थल में लक्ष्यवचन और लक्षणवचन में एकार्थप्रतिपादकत्वरूप सामानाधिकरण्य अवश्य होता है। जैसे 'ज्ञानी जीवः' अथवा 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' इनमें

यह है कि आत्मभूत और अनात्मभूत लक्षणों के कथन से ही उनका कथन हो जाता है। दूसरे, उन्होंने राजवार्त्तिककार की दृष्टि स्वीकृत की है जिसे आचार्य विद्यानन्द ने भी अपनाया है। देखो, त० श्लो० पृ० ३१८।

शाब्द सामानाधिकरण्य है। यहाँ 'जीवः' लक्ष्यवचन है; क्योंकि जीव-का लक्षण किया जा रहा है। और 'ज्ञानी' लक्षणवचन है; क्योंकि वह जीव को अन्य अजीवादि पदार्थों से व्यावृत्त कराता है। 'ज्ञानवान् जीव है' इसमें किसी को विवाद नहीं है। अब यहाँ देखेंगे कि 'जीवः' शब्द का जो अर्थ है वही 'ज्ञानी' शब्द का अर्थ है। और जो 'ज्ञानी' शब्द का अर्थ है वही 'जीवः' शब्द का है। अतः दोनों-का वाच्यार्थ एक है। जिन दो शब्दों—पदों का वाच्यार्थ एक होता है उनमें शाब्दसामानाधिकरण्य होता है। जैसे 'नीलं कमलम्' यहाँ स्पष्ट है। इस तरह 'ज्ञानी' लक्षणवचन में और 'जीवः' लक्ष्यवचन-में एकार्थप्रतिपादकत्वरूप शाब्दसामानाधिकरण्य सिद्ध है। इसी प्रकार 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' यहाँ भी जानना चाहिए। इस प्रकार जहाँ कहीं भी निर्दोष लक्ष्यलक्षणभाव किया जावेगा वहाँ सब जगह शाब्दसामानाधिकरण्य पाया जायगा। इस नियम के अनुसार 'असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्' यहाँ असाधारणधर्म जब लक्षण होगा तो लक्ष्य धर्मी होगा और लक्षणवचन धर्मीवचन तथा लक्ष्यवचन धर्मीवचन माना जायगा। किन्तु लक्ष्यरूप धर्मीवचन का और लक्षणरूप धर्मवचन का प्रतिपाद्य अर्थ एक नहीं है। धर्मवचन का प्रतिपाद्य अर्थ तो धर्म है और धर्मवचन का प्रतिपाद्य अर्थ धर्मी है। ऐसी हालत में दोनों का प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न भिन्न होने से धर्मीरूप लक्ष्यवचन और धर्मरूप लक्षणवचन में एकार्थप्रतिपाद-कत्वरूप सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है और इसलिए उक्त प्रकार का लक्षण करने में शाब्दसामानाधिकरण्याभावप्रयुक्त असम्भव दोष आता है।

अव्याप्ति दोष भी इस लक्षण में आता है। दण्डादि असाधा-रण धर्म नहीं हैं, फिर भी वे पुरुष के लक्षण होते हैं। अग्नि की उष्णता, जीव का ज्ञान आदि जैसे अपने लक्ष्य में मिले हुए होते

हैं इसलिए वे उनके असाधारण धर्म कहे जाते हैं। वैसे दण्डादि पुरुष में मिले हुए नहीं हैं—उससे पृथक् हैं और इसलिए वे पुरुष के असाधारण धर्म नहीं हैं। इस प्रकार लक्षणरूप लक्ष्य के एक देश अनात्मभूत दण्डादि लक्षण में असाधारण धर्म के न रहने से लक्षण (असाधारण धर्म) अव्याप्त है।

इतना ही नहीं, इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष भी आता है। शावलेयत्वादि रूप अव्याप्त नाम का लक्षणाभास भी असाधारणधर्म है। इसका खुलासा निम्न प्रकार है :—

मिथ्या अर्थात्—सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं। उसके तीन भेद हैं :—१ अव्याप्त, २ अतिव्याप्त और ३ असम्भवि। लक्ष्य के एक देश में लक्षण के रहने को अव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे गायका शावलेयत्व। शावलेयत्व सब गायों में नहीं पाया जाता वह कुछ ही गायों का धर्म है, इसलिए अव्याप्त है। लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को अतिव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे गाय का ही पशुत्व (पशुपना) लक्षण करना। यह 'पशुत्व' गायों के सिवाय अश्वादि पशुओं में भी पाया जाता है इसलिए 'पशुत्व' अतिव्याप्त है। जिसकी लक्ष्य में वृत्ति बाधित हो अर्थात् जो लक्ष्यमें बिलकुल ही न रहे वह असम्भवि लक्षणाभास है। जैसे मनुष्य का लक्षण सींग। सींग किसी भी मनुष्य में नहीं पाया जाता। अतः वह असम्भवि लक्षणाभास है। यहाँ लक्ष्य के एक देश में रहने के कारण 'शावलेयत्व' अव्याप्त है, फिर भी उसमें असाधारणधर्मत्व रहता है—'शावलेयत्व' गाय के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं रहता—गाय में ही पाया जाता है। परन्तु वह लक्ष्यभूत समस्त गायों का व्यावर्त्तक—अश्वादि से जुदा करनेवाला नहीं है—कुछ ही गायों को व्यावृत्त कराता है। इसलिए अलक्ष्यभूत अव्याप्त लक्षणाभास में असाधारणधर्म के रहने के कारण अतिव्याप्ति भी

है। इस तरह असाधारण धर्म को लक्षण कहने में असम्भव, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति ये तीनों ही दोष आते हैं। अतः पूर्वोक्त (मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु के अलग करानेवाले हेतुको लक्षण कहते हैं) ही लक्षण ठीक है। उसका कथन करना लक्षण-निर्देश है।

विरोधी नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हुए विचार को परीक्षा कहते हैं। वह परीक्षा 'यदि ऐसा हो तो ऐसा होना चाहिए और यदि ऐसा हो तो ऐसा नहीं होना चाहिए' इस प्रकार से प्रवृत्त होती है।

प्रमाण के सामान्य लक्षणका कथन—

प्रमाण और नयका भी उद्देश सूत्र ('प्रमाणनयैरधिगमः') में ही किया गया है। अब उनका लक्षण-निर्देश करना चाहिए। और परीक्षा यथावसर होगी। 'उद्देश के अनुसार लक्षण का कथन होता है' इस न्याय के अनुसार प्रधान होने के कारण प्रथमतः उद्दिष्ट प्रमाण का पहले लक्षण किया जाता है।

'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' अर्थात्—सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं—जो ज्ञान यथार्थ है वही प्रमाण है। यहां 'प्रमाण' लक्ष्य है; क्योंकि उसका लक्षण किया जा रहा है और 'सम्यग्ज्ञानत्व' (सच्चा ज्ञानपना) उसका लक्षण है; क्योंकि वह 'प्रमाण' को प्रमाणभिन्न पदार्थों से व्यावृत्त कराता है। गाय का जैसे 'सास्नादि' और अग्नि का जैसे 'उष्णता' लक्षण प्रसिद्ध है। यहां प्रमाण के लक्षण में जो 'सम्यक्' पद का निवेश किया गया है वह संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के निराकरण के लिए किया है; क्योंकि ये तीनों ज्ञान अप्रमाण हैं—मिथ्याज्ञान हैं। इसका खुलासा निम्न प्रकार है:—

विरुद्ध अनेक पक्षोंका अवगाहन करनेवाले ज्ञानको संशय कहते हैं। जैसे—यह स्थाणु (ठूंठ) है या पुरुष है? यहाँ 'स्थाणुत्व, स्थाणुत्वाभाव, पुरुषत्व और पुरुषत्वाभाव' इन चार अथवा 'स्थाणुत्व और पुरुषत्व' इन दो पक्षोंका अवगाहन होता है। प्रायः संध्या आदिके समय मन्द प्रकाश होनेके कारण दूरसे मात्र स्थाणु और पुरुष दोनों में सामान्यरूपसे रहनेवाले ऊँचाई आदि साधारण धर्मोंके देखने और स्थाणुगत टेढ़ापन, कोटरत्व आदि तथा पुरुषगत शिर, पैर आदि विशेष धर्मोंके साधक प्रमाणोंका अभाव होनेसे नाना कोटियोंको अवगाहन करनेवाला यह संशय ज्ञान होता है।

विपरीत एक पक्षका निश्चय करनेवाले ज्ञानको विपर्यय कहते हैं। जैसे—सीपमें 'यह चांदी है' इस प्रकारका ज्ञान होना। इस ज्ञानमें सदृशता आदि कारणोंसे सीपसे विपरीत चाँदीमें निश्चय होता है। अतः सीपमें सीपका ज्ञान न करनेवाला और चाँदीका निश्चय करनेवाला यह ज्ञान विपर्यय माना गया है।

'क्या है' इस प्रकारके अनिश्चयरूप सामान्य ज्ञानको अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे—मार्गमें चलते हुए तृण, कंटक आदिके स्पर्श हो जानेपर ऐसा ज्ञान होना कि 'यह क्या है।' यह ज्ञान नाना पक्षोंका अवगाहन न करनेसे न संशय है और विपरीत एक पक्षका निश्चय न करनेसे न विपर्यय है। इसलिए उक्त दोनों ज्ञानोंसे यह ज्ञान पृथक् ही है।

ये तीनों ज्ञान अपने गृहीत विषयमें प्रमिति—यथार्थताको उत्पन्न न करनेके कारण अप्रमाण हैं, सम्यग्ज्ञान नहीं हैं। अतः 'सम्यक्' पदसे इनका व्यवच्छेद हो जाता है। और 'ज्ञान' पदसे प्रमाता, प्रमिति और 'च' शब्दसे प्रमेयकी व्यावृत्ति हो जाती है। यद्यपि निर्दोष होनेके कारण 'सम्यक्त्व'

उनमें भी है, परन्तु 'ज्ञानत्व' (ज्ञानपना) उनमें नहीं है। इस तरह प्रमाणके लक्षणमें दिये गये 'सम्यक्' और 'ज्ञान' ये दोनों पद सार्थक हैं।

शङ्का—प्रमाता प्रमितिको करनेवाला है। अतः वह ज्ञाता ही है, ज्ञानरूप नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान पदसे प्रमाताकी तो व्यावृत्ति हो सकती है। परन्तु प्रमिति की व्यावृत्ति नहीं हो सकती। कारण, प्रमिति भी सम्यग्ज्ञान है।

समाधान—यह कहना उस हालतमें ठीक है जब ज्ञान पद यहाँ भावसाधन हो। पर 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' अर्थात् जिसके द्वारा जाना जावे वह ज्ञान है। इस प्रकारकी व्युत्पत्तिको लेकर ज्ञान पद करण-साधन इष्ट है। 'करणाधारे चानट्' [१-३-११२] इस जैनेन्द्र-व्याकरणके सूत्रके अनुसार करणमें भी 'अनट्' प्रत्ययका विधान है। भावसाधनमें ज्ञानपदका अर्थ प्रमिति होता है। और भावसाधनसे करणसाधन पद भिन्न है। फलितार्थ यह हुआ कि प्रमाणके लक्षणमें ज्ञान पद करणसाधन विवक्षित है, भावसाधन नहीं। अतः ज्ञान पदसे प्रमितिकी व्यावृत्ति हो सकती है।

इसी प्रकार प्रमाणपद भी 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्' इस व्युत्पत्तिको लेकर करणसाधन करना चाहिए। अन्यथा 'सम्यग्-ज्ञानं प्रमाणम्' यहाँ करणसाधनरूपसे प्रयुक्त 'सम्यग्ज्ञान' पदके साथ 'प्रमाण' पदका एकार्थप्रतिपादकत्वरूप समानाधिकरण्य नहीं बन सकेगा। तात्पर्य यह कि 'प्रमाण' पदको करणसाधन न मानने पर और भावसाधन मानने पर 'प्रमाण' पदका अर्थ प्रमिति होगा और 'सम्यग्ज्ञान' पदका अर्थ प्रमाणज्ञान होगा और ऐसी हालतमें दोनों पदोंका प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न-भिन्न होनेसे शाब्द सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता। अतः 'प्रमाण' पदको करणसाधन करना चाहिए। इससे यह बात सिद्ध हो गई कि

अज्ञाननिवृत्ति अथवा अर्थपरिच्छेदरूप प्रमितिक्रियामें जो करण हो वह प्रमाण है। इसी बातको आचार्य वादिराजने अपने 'प्रमाणनिर्णय' [पृ० १] में कहा है :—'प्रमाण वही है जो प्रमितिक्रियाके प्रति साधकतमरूपसे करण (नियमसे कार्यका उत्पादक) हो।

शङ्का—इस प्रकारसे (सम्यक् और ज्ञान पद विशिष्ट) प्रमाणका लक्षण माननेपर भी इन्द्रिय और लिङ्गादिकोंमें उसकी अतिव्याप्ति है। क्योंकि इन्द्रिय और लिङ्गादि भी जाननेरूप प्रमित्तिक्रियामें करण होते हैं। 'आँखसे जानते हैं, धूमसे जानते हैं, शब्दसे जानते हैं' इस प्रकार का व्यवहार हम देखते ही हैं ?

समाधान—इन्द्रियादिकोंमें लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं है; क्योंकि इन्द्रियादिक प्रमितिके प्रति साधकतम नहीं हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है :—

'प्रमिति प्रमाणका फल (कार्य) है' इसमें किसी भी (वादी अथवा प्रतिवादी) व्यक्तिको विवाद नहीं है—सभीको मान्य है। और वह प्रमिति अज्ञाननिवृत्तिस्वरूप है। अतः उसकी उत्पत्तिमें जो करण हो उसे अज्ञान-विरोधी होना चाहिए। किन्तु इन्द्रियादिक अज्ञानके विरोधी नहीं हैं; क्योंकि अचेतन (जड) हैं। अतः अज्ञान-विरोधी चेतनधर्म—ज्ञानको ही करण मानना युक्त है। लोकमें भी अन्धकारको दूर करनेके लिए उससे विरुद्ध प्रकाशको ही खोजा जाता है, घटादिकको नहीं। क्योंकि घटादिक अन्धकारके विरोधी नहीं हैं—अन्धकारके साथ भी वे रहते हैं और इसलिए उनसे अन्धकारको निवृत्ति नहीं होती। वह तो प्रकाशसे ही होती है।

दूसरी बात यह है, कि इन्द्रिय वगैरह अस्वसंवेदी (अपनेको न जाननेवाले) होनेसे पदार्थोंका भी ज्ञान नहीं करा सकते हैं।

जो स्वयं अपना प्रकाश नहीं कर सकता है वह दूसरेका भी प्रकाश नहीं कर सकता है। घटकी तरह। किन्तु ज्ञान दीपक आदिकी तरह अपना तथा अन्य पदार्थोंका प्रकाशक है, यह अनुभवसे सिद्ध है। अतः यह स्थिर हुआ कि इन्द्रिय वगैरह पदार्थोंके ज्ञान करानेमें साधकतम न होनेके कारण करण नहीं है।

'आँखसे जानते हैं' इत्यादि व्यवहार तो उपचारसे प्रवृत्त होता है और उपचारकी प्रवृत्तिमें सहकारिता निमित्त है। अर्थात् इन्द्रियादिक अर्थपरिच्छेदमें ज्ञानके सहकारी होनेसे उपचारसे परिच्छेदक मान लिये जाते हैं। वस्तुतः मुख्य परिच्छेदक तो ज्ञान ही है। अतः इन्द्रियादिक सहकारी होनेसे प्रमिति क्रियामें मात्र साधक हैं, साधकतम नहीं। और इसलिए करण नहीं हैं। क्योंकि अतिशयवान् साधकविशेष (असाधारण कारण) ही करण होता है। जैसा कि जैनेन्द्र व्याकरण [१।२।११३] में कहा है—'साधकतमं करणम्' अर्थात्—अतिशयविशिष्ट साधकका नाम करण है'। अतः इन्द्रियादिक में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है।

शङ्का—इन्द्रियादिकोंमें लक्षणकी अतिव्याप्ति न होनेपर भी धारावाहिक ज्ञानोंमें अतिव्याप्ति है; क्योंकि वे सम्यक् ज्ञान हैं। किन्तु उन्हें आर्हत मत—जैन दर्शन में प्रमाण नहीं माना है ?

समाधान—एक ही घट (घड़े) में घटविषयक अज्ञानके निराकरण करनेके लिए प्रवृत्त हुए पहले घटज्ञानसे घटकी प्रमिति (सम्यक् परिच्छित्ति) हो जानेपर फिर 'यह घट है, यह घट है' इस प्रकार उत्पन्न हुए ज्ञान धारावाहिक ज्ञान हैं। ये ज्ञान अज्ञान-निवृत्तिरूप प्रमितिके प्रति साधकतम नहीं हैं; क्योंकि अज्ञानकी निवृत्ति पहले ज्ञानसे ही हो जाती है। फिर उनमें लक्षणकी अतिव्याप्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि यह गृहीतग्राही हैं—ग्रहण किये हुए ही अर्थको ग्रहण करते हैं।

शङ्का—यदि गृहीतग्राही ज्ञानको अप्रमाण मानेंगे तो घटको जान लेनेके बाद दूसरे किसी कार्यमें उपयोगके लग जानेपर पीछे घटके ही देखनेपर उत्पन्न हुआ पश्चाद्वर्ती ज्ञान अप्रमाण हो जायगा। क्योंकि धारावाहिक ज्ञानकी तरह वह भी गृहीतग्राही है—अपूर्वार्थ-ग्राहक नहीं है ?

समाधान—नहीं; जाने गये भी पदार्थमें कोई समारोप—संशय आदि हो जानेपर वह पदार्थ अदृष्ट—नहीं जाने गयेके ही समान हैं। कहा भी है—'दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्' [परीक्षा० १-५] अर्थात् ग्रहण किया हुआ भी पदार्थ संशय आदिके हो जाने पर ग्रहण नहीं किये हुएके तुल्य है।

उक्त लक्षणकी इन्द्रिय, लिङ्ग, शब्द और धारावाहिक ज्ञानमें अतिव्याप्तिका निराकरण कर देनेसे निर्विकल्पक सामान्यावलोकनरूप दर्शनमें भी अतिव्याप्तिका परिहार हो जाता है। क्योंकि दर्शन अनिश्चयस्वरूप होनेसे प्रमितिके प्रति करण नहीं है। दूसरी बात यह है, कि दर्शन निराकार (अनिश्चयात्मक) होता है और निराकारमें ज्ञानपना नहीं होता। कारण, "दर्शन निराकार (निर्विकल्पक) होता है और ज्ञान साकार (सविकल्पक) होता है।" ऐसा आगमका वचन है। इस तरह प्रमाणका 'सम्यक् ज्ञान' यह लक्षण अतिव्याप्त नहीं है। और न अव्याप्त है; क्योंकि प्रत्यक्ष और परोक्ष-रूप अपने दोनों लक्ष्योंमें व्यापकरूपसे विद्यमान रहता है। तथा असम्भवी भी नहीं है, क्योंकि लक्ष्य (प्रत्यक्ष और परोक्ष) में उसका रहना बाधित नहीं है—वहाँ वह रहता है। अतः प्रमाणका उपर्युक्त लक्षण बिलकुल निर्दोष है।

प्रमाणके प्रामाण्यका कथन—

शङ्का—प्रमाणका यह प्रामाण्य क्या है, जिससे 'प्रमाण' प्रमाण कहा जाता है, अप्रमाण नहीं ?

समाधान—जाने हुए विषयमें व्यभिचार (अन्यथापन) का न होना प्रामाण्य है। अर्थात् ज्ञानके द्वारा पदार्थ जैसा जाना गया है वह वैसा ही सिद्ध हो, अन्य प्रकारका सिद्ध न हो, यही उस ज्ञानका प्रामाण्य (सच्चापन) है। इसके होनेसे ही ज्ञान प्रमाण कहा जाता है और इसके न होनेसे अप्रमाण कहलाता है।

शङ्का—प्रामाण्यकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है ?

समाधान—मीमांसक कहते हैं कि 'स्वतः' होती है। 'स्वतः उत्पत्ति' कहनेका मतलब यह है कि ज्ञान जिन कारणोंसे पैदा होता है उन्हीं कारणोंसे प्रामाण्य उत्पन्न होता है—उसके लिए भिन्न कारण (गुणादि) अपेक्षित नहीं होते। कहा भी है 'ज्ञानके कारणोंसे अभिन्न कारणोंसे उत्पन्न होना उत्पत्तिमें स्वतस्त्व है।' पर उनका यह कहना विचारपूर्ण नहीं है; क्योंकि ज्ञानसामान्यकी उत्पादक सामग्री (कारण) संशय आदि मिथ्याज्ञानोंमें भी रहती है। हम तो इस विषयमें यह कहते हैं कि ज्ञानसामान्यकी सामग्री सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान दोनोंमें समान होनेपर भी 'संशयादि अप्रमाण हैं और सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, यह विभाग (भेद) बिना कारणके नहीं हो सकता है। अतः जिस प्रकार संशयादिमें अप्रमाणताको उत्पन्न करनेवाले काचकामलादि दोष और चाकचिक्य आदिको ज्ञानसामान्यकी सामग्रीके अलावा कारण मानते हैं। उसी प्रकार प्रमाणमें भी प्रमाणताके उत्पादक कारण ज्ञानकी सामान्यसामग्रीसे भिन्न निर्मलता आदि गुणोंको अवश्य मानना चाहिये। अन्यथा प्रमाण और अप्रमाणका भेद नहीं हो सकता है।

शङ्का—प्रमाणता और अप्रमाणताके भिन्न कारण सिद्ध हो भी जायें तथापि अप्रमाणता परसे होती है और प्रामाणता तो स्वतः ही होती है ?

समाधान—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यह बात तो विपरीत पक्षमें भी समान है। हम यह कह सकते हैं कि 'अप्रमाणता तो स्वतः होती है और प्रमाणता परसे होती है'। इसलिए अप्रमाणता-की तरह प्रमाणता भी परसे ही उत्पन्न होती है। जिस प्रकार वस्त्र-सामान्यकी सामग्री लाल वस्त्रमें कारण नहीं होती—उसके लिए दूसरी ही सामग्री आवश्यक होती है उसी प्रकार ज्ञानसामान्यकी सामग्री प्रमाणमात्रमें कारण नहीं हो सकती है। क्योंकि दो भिन्न कार्य अवश्य ही भिन्न भिन्न कारणोंसे होते हैं।

शङ्का—प्रामाण्यका निश्चय कैसे होता है?

समाधान—अभ्यस्त विषयमें तो स्वतः होता है और अनभ्यस्त विषयमें परसे होता है। तात्पर्य यह है कि प्रामाण्यकी उत्पत्ति तो सर्वत्र परसे ही होती है, किन्तु प्रामाण्यका निश्चय परिचित विषयमें स्वतः और अपरिचित विषयमें परतः होता है।

शङ्का—अभ्यस्त विषय क्या है? और अनभ्यस्त विषय क्या है?

समाधान—परिचित–कई बार जाने हुए अपने गाँवके तालाबका जल वगैरह अभ्यस्त विषय हैं और अपरिचित—नहीं जाने हुए दूसरे गाँवके तालाबका जल वगैरह अनभ्यस्त विषय हैं।

शंका—स्वतः क्या है और परतः क्या है!

समाधान—ज्ञानका निश्चय करानेवाले कारणोंके द्वारा ही प्रामाण्यका निश्चय होना 'स्वतः' है और उससे भिन्न कारणोंसे होना 'परतः' है।

उनमेंसे अभ्यस्त विषयमें 'जल है' इस प्रकार ज्ञान होनेपर ज्ञानस्वरूपके निश्चयके समयमें ही ज्ञानगत प्रामाणताका भी निश्चय अवश्य हो जाता है। नहीं तो दूसरे ही क्षणमें जलमें सन्देहरहित प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु जलज्ञानके बाद ही सन्देहरहित प्रवृत्ति अवश्य होती है। अतः अभ्यासदशामें तो प्रामाण्यका निश्चय

स्वतः ही होता है। पर अनभ्यासदशामें जलज्ञान होनेपर 'जलज्ञान मुझे हुआ' इस प्रकारसे ज्ञानके स्वरूपका निश्चय हो जाने पर भी उसके प्रामाण्यका निश्चय अन्य (अर्थक्रियाज्ञान अथवा संवादज्ञान) से ही होता है। यदि प्रामाण्यका निश्चय अन्यसे न हो—स्वतः ही हो तो जलज्ञानके बाद सन्देह नहीं होना चाहिये। पर सन्देह अवश्य होता है कि 'मुझको जो जलका ज्ञान हुआ है वह जल है या बालूका ढेर ?'। इस सन्देहके बाद ही कमलोंकी गन्ध, ठण्डी हवाके आने आदिसे जिज्ञासु पुरुष निश्चय करता है कि 'मुझे जो पहले जलका ज्ञान हुआ है वह प्रमाण है—सच्चा है, क्योंकि जलके बिना कमलकी गन्ध आदि नहीं आ सकती है।' अतः निश्चय हुआ कि अपरिचित दशामें प्रामाण्यका निर्णय परसे ही होता है।

नैयायिक और वैशेषिकों की मान्यता है कि उत्पत्तिकी तरह प्रामाण्यका निश्चय भी परसे ही होता है। इसपर हमारा कहना है कि प्रामाण्यकी उत्पत्ति परसे मानना ठीक है। परन्तु प्रामाण्यका निश्चय 'परिचित विषयमें स्वतः ही होता है' यह जब सयुक्तिक निश्चित हो गया तब 'प्रामाण्यका निश्चय परसे ही होता है' ऐसा अवधारण (स्वतस्त्वका निराकरण) नहीं हो सकता है। अतः यह स्थिर हुआ कि प्रमाणताकी उत्पत्ति तो परसे ही होती है, पर ज्ञप्ति (निश्चय) कभी (अभ्यस्त विषयमें) स्वतः और कभी (अनभ्यस्त विषयमें) परतः होती है। यही प्रमाणपरीक्षामें ज्ञप्तिको लेकर कहा है :—

"प्रमाणसे पदार्थोंका ज्ञान तथा अभिलषितकी प्राप्ति होती है और प्रमाणाभाससे नहीं होती है। तथा प्रमाणताका निश्चय अभ्यासदशामें स्वतः और अनभ्यासदशामें परतः होता है।"

इस तरह प्रमाणका लक्षण सुव्यवस्थित होनेपर भी जिन

लोगोंका यह भ्रम है कि बौद्धादिकोंका भी माना हुआ प्रमाणका लक्षण वास्तविक लक्षण है। उनके उपकार के लिए यहाँ उनके प्रमाण-लक्षणोंकी परीक्षा की जाती है।

बौद्धोंके प्रमाण-लक्षणकी परीक्षा—

'जो ज्ञान अविसंवादी है—विसंवादरहित है वह प्रमाण है' ऐसा बौद्धोंका कहना है, परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है। इसमें असम्भव दोष आता है। वह इस प्रकारसे है—बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं। न्यायबिन्दुमें कहा है '"सम्यग्ज्ञान (प्रमाण) के दो भेद हैं—१ प्रत्यक्ष और २ अनुमान।" उनमें न प्रत्यक्षमें अविसंवादीपना सम्भव है, क्योंकि वह निर्विकल्पक होनेसे अपने विषयका निश्चायक न होनेके कारण संशयादिरूप समारोपका निराकरण नहीं कर सकता है। और न अनुमानमें भी अविसंवादीपना सम्भव है, क्योंकि उनके मतके अनुसार वह भी अवास्तविक सामान्यको विषय करनेवाला है। इस तरह बौद्धोंका वह प्रमाणका लक्षण असम्भव दोषसे दूषित होनेसे सम्यक् लक्षण नहीं है।

भाट्टोंके प्रमाण-लक्षणकी परीक्षा—

'जो पहले नहीं जाने हुए यथार्थ अर्थका निश्चय करानेवाला है वह प्रमाण है' ऐसा भाट्ट-मीमांसकों की मान्यता है; किन्तु उनका भी यह लक्षण अव्याप्ति दोषसे दूषित है। क्योंकि उन्हींके द्वारा प्रमाणरूपमें माने हुए धारावाहिकज्ञान अपूर्वार्थग्राही नहीं हैं। यदि यह आशंका की जाय कि धारावाहिक ज्ञान अगले अगले क्षणसे सहित अर्थको विषय करते हैं इसलिए अपूर्वार्थविषयक ही हैं। तो यह आशंका करना भी ठीक नहीं है। कारण, क्षण अत्यन्त सूक्ष्म हैं उनको लक्षित करना—जानना

सम्भव नहीं है। अतः धारावाहिकज्ञानोंमें उक्त लक्षणकी अव्याप्ति निश्चित है।

प्राभाकरोंके प्रमाण-लक्षणकी परीक्षा—

प्राभाकर—प्रभाकरमतानुयायी 'अनुभूतिको प्रमाणका लक्षण' मानते हैं; किन्तु उनका भी यह लक्षण युक्तिसङ्गत नहीं है; क्योंकि 'अनुभूति' शब्दको भावसाधन करनेपर करणरूप प्रमाणमें और करण-साधन करनेपर भावरूप प्रमाणमें अव्याप्ति होती है। कारण, करण और भाव दोनों को ही उनके यहाँ प्रमाण माना गया है। जैसा कि शालिकानाथने कहा है—

'जब प्रमाण शब्दको 'प्रमितिः प्रमाणम्' इस प्रकार भावसाधन किया जाता है उस समय 'ज्ञान' ही प्रमाण होता है और 'प्रमीयतेऽनेन' इस प्रकार करणसाधन करनेपर 'आत्मा और मनका सन्निकर्ष' प्रमाण होता है।' अतः अनुभूति (अनुभव) को प्रमाणका लक्षण माननेमें अव्याप्ति दोष स्पष्ट है। इसलिए यह लक्षण भी सुलक्षण नहीं है।

नैयायिकोंके प्रमाण-लक्षणकी परीक्षा—

'प्रमाके प्रति जो करण है वह प्रमाण है' ऐसी नैयायिकोंकी मान्यता है। परन्तु उनका भी यह लक्षण निर्दोष नहीं है; क्योंकि उनके द्वारा प्रमाणरूपमें माने गये ईश्वरमें ही वह अव्याप्त है। कारण, महेश्वर प्रमाका आश्रय है, करण नहीं है। ईश्वरको प्रमाण माननेका यह कथन हम अपनी ओरसे आरोपित नहीं कर रहे हैं। किन्तु उनके प्रमुख आचार्य उदयनने स्वयं स्वीकार किया है कि 'तन्मे प्रमाणं शिवः' अर्थात् 'वह महेश्वर मेरे प्रमाण हैं'। इस अव्याप्ति दोषको दूर करनेके लिये कोई इस प्रकार व्याख्यान करते हैं कि 'जो प्रमाका साधन हो अथवा प्रमाका आश्रय हो वह प्रमाण है।' मगर उनका यह व्याख्यान युक्तिसङ्गत नहीं है।

क्योंकि प्रमासाधन और प्रमाश्रयमें से किसी एकको प्रमाण माननेपर लक्षणकी परस्परमें अव्याप्ति होती है। 'प्रमासाधन' रूप जब प्रमाणका लक्षण किया जायगा तब 'प्रमाश्रय' रूप प्रमाणलक्ष्यमें लक्षण नहीं रहेगा और जब 'प्रमाश्रय' रूप प्रमाणका लक्षण माना जायगा तब 'प्रमासाधन' रूप प्रमाणलक्ष्यमें लक्षण घटित नहीं होगा। तथा प्रमाश्रय और प्रमासाधन दोनोंको सभी लक्ष्योंका लक्षण माना जाय तो कहीं भी लक्षण नहीं जायगा। सन्निकर्ष आदि केवल प्रमासाधन हैं, प्रमाणके आश्रय नहीं हैं और ईश्वर केवल प्रमाका आश्रय है प्रमाका साधन नहीं है क्योंकि उसकी प्रमा (ज्ञान) नित्य है। प्रमाका साधन भी हो और प्रमाका आश्रय भी हो ऐसा कोई प्रमाणलक्ष्य नहीं है। अतः नैयायिकोंका भी उक्त लक्षण सुलक्षण नहीं है।

और भी दूसरोंके द्वारा माने गये प्रमाणके सामान्य लक्षण हैं। जैसे सांख्य 'इन्द्रियव्यापार' को प्रमाणका लक्षण मानते हैं। जरन्नैयायिक 'कारकसाकल्य' को प्रमाण मानते हैं, आदि। पर वे सब विचार करनेपर सुलक्षण सिद्ध नहीं होते। अतः उनकी यहाँ उपेक्षा कर दी गई है। अर्थात् उनकी परीक्षा नहीं की गई।

अतः यही निष्कर्ष निकला कि अपने तथा परका प्रकाश करनेवाला सविकल्पक और अपूर्वार्थग्राही सम्यग्ज्ञान ही पदार्थोंके अज्ञानको दूर करनेमें समर्थ है। इसलिए वही प्रमाण है। इस तरह जैनमत सिद्ध हुआ।

इस प्रकार श्रीजैनाचार्य धर्मभूषण यति विरचित न्यायदीपिकामें
प्रमाणका सामान्य लक्षण प्रकाश करनेवाला पहला प्रकाश
पूर्ण हुआ।

—o—

दूसरा प्रकाश

प्रमाणविशेषका स्वरूप बतलानेके लिये यह दूसरा प्रकाश प्रारम्भ किया जाता है।

प्रमाणके भेद और प्रत्यक्षका लक्षण—

प्रमाणके दो भेद हैं:—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। विशद प्रतिभास (स्पष्ट ज्ञान) को प्रत्यक्ष कहते हैं।' यहाँ 'प्रत्यक्ष' लक्ष्य है, 'विशदप्रतिभासत्व' लक्षण है। तात्पर्य यह कि जिस प्रमाणभूत ज्ञानका प्रतिभास (अर्थप्रकाश) निर्मल हो वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

शङ्का—'विशदप्रतिभासत्व' किसे कहते हैं?

समाधान—ज्ञानावरणकर्मके सर्वथा क्षयसे अथवा विशेष-क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली और शब्द तथा अनुमानादि प्रमाणों से नहीं हो सकनेवाली जो अनुभवसिद्ध निर्मलता है वही निर्मलता 'विशदप्रतिभासत्व' है। किसी प्रामाणिक पुरुषके 'अग्नि है' इस प्रकारके वचनसे और 'यह प्रदेश अग्निवाला है, क्योंकि धुआँ है, इस प्रकारके धूमादि लिङ्गसे उत्पन्न हुए ज्ञानकी अपेक्षा 'यह अग्नि है' इस प्रकारके उत्पन्न इन्द्रियज्ञानमें विशेषता (अधिकता) देखी जाती है। वही विशेषता निर्मलता, विशदता और स्पष्टता इत्यादि शब्दों द्वारा कही जाती है। अर्थात् ये उसी विशेषताके बोधक पर्याय नाम हैं। तात्पर्य यह कि विशेषप्रतिभासनका नाम विशद-प्रतिभासत्व है। भगवान् भट्टाकलङ्कदेवने भी 'न्यायविनिश्चय' में कहा है:—

स्पष्ट, यथार्थ और सविकल्पक ज्ञानको प्रत्यक्षका लक्षण कहा है।' इसका विवरण (व्याख्यान) स्याद्वादविद्यापति श्रीवादिराजने

'न्यायविनिश्चयविवरण' में इस प्रकार किया है कि "निर्मलप्रतिभासत्व ही स्पष्टत्व है और वह प्रत्येक विचारकके अनुभवमें आता है। इसलिये इसका विशेष व्याख्यान करना आवश्यक नहीं है"। अतः विशदप्रतिभासात्मक ज्ञानको जो प्रत्यक्ष कहा है वह बिल्कुल ठीक है।

बौद्धोंके प्रत्यक्ष-लक्षणका निराकरण—

बौद्ध 'कल्पना-पोढ—निर्विकल्पक और अभ्रान्त—भ्रान्तिरहित ज्ञानको प्रत्यक्ष' मानते हैं। उनका कहना है कि यहाँ प्रत्यक्षके लक्षणमें जो दो पद दिये गये हैं। उनमें 'कल्पनापोढ' पदसे सविकल्पककी और 'अभ्रान्त' पदसे मिथ्याज्ञानोंकी व्यावृत्ति की गई है। फलितार्थ यह हुआ कि जो समीचीन निर्विकल्पक ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। किन्तु उनका यह कथन बालचेष्टामात्र है—सयुक्तिक नहीं है। क्योंकि निर्विकल्पक संशयादिरूप समारोपका विरोधी (निराकरण करनेवाला) न होनेसे प्रमाण ही नहीं हो सकता है। कारण, निश्चयस्वरूप ज्ञानमें ही प्रमाणता व्यवस्थित (सिद्ध) होती है। तब वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है।

शङ्का—निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि वह अर्थसे उत्पन्न होता है। परमार्थसत्—वास्तविक है और स्वलक्षणजन्य है। सविकल्पक नहीं, क्योंकि वह अपरमार्थभूत सामान्यको विषय करनेसे अर्थजन्य नहीं है ?

समाधान—नहीं; क्योंकि अर्थ प्रकाशकी तरह ज्ञानमें कारण नहीं हो सकता है। इसका खुलासा इस प्रकार है :—

अन्वय (कारणके होनेपर कार्यका होना) और व्यतिरेक (कारणके अभावमें कार्यका न होना) से कार्यकारण भाव जाना

जाता है। इस व्यवस्थाके अनुसार प्रकाश ज्ञानमें कारण नहीं है क्योंकि उसके अभावमें भी रात्रिमें विचरनेवाले बिल्ली, चूहे आदिको ज्ञान पैदा होता है और उसके सद्भावमें भी उल्लू वगैरह-को ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। अतः जिस प्रकार प्रकाशका ज्ञानके साथ अन्वय और व्यतिरेक न होनेसे वह ज्ञानका कारण नहीं हो सकता है उसी प्रकार अर्थ (पदार्थ) भा ज्ञानके प्रति कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि अर्थके अभावमें भी केशमशकादिज्ञान उत्पन्न होता है। (और अर्थके रहनेपर भी उपयोग न होनेपर अन्यमनस्क या सुप्तादिकों को ज्ञान नहीं होता) ऐसी दशामें ज्ञान अर्थजन्य कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है। परीक्षा-मुखमें भी कहा है—'अर्थ और प्रकाश ज्ञानके कारण नहीं हैं'। दूसरी बात यह है कि प्रमाणतामें कारण अर्थाव्यभिचार (अर्थके अभावमें ज्ञानका न होना) है, अर्थजन्यता नहीं। कारण, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष विषयजन्य न होनेपर भी प्रमाण माना गया है। यहां यह नहीं कहा जा सकता कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष चूंकि अपनेसे उत्पन्न होता है इसलिए वह भी विषयजन्य ही है, क्योंकि कोई भी वस्तु अपनेसे ही पैदा नहीं होती। किन्तु अपनेसे भिन्न कारणोंसे पैदा होती है।

शङ्का—यदि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता तो वह अर्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समाधान—दीपक घटादि पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं होता फिर भी वह उनका प्रकाशक है, यह देखकर आपको सन्तोष कर लेना चाहिये। अर्थात् दीपक जिस प्रकार घटादिकोंसे उत्पन्न न होकर भी उन्हें प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी अर्थसे उत्पन्न न होकर उसे प्रकाशित करता है।

शङ्का—ज्ञानका विषयके साथ यह प्रतिनियम कैसे बनेगा कि

घटज्ञान का घट ही विषय है, पट नहीं है ? हम तो ज्ञान को अर्थ-जन्य होने के कारण अर्थजन्यता को ज्ञानमें विषयका प्रतिनियामक मानते हैं और जिससे ज्ञान पैदा होता है उसीको विषय करता है, अन्य को नहीं, इस प्रकार व्यवस्था करते हैं। किन्तु उसे आप नहीं मानते हैं ?

समाधान – हम योग्यता को विषय का प्रतिनियमक मानते हैं। जिस ज्ञान में जिस अर्थ के ग्रहण करने की योग्यता (एक प्रकार की शक्ति) होती है वह ज्ञान उस ही अर्थ को विषय करता है—अन्य को नहीं।

शंका—योग्यता किसे कहते हैं ?

समाधान—अपने आवरण (ज्ञानको ढकने वाले कर्म) के क्षयोप-शमको योग्यता कहते हैं। कहा भी है :—'अपने आवरण कर्म के क्षयोपशमरूप योग्यता के द्वारा ज्ञान प्रत्येक पदार्थ की व्यवस्था करता है'। तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा में घटज्ञानावरण कर्म के हटने से उत्पन्न हुआ घटज्ञान घट को ही विषय करता है, पट को नहीं। इसी प्रकार दूसरे पटादिज्ञान भी अपने अपने क्षयोपशम को लेकर अपने अपने ही विषयों को विषय करते हैं। अतः ज्ञान को अर्थजन्य मानना अनावश्यक और अयुक्त है।

'ज्ञान अर्थ के आकार होने से अर्थ को प्रकाशित करता है।' यह मान्यता भी उपर्युक्त विवेचन से खंडित हो जाती है। क्योंकि दीपक, मणि आदि पदार्थों के आकार न होकर भी उन्हें प्रकाशित करते हुये देखे जाते हैं। अतः अर्थाकारता और अर्थजन्यता ये दोनों ही प्रमाणता में प्रयोजक नहीं हैं। किन्तु अर्थाव्यभिचार ही प्रयोजक है। पहले जो सविकल्पक के विषयभूत सामान्य को अपरमार्थ बता कर सविकल्पक का खण्डन किया है वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि किसी

प्रमाणसे बाधित न होने के कारण सविकल्प का विषय परमार्थ (वास्तविक) ही है। बल्कि बौद्धों के द्वारा माना गया स्वलक्षण ही आपत्ति के योग्य है। अतः प्रत्यक्ष निर्विकल्पकरूप नहीं है—सविकल्पकरूप ही है।

यौगाभिमत सन्निकर्ष का निराकरण—

नैयायिक और वैशेषिक सन्निकर्ष (इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध) को प्रत्यक्ष मानते हैं। पर वह ठीक नहीं है; क्योंकि सन्निकर्ष अचेतन है। वह प्रमिति के प्रति करण कैसे हो सकता है? प्रमिति के प्रति जब करण नहीं, तब प्रमाण कैसे? और जब प्रमाण ही नहीं, तो प्रत्यक्ष कैसे?

दूसरी बात यह है, कि चक्षु इन्द्रिय रूपका ज्ञान सन्निकर्ष के बिना ही कराती है, क्योंकि वह अप्राप्य है। इसलिए सन्निकर्ष के अभाव में भी प्रत्यक्ष ज्ञान होने से प्रत्यक्ष में सन्निकर्षरूपता ही नहीं है। चक्षु इन्द्रिय को जो यहाँ अप्राप्यकारी कहा गया है वह असिद्ध नहीं है। कारण, प्रत्यक्ष से चक्षु इन्द्रिय में अप्राप्यकारिता ही प्रतीत होती है।

शंका—यद्यपि चक्षु इन्द्रिय की प्राप्यकारिता (पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाशित करना) प्रत्यक्ष से मालूम नहीं होती तथापि उसे परमाणु की तरह अनुमान से सिद्ध करेंगे। जिस प्रकार परमाणु प्रत्यक्ष से सिद्ध न होने पर भी 'परमाणु है, क्योंकि स्कन्धादि कार्य अन्यथा नहीं हो सकते' इस अनुमान से उसकी सिद्धि होती है उसी प्रकार 'चक्षु इन्द्रिय पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाश करने वाली है, क्योंकि वह बहिरिन्द्रिय है (बाहर से देखी जाने वाली इन्द्रिय है) जो बहिरिन्द्रिय है वह पदार्थ को प्राप्त करके ही प्रकाश करती है, जैसे स्पर्शन इन्द्रिय' इस अनुमान से चक्षु में

प्राप्यकारिता की सिद्धि होती है और प्राप्यकारिता ही सन्निकर्ष है। अतः चक्षु इन्द्रिय में सन्निकर्ष की अव्याप्ति नहीं है। अर्थात् चक्षु इन्द्रिय भी सन्निकर्ष के होने पर ही रूपज्ञान कराती है। इसलिए सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष मानने में कोई दोष नहीं है ?

समाधान—नहीं; यह अनुमान सम्यक् अनुमान नहीं है—अनुमानाभास है। वह इस प्रकार है :—

इस अनुमान में 'चक्षु' पदसे कौनसी चक्षु को पक्ष बनाया है ? लौकिक (गोलकरूप) चक्षुको अथवा अलौकिक (किरणरूप) चक्षुको ? पहले विकल्प में, हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधितविषय) नामका हेत्वाभास) है; क्योंकि गोलकरूप लौकिक चक्षु विषय के पास जाती हुई किसी को भी प्रतीत न होने से उसको विषय-प्राप्ति प्रत्यक्ष से बाधित है। दूसरे विकल्प में, हेतु आश्रयासिद्ध है; क्योंकि किरणरूप अलौकिक चक्षु अभी तक सिद्ध नहीं है। दूसरी बात यह है, कि वृक्ष की शाखा और चन्द्रमा का एक ही काल में ग्रहण होने से चक्षु अप्राप्यकारी ही प्रसिद्ध होती है। अतः उपर्युक्त अनुमानगत हेतु कालात्ययापदिष्ट और आश्रयासिद्ध होने के साथ ही प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) भी है। इस प्रकार सन्निकर्ष के बिना भी चक्षु के द्वारा रूपज्ञान होता है। इसलिए सन्निकर्ष अव्याप्त होने से प्रत्यक्ष का स्वरूप नहीं है, यह बात सिद्ध हो गई।

इस सन्निकर्ष के अप्रमाण्य का विस्तृत विचार प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में [१–१ तथा २–४] अच्छी तरह किया गया है। संग्रहग्रन्थ होने के कारण इस लघु प्रकरण न्याय-दीपिका में उसका विस्तार नहीं किया। इस प्रकार न बौद्धाभिमत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है और न यौगों का इन्द्रियार्थसन्निकर्ष। तो फिर प्रत्यक्ष का लक्षण क्या है ? विशदप्रतिभासस्वरूप ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, यह भले प्रकार सिद्ध हो गया।

प्रत्यक्ष के दो भेद करके सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण और उसके भेदों का निरूपण—

वह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—१ सांव्यवहारिक और २ पारमार्थिक। एकदेश स्पष्ट ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो ज्ञान कुछ निर्मल है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। उसके चार भेद हैं—१ अवग्रह, २ ईहा, ३ अवाय और ४ धारणा। इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध होने के बाद उत्पन्न हुए सामान्य अवभास (दर्शन) के अनन्तर होने वाले और अवान्तरसत्ताजाति से युक्त वस्तु को ग्रहण करने वाले ज्ञानविशेष को अवग्रह कहते हैं। जैसे 'यह पुरुष है'। यह ज्ञान संशय नहीं है, क्योंकि विषयान्तर का निराकरण करके अपने विषय का ही निश्चय कराता है। और संशय उससे विपरीत लक्षण वाला है। जैसा कि राजवार्तिक में कहा है—"संशय नानार्थविषयक, अनिश्चयात्मक और अन्य का अव्यवच्छेदक होता है। किन्तु अवग्रह एकार्थविषयक, निश्चयात्मक और अपने विषय से भिन्न विषय का व्यवच्छेदक होता है।" राजवार्त्तिकभाष्य में भी कहा है—"संशय निर्णय का विरोधी है, परन्तु अवग्रह नहीं है।" फलितार्थ यह निकला कि संशयज्ञानमें पदार्थ का निश्चय नहीं होता और अवग्रह में होता है। अतः अवग्रह संशयज्ञान से पृथक् है।

अवग्रह से जाने हुये अर्थमें उत्पन्न संशयको दूर करने के लिये ज्ञाताका जो अभिलाषात्मक प्रयत्न होता है उसे ईहा कहते हैं। जैसे अवग्रह ज्ञानके द्वारा 'यह पुरुष है' इस प्रकार का निश्चय किया गया था, इससे यह 'दक्षिणी' है अथवा 'उत्तरीय' इस प्रकार के सन्देह होने पर उसको दूर करने के लिये 'यह दक्षिणी होना चाहिये' ऐसा ईहा नाम का ज्ञान होता है।

भाषा, वेष और भूषा आदि के विशेष को जानकर यथार्थता का निश्चय करना अवाय है। जैसे 'यह दक्षिणी ही है'।

अवाय से निश्चित किये गये पदार्थ को कालान्तर में न भूलने की शक्ति से उसी का ज्ञान होना धारणा है। जिससे भविष्य में भी 'वह' इस प्रकार का स्मरण होता है। तात्पर्य यह कि पदार्थका निश्चय होने के बाद जो उसको न भूलने रूप से संस्कार (वासना) स्थिर हो जाता है और जो स्मरण का जनक होता है वही धारणाज्ञान है। अतएव धारणा का दूसरा नाम संस्कार भी है[1]।

शङ्का—ये ईहादिक ज्ञान पहले पहले ज्ञान से ग्रहण किये हुये पदार्थ को ही ग्रहण करते हैं, अतः धारावाहिक ज्ञान की तरह अप्रमाण हैं ?

समाधान—नहीं; भिन्न विषय होने से अगृहीतार्थग्राही हैं। अर्थात्—पूर्व में ग्रहण नहीं किये हुये विषय को ही ग्रहण करते हैं। यथा—जो पदार्थ अवग्रह ज्ञान का विषय है वह ईहा का नहीं है। और जो ईहा का है वह अवाय का नहीं है। तथा जो अवाय का है वह धारणा का नहीं है। इस तरह इनका विषयभेद बिल्कुल स्पष्ट है और उसे बुद्धिमान अच्छी तरह जान सकते हैं।

ये अवग्रहादि चारों ज्ञान जब इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं तब इन्द्रियप्रत्यक्ष कहे जाते हैं। और जब अनिन्द्रिय—मन के द्वारा पैदा होते हैं तब अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहे जाते हैं। इन्द्रियाँ पाँच हैं—१ स्पर्शन, २ रसना, ३ घ्राण, ४ चक्षु, और ५ श्रोत्र। अनिन्द्रिय

---

१ 'स्मृतिहेतुधारणा, संस्कार इति यावत्—लघी०स्वोपज्ञविवृ०का० ६। वैशेषिकदर्शन में इसे (धारणाको) भावना नामका संस्कार कहा है और उसे स्मृतिजनक माना है।

केवल एक मन है। इन दोनों के निमित्त से होनेवाला यह अवग्रहादिरूप ज्ञान लोकव्यवहार में 'प्रत्यक्ष' प्रसिद्ध है। इसलिये यह सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष कहा जाता है। परीक्षामुख में भी कहा है—"इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले एक देश स्पष्ट ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।" और यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अमुख्य प्रत्यक्ष है—गौणरूपसे प्रत्यक्ष है, क्योंकि उपचार से सिद्ध होता है। वास्तव में तो परोक्ष ही है। कारण वह मतिज्ञान है और मतिज्ञान परोक्ष है।

शङ्का—मतिज्ञान परोक्ष कैसे है?

समाधान—"आद्ये परोक्षम्" [त० सू० १–११] ऐसा सूत्र है—आगम का वचन है। सूत्र का अर्थ यह है कि प्रथम के दो ज्ञान —मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। यहाँ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को जो उपचार से प्रत्यक्ष कहा गया है उस उपचार में निमित्त 'एकदेश स्पष्टता' है। अर्थात्—इन्द्रिय और अनिन्द्रिय जन्य ज्ञान कुछ स्पष्ट होता है, इसलिये उसे प्रत्यक्ष कहा गया है। इस सम्बन्ध में और अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। इतना विवेचन पर्याप्त है।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष का लक्षण और उसके भेदों का कथन—

सम्पूर्णरूप से स्पष्ट ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। जो ज्ञान समस्त प्रकार से निर्मल है वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। उसी को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

उसके दो भेद हैं—एक सकल प्रत्यक्ष और दूसरा विकल प्रत्यक्ष। उनमें से कुछ पदार्थों को विषय करने वाला ज्ञान विकल पारमार्थिक है। उसके भी दो भेद हैं—१ अवधिज्ञान और २ मनःपर्ययज्ञान। अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोप-

शमसे उत्पन्न होने वाले तथा मूर्त्तिक द्रव्य मात्रको विषय करने वाले ज्ञान को अवधि ज्ञान कहते हैं। मनःपर्ययज्ञानावरण और वीर्यान्तिरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुये और दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान को मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान की तरह अवधि और मनःपर्ययज्ञान के भी भेद और प्रभेद है, उन्हें तत्त्वार्थराजवार्त्तिक और श्लोकवार्त्तिकभाष्य से जानना चाहिये।

समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों को जानने वाले ज्ञान को सकल प्रत्यक्ष कहते हैं। वह सकल प्रत्यक्ष ज्ञानावरण आदि घातियाकर्मों के सम्पूर्ण नाश से उत्पन्न केवलज्ञान ही है। क्योंकि "समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायों में केवल ज्ञान की प्रवृत्ति है" ऐसा तत्त्वार्थसूत्र का उपदेश है।

इस प्रकार अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ज्ञान सब तरह से स्पष्ट होने के कारण पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं। सब तरह से स्पष्ट इसलिये हैं कि ये मात्र आत्मा की अपेक्षा लेकर उत्पन्न होते हैं—इन्द्रियादिक पर पदार्थ की अपेक्षा नहीं लेते।

शङ्का—केवलज्ञान को पारमार्थिक कहना ठीक है, परन्तु अवधि और मनःपर्यय को पारमार्थिक कहना ठीक नहीं है। कारण, वे दोनों विकल (एकदेश) प्रत्यक्ष हैं?

समाधान—नहीं; सकलपना और विकलपना यहाँ विषय की अपेक्षा से है, स्वरूपतः नहीं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—चूंकि केवलज्ञान समस्त द्रव्यों और पर्यायों को विषय करने वाला है, इसलिये वह सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है। परन्तु अवधि और मनःपर्यय कुछ पदार्थों को विषय करते हैं, इसलिये वे विकल कहे जाते हैं। लेकिन इतने से उनमें पारमार्थिकता की हानि नहीं होती। क्योंकि पारमार्थिकता का कारण सकलार्थविषयता नहीं है—पूर्ण

निर्मलता है और वह पूर्ण निर्मलता केवलज्ञान की तरह अवधि और मनःपर्यय में भी अपने विषय में विद्यमान है। इसलिये वे दोनों भी पारमार्थिक ही हैं।

अवधि आदि तीनों ज्ञानों को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष न हो सकने की शङ्का और उसका समाधान—

शङ्का—अक्ष नाम चक्षु आदि इन्द्रियों का है, उनकी सहायता लेकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे ही प्रत्यक्ष कहना ठीक है, अन्य (इन्द्रियनिरपेक्ष अवधिज्ञानादिक) को नहीं ?

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं है ; क्योंकि आत्मा मात्र की अपेक्षा रखने वाले और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखने वाले भी अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष कहने में कोई विरोध नहीं है। कारण, प्रत्यक्षता का प्रयोजक स्पष्टता ही है, इन्द्रियजन्यता नहीं। और वह स्पष्टता इन तीनों ज्ञानोंमें पूर्णरूप से है। इसीलिये मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानों में 'आद्ये परोक्षम्' [त० सू० १–११] और 'प्रत्यक्षमन्यत्' [त० सू० १–१२] इन दो सूत्रों द्वारा प्रथम के मति और श्रुत इन दो ज्ञानों को परोक्ष तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल इन तीनों ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहा है।

शङ्का—फिर ये प्रत्यक्ष शब्द के वाच्य कैसे हैं ? अर्थात् इनको प्रत्यक्ष शब्द से क्यों कहा जाता है ? क्योंकि अक्ष नाम तो इन्द्रियों का है और इन्द्रियों की सहायता से होने वाला इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष शब्द से कहने योग्य है ?

समाधान—हम इन्हें रूढि से प्रत्यक्ष कहते हैं। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष शब्द के व्युत्पत्ति (यौगिक) अर्थ की अपेक्षा न करके अवधि आदि ज्ञानों में प्रत्यक्ष शब्द की प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति में

निमित्त[1] स्पष्टता है। और वह उक्त तीनों ज्ञानों में मौजूद है। अतः जो ज्ञान स्पष्ट है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है।

अथवा, व्युत्पत्ति अर्थ भी इनमें मौजूद है। 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा' अर्थात्—जो व्याप्त करे—जाने उसे अक्ष कहते हैं और वह आत्मा है। इस व्युत्पत्ति को लेकर अक्ष शब्द का अर्थ आत्मा भी होता है। इसलिये उस अक्ष—आत्मा मात्रकी अपेक्षा लेकर उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहने में क्या बाधा है? अर्थात् कोई बाधा नहीं है।

शङ्का—यदि ऐसा माना जाय तो इन्द्रियजन्य ज्ञान अप्रत्यक्ष कहलायेगा?

समाधान—हमें खेद है कि आप भूल जाते हैं। हम कह आये हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान उपचार से प्रत्यक्ष है। अतः वह वस्तुतः अप्रत्यक्ष हो, इसमें हमारी कोई हानि नहीं है।

इस उपर्युक्त विवेचन से 'इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञानको परोक्ष' कहनेकी मान्यता का भी खण्डन हो जाता है। क्योंकि अविशदता (अस्पष्टता) को ही परोक्ष का लक्षण माना गया है। तात्पर्य यह

---

१ व्युत्पत्तिनिमित्त से प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न हुआ करता है। जैसे गोशब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त 'गच्छतीति गौः' जो गमन करे वह गौ है, इस प्रकार 'गमनक्रिया' है और प्रवृत्तिनिमित्त 'गोत्व' है। यदि व्युत्पत्तिनिमित्त (गमनक्रिया) को ही प्रवृत्तिमें निमित्त माना जाय तो बैठी या खड़ी गाय में गोशब्दकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती और गमन कर रहे मनुष्यादिमें भी गोशब्दकी प्रवृत्ति का प्रसङ्ग आयेगा। अतः गोशब्दकी प्रवृत्ति में निमित्त व्युत्पत्तिनिमित्तसे भिन्न 'गोत्व' है। उसी प्रकार प्रकृत में प्रत्यक्ष शब्दकी प्रवृत्तिमें व्युत्पत्तिनिमित्त 'अक्षाश्रितत्व' से भिन्न 'स्पटत्व' है। अतः अवधि आदि तीनों ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहनेमें कोई बाधा नहीं है।

कि जिस प्रकार इन्द्रियसापेक्षता प्रत्यक्षता में प्रयोजक नहीं है। उसी प्रकार इन्द्रियनिरपेक्षता परोक्षता में भी प्रयोजक नहीं है। किन्तु प्रत्यक्षता में स्पष्टताकी तरह परोक्षता में अस्पष्टता कारण है।

शङ्का—'अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है' यह कहना बड़े साहस की बात है; क्योंकि वह असम्भव है। यदि असम्भव की भी कल्पना करें तो आकाश के फूल आदि की भी कल्पना होनी चाहिए?

समाधान—नहीं; आकाश के फूल आदि अप्रसिद्ध हैं। परन्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। वह इस प्रकार से है—'केवलज्ञान' जो कि अतीन्द्रिय है, अल्पज्ञानी कपिल आदि के असम्भव होने पर भी अरहन्तके अवश्य सम्भव है; क्योंकि अरहन्त भगवान् सर्वज्ञ हैं।

प्रसङ्गवश शङ्का-समाधान पूर्वक सर्वज्ञ की सिद्धि—

शङ्का—सर्वज्ञता ही जब अप्रसिद्ध है तब आप यह कैसे कहते हैं कि 'अर्हन्त भगवान् सर्वज्ञ हैं'? क्योंकि जो सामान्यतया कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है उसका किसी खास जगह में व्यवस्थापन नहीं हो सकता है?

समाधान—नहीं; सर्वज्ञता अनुमान से सिद्ध है। वह अनुमान इस प्रकार है—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि अनुमान से जाने जाते हैं। जैसे अग्नि आदि पदार्थ। स्वामी समन्तभद्र ने भी महाभाष्य[1] के प्रारम्भ में आप्तमी-

१ महाभाष्यसे सम्भवतः ग्रन्थकार का आशय गन्धहस्तिमहाभाष्य से जान पड़ता हैं क्योंकि अनुश्रुति ऐसी है कि स्वामी समन्तभद्रने 'तत्त्वार्थ-सूत्र' पर 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' नामकी कोई बृहद् टीका लिखी है और आप्तमीमांसा जिसका आदिम प्रकरण है। पर उसके अस्तित्वमें विद्वानोंका मतभेद है। इसका कुछ विचार प्रस्तावनामें किया है। पाठक वहाँ देखें।

मांसा प्रकरण में कहा है—"सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमानसे जाने जाते हैं। जैसे अग्नि आदि। इस अनुमान से सर्वज्ञ भले प्रकार सिद्ध होता है।"

सूक्ष्म पदार्थ वे हैं जो स्वभाव से विप्रकृष्ट हैं—दूर हैं, जैसे परमाणु आदि। अन्तरित्त वे हैं जो काल से विप्रकृष्ट हैं, जैसे राम आदि। दूर वे हैं जो देश से विप्रकृष्ट हैं, जैसे मेरु आदि। ये 'स्वभाव, काल और देश से विप्रकृष्ट पदार्थ' यहाँ धर्मी (पक्ष) हैं। 'किसी के प्रत्यक्ष हैं' यह साध्य है। यहाँ 'प्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ 'प्रत्यक्षज्ञान के विषय' यह विवक्षित है, क्योंकि विषयी (ज्ञान) के धर्म (जानना) का विषय में भी उपचार होता है। 'अनुमान से जाने जाते हैं' यह हेतु है। 'अग्नि आदि' दृष्टान्त है। 'अग्नि आदि' दृष्टान्त में 'अनुमान से जाने जाते हैं' यह हेतु 'किसी के प्रत्यक्ष' हैं' इस साध्य के साथ पाया जाता है। अतः वह परमाणु वगैरह सूक्ष्मादि पदार्थों में भी किसी की प्रत्यक्षता को अवश्य सिद्ध करता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार अग्नि आदि अनुमान से जाने जाते हैं। अतएव वे किसी के प्रत्यक्ष भी होते हैं। उसी प्रकार सुक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ चूँकि हम लोगों के द्वारा अनुमान से जाने जाते हैं अतएव वे किसी के प्रत्यक्ष भी हैं और जिसके प्रत्यक्ष हैं वही सर्वज्ञ है। परमाणु आदि में 'अनुमान से जाने जाते हैं' यह हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि उनको अनुमान से जानने में किसी को विवाद नहीं है। अर्थात्—सभी मतवाले इन पदार्थों को अनुमेय मानते हैं।

शङ्का—सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष सिद्ध करने के द्वारा किसी के सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्षज्ञान हो, यह हम मान सकते हैं। परन्तु वह अतीन्द्रिय है—इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखता है, यह कैसे ?

समाधान—इस प्रकार से—यदि वह ज्ञान इन्द्रियजन्य हो तो

सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला नहीं हो सकता है; क्योंकि इन्द्रियाँ अपने योग्य विषय[1] (सन्निहित और वर्तमान अर्थ) में ही ज्ञान को उत्पन्न कर सकती हैं। और सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियों के योग्य विषय नहीं हैं। अतः वह सम्पूर्ण पदार्थ विषयक ज्ञान अनैन्द्रियिक ही है—इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित अतीन्द्रिय है, यह बात सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार से सर्वज्ञ के मानने में किसी भी सर्वज्ञवादी को विवाद नहीं है। जैसा कि दूसरे भी कहते हैं—"पुण्य-पापादिक किसी के प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि वे प्रमेय हैं।"

सामान्य से सर्वज्ञ को सिद्ध करके अर्हन्त के सर्वज्ञता की सिद्धि—

शङ्का—सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने वाला अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान सामान्यतया सिद्ध हो; परन्तु वह अरहन्त के है यह कैसे? क्योंकि 'किसी के' यह सर्वनाम शब्द है और सर्वनाम शब्द सामान्य का ज्ञापक होता है?

समाधान—सत्य है। इस अनुमान से सामान्य सर्वज्ञ की सिद्धि की है। 'अरहन्त सर्वज्ञ हैं' यह हम अन्य अनुमान से सिद्ध करते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है—'अरहन्त सर्वज्ञ होने के योग्य हैं, क्योंकि वे निर्दोष हैं, जो सर्वज्ञ नहीं है वह निर्दोष नहीं है, जैसे रथ्यापुरुष (पागल)।' यह केवलव्यतिरेकी हेतु जन्य अनुमान है।

आवरण और रागादि ये दोष हैं और इनसे रहित का नाम निर्दोषता है। वह निर्दोषता सर्वज्ञता के बिना नहीं हो सकती है। क्योंकि जो किञ्चिज्ज्ञ है—अल्पज्ञानी है उसके आवरणादि दोषों का अभाव नहीं है। अतः अरहन्त में रहने वाली यह निर्दोषता उनमें

---

१ 'सम्बद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना'—मी०श्लो०सूत्र ४ श्लोक ८४।

सर्वज्ञता को अवश्य सिद्ध करती है। और यह निर्दोषता अरहन्त परमेष्ठी में उनके युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन होने से सिद्ध होती है। युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन भी उनके द्वारा माने गये मुक्ति, संसार और मुक्ति तथा संसार के कारण तत्त्व और अनेकधर्मयुक्त चेतन तथा अचेतन तत्त्व के प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित न होने से अच्छी तरह सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि अरहन्त के द्वारा उपदेशित तत्त्वों में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से कोई बाधा नहीं आती है। अतः वे यथार्थवक्ता हैं। और यथार्थवक्ता होने से निर्दोष हैं। तथा निर्दोष होने से सर्वज्ञ हैं।

शङ्का—इस प्रकार अरहन्त के सर्वज्ञता सिद्ध हो जाने पर भी वह अरहन्त के ही हैं, यह कैसे ? क्योंकि कपिल आदि के भी वह सम्भव है ?

समाधान—कपिल आदि सर्वज्ञ नहीं हैं; क्योंकि वे सदोष हैं। और सदोष इसलिए हैं कि वे युक्ति और शास्त्र से विरोधी कथन करने वाले हैं। युक्ति और शास्त्र से विरोधी कथन करने वाले भी इस कारण हैं कि उनके द्वारा माने गये मुक्ति आदिक तत्त्व और सर्वथा एकान्त तत्त्व प्रमाण से बाधित हैं। अतः वे सर्वज्ञ नहीं हैं। अरहन्त ही सर्वज्ञ हैं। स्वामी समन्तभद्र ने ही कहा है—"हे अर्हन्! वह सर्वज्ञ आप ही हैं, क्योंकि आप निर्दोष हैं। निर्दोष इसलिये हैं कि युक्ति और आगम से आपके वचन अविरुद्ध हैं—युक्ति तथा आगम से उनमें कोई विरोध नहीं आता। और वचनों में विरोध इस कारण नहीं है कि आपका इष्ट (मुक्ति आदि तत्त्व) प्रमाण से बाधित नहीं है। किन्तु तुम्हारे अनेकान्त मतरूप अमृत का पान नहीं करने वाले तथा सर्वथा एकान्त तत्त्व का कथन करने वाले और अपने को आप्त समझने के अभिमान से दग्ध हुए एकान्तवादियों का इष्ट (अभिमत तत्त्व) प्रत्यक्ष से बाधित है।"

इस तरह इन दो कारिकाओं के द्वारा पराभिमत तत्त्व में बाधा और स्वाभिमत तत्त्व में अबाधा इन्हीं दो के समर्थन को लेकर 'भावैकान्ते' इस कारिका के द्वारा प्रारम्भ करके 'स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः' इस कारिका तक आप्तमीमांसा की रचना की गई है। अर्थात्— अपने द्वारा माने गये तत्त्व में कैसे बाधा नहीं है? और एकान्तवादियों के द्वारा माने तत्त्व में किस प्रकार बाधा है? इन दोनों का विस्तृत विवेचन स्वामी समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' में 'भावैकान्ते' इस कारिका ९ से लेकर 'स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः' इस कारिका ११२ तक किया है। अतः यहाँ और अधिक विस्तार नहीं किया जाता।

इस प्रकार अतीन्द्रिय केवलज्ञान अरहन्त के ही है, यह सिद्ध हो गया। और उनके वचनों के प्रमाण होने से उनके द्वारा प्रतिपादित अतीन्द्रिय अवधि और मनःपर्ययज्ञान भी सिद्ध हो गये। इस तरह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष निर्दोष (निर्बाध) है—उसके मानने में कोई दोष या बाधा नहीं है। अतः प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ये दो भेद सिद्ध हुये।

इस प्रकार श्रीजैनाचार्य धर्मभूषण यति विरचित न्यायदीपिकामें
प्रत्यक्ष प्रमाणका प्रकाश करनेवाला पहला प्रकाश
पूर्ण हुआ।

—o—

तीसरा प्रकाश

दूसरे प्रकाश में प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण करके इस प्रकाश में परोक्ष प्रमाण का निरूपण प्रारम्भ किया जाता है।

परोक्ष प्रमाण का लक्षण—

अविशद प्रतिभास को परोक्ष कहते हैं। यहाँ 'परोक्ष' लक्ष्य है, 'अविशदप्रतिभासत्व' लक्षण है। तात्पर्य यह कि जिस ज्ञान का प्रतिभास विशद—स्पष्ट नहीं है वह परोक्ष प्रमाण है। विशदता का लक्षण पहले बतला आये हैं, उससे भिन्न अविशदता है। उसी को अस्पष्टता कहते हैं। यह अविशदता भी विशदता की तरह अनुभव से जानी जाती है।

'जो ज्ञान केवल सामान्य को विषय करे वह परोक्ष है' ऐसा कोई (बौद्ध) परोक्ष का लक्षण करते हैं। परन्तु वह ठीक नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष भी सामान्य और विशेषरूप वस्तु को विषय करता है। और इसलिये वह लक्षण असम्भव दोष युक्त है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष घटादि पदार्थों में प्रवृत्त होकर उनके घटत्वादिक सामान्याकार को और घट व्यक्तिरूप व्यवच्छेदात्मक विशेषाकारको एक साथ ही विषय करता हुआ उपलब्ध होता है उसी प्रकार परोक्ष भी सामान्य और विशेष दोनों आकारों को विषय करता हुआ उपलब्ध होता है। इस कारण 'केवल सामान्य को विषय करना' परोक्ष का लक्षण नहीं है, अपि तु अविशदता ही परोक्ष का लक्षण है। सामान्य और विशेष में से किसी एक को विषय करने वाला मानने पर तो प्रमाणता ही नहीं बन सकती है। क्योंकि सभी प्रमाण सामान्य और विशेष दोनों स्वरूप वस्तु को विषय करने वाले माने गये हैं। कहा भी है—"सामान्य और विशेष-

रूप वस्तु प्रमाणका विषय है।" अतः अविशद (अस्पष्ट) प्रतिभास को जो परोक्ष का लक्षण कहा है वह बिलकुल ठीक है।

परोक्ष प्रमाण के भेद और उनमें ज्ञानान्तर की सापेक्षता का कथन—

उस परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं—१ स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क, ४ अनुमान और ५ आगम। ये पाँचों ही परोक्ष प्रमाण ज्ञानान्तर की अपेक्षा से उत्पन्न होते हैं। स्मरण में पूर्व अनुभव की अपेक्षा होती है, प्रत्यभिज्ञान में स्मरण और अनुभव की, तर्क में अनुभव, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान की, अनुमान में लिङ्गदर्शन, व्याप्ति स्मरण आदि की और आगम में शब्दश्रवण, सङ्केतग्रहण (इस शब्द का यह अर्थ है, इस प्रकार के संकेत के ग्रहण) आदि की अपेक्षा होती है। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण में ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं होती, वह स्वतन्त्र रूप से—ज्ञानान्तर निरपेक्ष ही उत्पन्न होता है। स्मरण आदि की यह ज्ञानान्तरापेक्षा उनके अपने अपने निरूपण के समय बतलायी जायगी।

प्रथमतः उद्दिष्ट स्मृति का निरूपण—

स्मृति किसे कहते हैं? 'वह' इस प्रकार से उल्लिखित होने वाले और पहले अनुभव किये हुये पदार्थ को विषय करने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं। जैसे 'वह देवदत्त'। यहाँ पहले अनुभव किया हुआ ही देवदत्त 'वह' शब्द के द्वारा जाना जाता है। इसलिये यह ज्ञान 'वह' शब्द से उल्लिखित होने वाला और अनुभूत पदार्थ को विषय करने वाला है। जिसका अनुभव नहीं किया उसमें यह ज्ञान नहीं होता। इस ज्ञान का जनक अनुभव है और वह अनुभव धारणारूप ही कारण होता है; क्योंकि पदार्थ में अवग्रहादिक ज्ञान हो जाने पर भी धारणा के अभाव में स्मृति उत्पन्न नहीं होती। कारण, धारणा

आत्मा में उस प्रकार का संस्कार पैदा करती है, जिससे वह कालान्तर में भी उस अनुभूत विषय का स्मरण करा देती है। इसलिये धारणाके विषय में उत्पन्न हुआ 'वह' शब्द से उल्लिखित होने वाला यह ज्ञान स्मृति है, यह सिद्ध होता है।

शङ्का—यदि धारणा के द्वारा ग्रहण किये विषय में ही स्मरण उत्पन्न होता है तो गृहीतग्राही होने से उसके अप्रमाणता का प्रसङ्ग आता है ?

समाधान—नहीं; ईहा आदि क की तरह स्मरणमें भी विषयभेद मौजूद है। जिस प्रकार अवग्रहादिक के द्वारा ग्रहण किये हुए अर्थ को विषय करने वाले ईहादिक ज्ञानों में विषयभेद होने से अपने विषय-सम्बन्धी संशयादिरूप समारोप को दूर करने के कारण प्रमाणता है उसी प्रकार स्मरण में भी धारणा के द्वारा ग्रहण किये गये विषय में प्रवृत्त होने पर भी प्रमाणता ही है। कारण, धारणा का विषय इदन्ता से युक्त अर्थात् 'यह' है—'यह' शब्द के प्रयोग पूर्वक उल्लिखित होता है और स्मरण का तत्ता से युक्त अर्थात् 'वह' है—'वह' शब्द के द्वारा निर्दिष्ट होता है। तात्पर्य यह है कि धारणा का विषय तो वर्त्तमान कालीन है और स्मरण का विषय भूतकालीन है। अतः स्मरण अपने विषय में उत्पन्न हुये अस्मरण आदि समारोपको दूर करने के कारण प्रमाण ही है—अप्रमाण नहीं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में भी कहा है—"विस्मरण, संशय और विपर्ययरूप समारोप है और उस समारोप को दूर करने से यह स्मृति प्रमाण है।"

'स्मरण अनुभूत विषय में प्रवृत्त होता है' इतने से यदि वह अप्रमाण हो तो अनुमान से जानी हुई अग्नि को जानने के लिये पीछे प्रवृत्त हुआ प्रत्यक्ष भी अप्रमाण ठहरेगा। अतः स्मरण किसी भी प्रकार अप्रमाण सिद्ध नहीं होता।

प्रत्यक्षादिककी तरह स्मृति अविसंवादी है—विसंवाद रहित है, इसलिए भी वह प्रमाण है। क्योंकि स्मरण करके यथास्थान रक्खी हुई वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को स्मरण के विषय (पदार्थ) में विसंवाद—भूल जाना या अन्यत्र प्रवृत्ति करना नहीं होता। जहाँ विसंवाद होता है वह प्रत्यक्षाभास की तरह स्मरणाभास है। उसे हम प्रमाण नहीं मानते। इस तरह स्मरण नामका पृथक् प्रमाण है, यह सिद्ध हुआ।

प्रत्यभिज्ञान का लक्षण और उसके भेदों का निरूपण—

अनुभव और स्मरणपूर्वक होने वाले जोड़रूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। 'यह' का उल्लेख करने वाला ज्ञान अनुभव है और 'वह' का उल्लेखी ज्ञान स्मरण है। इन दोनों से पैदा होने वाला तथा पूर्व और उत्तर अवस्थाओं में वर्त्तमान एकत्व, सादृश्य और वैलक्षण्य आदि को विषय करने वाला जो जोड़रूप ज्ञान होता है वह प्रत्यभिज्ञान है, ऐसा समझना चाहिए। जैसे वही यह जिनदत्त है, गौ के समान गवय (जङ्गली पशुविशेष) होता है, गाय से भिन्न भैंसा होता है, इत्यादिक प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण हैं।

यहाँ पहले उदाहरण में, जिनदत्त की पूर्व और उत्तर अवस्थाओंमें रहने वाली एकता प्रत्यभिज्ञान का विषय है। इसीको एकत्व-प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। दूसरे उदाहरण में, पहले अनुभव की हुई गाय को लेकर गवय में रहने वाली सदृशता प्रत्यभिज्ञान का विषय है। इस प्रकार के ज्ञान को सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते है। तीसरे उदाहरण में, पहले अनुभव की हुई गाय को लेकर भैंसा में रहने वाली विसदृशता प्रत्यभिज्ञान का विषय है। इस तरह का ज्ञान वैसादृश्य-प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। इसी प्रकार और भी प्रत्यभिज्ञान के भेद अपने अनुभव से स्वयं विचार लेना चाहिये। इन सभी प्रत्य-

भिज्ञानों में अनुभव और स्मरण की अपेक्षा होने से उन्हें अनुभव और स्मरणहेतुक माना जाता है।

किन्हीं का कहना है कि अनुभव और स्मरण से भिन्न प्रत्यभिज्ञान नहीं है। (क्योंकि पूर्व और उत्तर अवस्थाओं को विषय करने वाला एक ज्ञान नहीं हो सकता है। कारण, विषय भिन्न है। दूसरी बात यह है कि 'वह' इस प्रकार से जो ज्ञान होता है वह तो परोक्ष है और 'यह' इस प्रकार से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है—इसलिये भी प्रत्यक्ष और परोक्षरूप एक ज्ञान नहीं हो सकता है, किन्तु वे अनुभव और स्मरणरूप दो ज्ञान हैं।) यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अनुभव तो वर्त्तमानकालीन पर्याय को ही विषय करता है और स्मरण भूतकालीन पर्याय का द्योतन करता है। इसलिये वे दोनों अतीत और वर्त्तमान पर्यायों में रहने वाली एकता, सदृशता आदि को कैसे विषय कर सकते हैं? अर्थात्—नहीं कर सकते है। अतः स्मरण और अनुभव से भिन्न उनके बाद में होने वाला तथा उन एकता, सदृशता आदि को विषय करने वाला जो जोड़रूप ज्ञान होता है वही प्रत्यभिज्ञान है।

अन्य (दूसरे वैशेषिकादि) एकत्वप्रत्यभिज्ञान को स्वीकार करके भी उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव कल्पित करते हैं। वह इस प्रकार से है—जो इन्द्रियों के साथ अन्वय और व्यतिरेक रखता है वह प्रत्यक्ष है। अर्थात्—जो इन्द्रियों के होने पर होता है और उनके अभाव में नहीं होता वह प्रत्यक्ष है, यह प्रसिद्ध है। और इन्द्रियों का अन्वय तथा व्यतिरेक रखने वाला यह प्रत्यभिज्ञान है, इस कारण वह प्रत्यक्ष है। उनका भी यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि इन्द्रियाँ वर्त्तमान पर्याय मात्र के विषय करने में ही उपक्षीण (चरितार्थ) हो जाने से वर्त्तमान और अतीत अवस्थाओं में रहने वाले

एकत्वको विषय नहीं कर सकती हैं। इन्द्रियों की अविषय में प्रवृत्ति मानना योग्य नहीं है। अन्यथा चक्षु के द्वारा रसादि का भी ज्ञान होने का प्रसङ्ग आवेगा।

शङ्का—यह ठीक है कि इन्द्रियाँ वर्त्तमान पर्याय मात्र को ही विषय करती हैं तथापि वे सहकारियों की सहायता से वर्त्तमान और अतीत अवस्थाओं में रहने वाले एकत्व में भी ज्ञान करा सकती हैं। जिस प्रकार अञ्जन के संस्कार से चक्षु व्यवधान प्राप्त (ढके हुये) पदार्थ को भी जान लेती है। यद्यपि चक्षु के व्यवहित पदार्थ को जानने की सामर्थ्य (शक्ति) नहीं है। परन्तु अञ्जन संस्कार की सहायता से वह उसमें देखी जाती है। उसी प्रकार स्मरण आदि की सहायता ले इन्द्रियाँ ही दोनों अवस्थाओं में रहने वाले एकत्व को जान लेंगी। अतः उसको जानने के लिए एकत्वप्रत्यभिज्ञान नाम के प्रमाणान्तर की कल्पना करना अनावश्यक है ?

समाधान—यह कहना भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि हजार सहकारियों के मिल जाने पर भी अविषय में—जिसका जो विषय नहीं है, उसकी उसमें—प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। चक्षु के अञ्जन संस्कार आदि सहायक उसके अपने विषय रूपादि में ही उसको प्रवृत्त करा सकते हैं, रसादिक विषय में नहीं। और इन्द्रियों का अविषय है पूर्व तथा उत्तर अवस्थाओं में रहने वाला एकत्व। अतः उसे जानने के लिये पृथक् प्रमाण मानना ही होगा। सभी जगह विषय-भेद के द्वारा ही प्रमाण के भेद स्वीकार किये गये हैं।

दूसरी बात यह है कि 'वही यह है' यह ज्ञान अस्पष्ट ही है—स्पष्ट नहीं है। इसलिए भी उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। और यह निश्चय ही जानना चाहिये कि चक्षु आदिक इन्द्रियों में एकत्वज्ञान उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है।

अन्यथा लिङ्गदर्शन (धूमादि का देखना) और व्याप्ति के स्मरण आदि की सहायता से चक्षुरादिक इन्द्रियाँ ही अग्नि आदिक लिङ्गि (साध्य) का ज्ञान उत्पन्न कर दें। इस तरह अनुमान भी पृथक् प्रमाण न हो। यदि कहा जाय, कि चक्षुरादिक इन्द्रियाँ तो अपने विषय धूमादि के देखने मात्र में ही चरितार्थ हो जाती हैं, वे अग्नि आदि परोक्ष अर्थ में प्रवृत्त नहीं हो सकतीं, अतः अग्नि आदि परोक्ष अर्थों का ज्ञान करने के लिये अनुमान प्रमाण को पृथक् मानना आवश्यक है, तो प्रत्यभिज्ञान ने क्या अपराध किया? एकत्व को विषय करने के लिए उसको भी पृथक् मानना जरूरी है। अतः प्रत्यभिज्ञान नामका पृथक् प्रमाण है, यह स्थिर हुआ।

'सादृश्यप्रत्यभिज्ञान उपमान नाम का पृथक् प्रमाण है' ऐसा किन्हीं (नैयायिक और मीमांसकों) का कहना है। पर वह ठीक नहीं है; क्योंकि स्मरण और अनुभवपूर्वक जोड़रूप ज्ञान होने से उसमें प्रत्यभिज्ञानता (प्रत्यभिज्ञानपना) का उलंघन नहीं होता—वह उसमें रहती है। अतः वह प्रत्यभिज्ञान ही है। अन्यथा (यदि सादृश्य-विषयक ज्ञानको उपमान नाम का पृथक् प्रमाण माना जाय तो) 'गाय से भिन्न भैंसा है' इत्यादि विसदृशता को विषय करने वाले वैसादृश्यज्ञान को और 'यह इससे दूर है' इत्यादि आपेक्षिक ज्ञान को भी पृथक् प्रमाण होना चाहिए। अतः जिस प्रकार वैसादृश्यादि-ज्ञानों में प्रत्यभिज्ञान का लक्षण पाया जाने से वे प्रत्यभिज्ञान हैं उसी प्रकार सादृश्यविषयक ज्ञान में भी प्रत्यभिज्ञान का लक्षण पाया जाने से वह प्रत्यभिज्ञान ही है—उपमान नहीं। यही प्रामाणिक परम्परा है।

तर्क प्रमाण का निरूपण—

प्रत्यभिज्ञान प्रमाण हो। तर्क का क्या स्वरूप है? व्याप्ति के

ज्ञानको तर्क कहते है। साध्य और साधन में गम्य और गमक (बोध्य और बोधक) भाव का साधक और व्यभिचार की गन्ध से रहित जो सम्बन्धविशेष है उसे व्याप्ति कहते हैं। उसी को अविनाभाव भी कहते हैं। उस व्याप्ति के होने से अग्न्यादिक को धूमादिक ही जनाते हैं, घटादिक नहीं। क्योंकि घटादिक की अग्न्यादिक के साथ व्याप्ति (अविनाभाव) नहीं है। इस अविनाभावरूप व्याप्ति के ज्ञान में जो साधकतम है वह यह तर्क नाम का प्रमाण है। श्लोकवार्त्तिक भाष्य में भी कहा है—"साध्य और साधन के सम्बन्धविषयक अज्ञान को दूर करने रूप फल में जो साधकतम है वह तर्क है।" 'ऊहा' भी तर्क का ही दूसरा नाम है। वह तर्क उक्त व्याप्तिको सर्वदेश और सर्वकाल की अपेक्षा से विषय करता है।

शङ्का—इस तर्क का उदाहरण क्या है ?

समाधान—'जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है' यह तर्क का उदाहरण है। यहाँ धूम के होने पर अनेक बार अग्नि की उपलब्धि और अग्नि के अभाव में धूम की अनुपलब्धि पाई जाने पर 'सब जगह और सब काल में धुआँ अग्नि का व्यभिचारी नहीं है—अग्नि के होने पर ही होता है और अग्नि के अभाव में नहीं होता' इस प्रकार का जो सर्वदेश और सर्वकालरूप से अविनाभाव को ग्रहण करने वाला बाद में ज्ञान उत्पन्न होता है वह तर्क नाम का प्रत्यक्षादिक से भिन्न ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष निकटवर्ती ही धूम और अग्नि के सम्बन्ध का ज्ञान कराता है, अतः वह व्याप्ति का ज्ञान नहीं करा सकता। कारण, व्याप्ति सर्वदेश और सर्वकाल को लेकर होती है।

शङ्का—यद्यपि प्रत्यक्षसामान्य (साधारण प्रत्यक्ष) व्याप्ति को विषय करने में समर्थ नहीं है तथापि विशेष प्रत्यक्ष उसको विषय

करने में समर्थ है ही। वह इस प्रकार से—रसोईशाला आदि में धूम और अग्नि को सबसे पहले देखा, यह एक प्रत्यक्ष हुआ। इसके बाद अनेकों बार और कई प्रत्यक्ष हुये; पर वे सब प्रत्यक्ष व्याप्ति को विषय करने में समर्थ नहीं हैं। लेकिन पहले पहले के अनुभव किये धूम और अग्नि का स्मरण तथा तत्सजातीय के अनुसन्धानरूप प्रत्यभिज्ञान से सहित होकर कोई प्रत्यक्ष-विशेष सर्वदेश-काल को भी लेकर होने वाली व्याप्ति को ग्रहण कर सकता है। और इसलिये स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञान से सहित प्रत्यक्ष-विशेष ही जब व्याप्ति को विषय करने में समर्थ है, तब तर्क नामके पृथक् प्रमाण के मानने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—ऐसा कथन उनकी न्याय-मार्ग की अनभिज्ञता को प्रकट करता है; क्योंकि 'हजार सहकारियों के मिल जाने पर भी अविषय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है' यह हम पहले कह आये हैं। इस कारण प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण बतलाना सङ्गत नहीं है। किन्तु यह सङ्गत प्रतीत होता है कि स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और अनेकों बार का हुआ प्रत्यक्ष ये तीनों मिल कर एक वैसे ज्ञान को उत्पन्न करते हैं जो व्याप्ति के ग्रहण करने में समर्थ है और वही तर्क है। अनुमान आदि के द्वारा तो व्याप्ति का ग्रहण होना सम्भव ही नहीं है। तात्पर्य यह कि अनुमान से यदि व्याप्ति का ग्रहण माना जाय तो यहाँ दो विकल्प उठते हैं—जिस अनुमान की व्याप्ति का ग्रहण करना है उसी अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण होता है या अन्य दूसरे अनुमान से? पहले विकल्प में अन्योन्याश्रय दोष आता है, क्योंकि व्याप्ति का ज्ञान जब हो जाय, तब अनुमान अपना स्वरूप लाभ करे और अनुमान जब स्वरूप लाभ कर ले, तब व्याप्तिका ज्ञान हो, इस तरह दोनों परस्परापेक्ष हैं। अन्य दूसरे अनुमान से

व्याप्ति का ज्ञान मानने पर अनवस्था दोष आता है, क्योंकि दूसरे अनुमान की व्याप्ति का ज्ञान अन्य तृतीय अनुमान से मानना होगा, तृतीय अनुमान की व्याप्ति का ज्ञान अन्य चौथे अनुमान से माना जायगा, इस तरह कहीं भी व्यवस्था न होने से अनवस्था नाम का दोष प्रसक्त होता है। इसलिए अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है। और न आगमादिक प्रमाणों से भी सम्भव है, क्योंकि उन सबका विषय भिन्न भिन्न है। और विषयभेद से प्रमाणभेद की व्यवस्था होती है। अतः व्याप्ति को ग्रहण करने के लिए तर्क प्रमाण का मानना आवश्यक है।

'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अनन्तर जो विकल्प पैदा होता है वह व्याप्ति को ग्रहण करता है' ऐसा बौद्ध मानते हैं; उनसे हम पूछते हैं कि वह विकल्प अप्रमाण है अथवा प्रमाण? यदि अप्रमाण है, तो उसके द्वारा गृहीत व्याप्ति में प्रमाणता कैसे? और यदि प्रमाण है, तो वह प्रत्यक्ष है अथवा अनुमान? प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता; क्योंकि वह अस्पष्टज्ञान है और अनुमान भी नहीं हो सकता; कारण, उसमें लिङ्गदर्शन आदि की अपेक्षा नहीं होती। यदि इन दोनों से भिन्न ही कोई प्रमाण है, तो वही तो तर्क है। इस प्रकार तर्क नाम के प्रमाण का निर्णय हुआ।

अनुमान प्रमाण का निरूपण—

अब अनुमान का वर्णन करते हैं। साधन से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं। यहाँ 'अनुमान' यह लक्ष्य-निर्देश है और 'साधन से साध्य का ज्ञान होना' यह उसके लक्षण का कथन है। तात्पर्य यह कि साधन—धूमादि लिङ्ग से साध्य—अग्नि आदिक लिङ्गी में जो ज्ञान होता है वह अनुमान है। क्योंकि वह साध्य-ज्ञान ही अग्नि आदि के अज्ञान को दूर करता है। साधनज्ञान अनुमान

नहीं है, क्योंकि वह तो साधन सम्बन्धी अज्ञान के ही दूर करने में चरितार्थ हो जाने से साध्य सम्बन्धी अज्ञान को दूर नहीं कर सकता है। अतः नैयायिकों ने अनुमान का जो लक्षण कहा है कि "लिङ्गज्ञान अनुमान है" वह सङ्गत नहीं है। हम तो स्मरण आदि की उत्पत्ति में अनुभव आदि की तरह व्याप्ति स्मरण से सहित लिङ्गज्ञान को अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में कारण मानते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है—जिस प्रकार धारणा नाम का अनुभव स्मरण में कारण होता है, तात्कालिक अनुभव तथा स्मरण प्रत्यभिज्ञान में और साध्य तथा साधनविषयक स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और अनुभव तर्क में कारण होते हैं उसी प्रकार व्याप्तिस्मरण आदि से सहित होकर लिङ्गज्ञान अनुमान की उत्पत्ति में कारण होता है—वह स्वयं अनुमान नहीं है। यह कथन सुसङ्गत ही है।

शङ्का—आपके मतमें—जैनदर्शनमें साधनको ही अनुमानमें कारण माना है, साधन के ज्ञान को नहीं, क्योंकि "साधन से साध्य के ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं।" ऐसा पहले कहा गया है ?

समाधान—नहीं; 'साधन से' इस पद का अर्थ 'निश्चय पथ प्राप्त धूमादिक से' यह विवक्षित है। क्योंकि जिस धूमादिक साधन का निश्चय नहीं हुआ है। अर्थात्—जिसे जाना नहीं है वह साधन ही नहीं हो सकता है। इसी बात को तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक में कहा है—"साधन से साध्य के ज्ञान होने को विद्वानों ने अनुमान कहा है।" इस वार्तिक का अर्थ यह है कि साधन से—अर्थात् जाने हुए धूमादिक लिङ्ग से साध्य में अर्थात्—अग्नि आदिक लिङ्गी में जो ज्ञान होता है वह अनुमान है। क्योंकि जिस धूमादिक लिङ्ग को नहीं जाना है उसको साध्य के ज्ञान में कारण मानने पर सोये हुये अथवा जिन्होंने धूमादिक लिङ्ग को ग्रहण नहीं किया उनको भी

अग्नि आदि का ज्ञान हो जावेगा। इस कारण जाने हुये साधन से होने वाला साध्य का ज्ञान ही साध्यविषयक अज्ञान को दूर करने से अनुमान है, लिङ्गज्ञानादिक नहीं। ऐसा अकलङ्कादि प्रामाणिक विद्वान कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञायमान साधन को अनुमान में कारण प्रतिपादन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन में साधन को अनुमान में कारण नहीं माना, अपितु साधनज्ञान को ही कारण माना है।

साधन का लक्षण—

वह साधन क्या है, जिससे होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा है? अर्थात्—साधन क्या लक्षण है? इसका उत्तर यह है—जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) निश्चित है उसे साधन कहते हैं। तात्पर्य यह कि जिसकी साध्य के अभाव में नहीं होने रूप व्याप्ति, अविनाभाव आदि नामों वाली साध्यान्यथानुपपत्ति—साध्य के होने पर ही होना और साध्य के अभाव में नहीं होना—तर्क नाम के प्रमाण द्वारा निर्णीत है वह साधन है। श्री कुमारनन्दी भट्टारक ने भी कहा है—"अन्यथानुपपत्तिमात्र जिसका लक्षण है उसे लिङ्ग कहा गया है।"

साध्य का लक्षण—

वह साध्य क्या है, जिसके अविनाभाव को साधन का लक्षण प्रतिपादन किया है।? अर्थात्—साध्य का क्या स्वरूप है? सुनिये—शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध को साध्य कहते हैं। शक्य वह है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित न होने से सिद्ध किया जा सकता है। अभिप्रेत वह है जो वादी को सिद्ध करने के लिए अभिमत है—इष्ट है। और अप्रसिद्ध वह है जो सन्देहादिक से युक्त होने से अनिश्चित है, इस तरह जो शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध है वही साध्य है।

यदि अशक्य (बाधित) को साध्य माना जाय, तो अग्नि में अनुष्णता (उष्णता का अभाव) आदि भी साध्य हो जायगी। अनभिप्रेत को साध्य माना जाय, तो अतिप्रसङ्ग नामका दोष आवेगा। तथा प्रसिद्ध को साध्य माना जाय, तो अनुमान व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि साध्य की सिद्धि के लिये अनुमान किया जाता है और वह साध्य पहले से प्रसिद्ध है। अतः शक्यादिरूप ही साध्य है। न्यायविनिश्चय में भी कहा है :—

साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्।
साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः ॥१७२॥

इसका अर्थ यह है कि जो शक्य है, अभिप्रेत है और अप्रसिद्ध है वह साध्य है और जो इससे विपरीत है वह साध्याभास है। वह साध्याभास कौन है ? विरुद्धादिक हैं। प्रत्यक्षादि से बाधित को विरुद्ध कहते हैं। 'आदि' शब्द से अनभिप्रेत और प्रसिद्ध का ग्रहण करना चाहिए। ये तीनों साध्याभास क्यों हैं ? क्योंकि ये तीनों ही साधन के विषय नहीं हैं। अर्थात्—साधन के द्वारा ये विषय नहीं किये जाते हैं। इस प्रकार यह अकलङ्कदेव के अभिप्राय का संक्षेप है। उनके सम्पूर्ण अभिप्राय को तो स्याद्वादविद्यापति श्री वादिराज जानते हैं। अर्थात्—अकलङ्कदेव की उक्त कारिका का विशद एवं विस्तृत व्याख्यान श्री वादिराज ने न्यायविनिश्चय के व्याख्यानभूत अपने न्यायविनिश्चयविवरण में किया है। अतः अकलङ्कदेव के पूरे आशय को तो वे ही जानते हैं। यहाँ सिर्फ उनके अभिप्राय के अंशमात्र को दिया है। साधन और साध्य दोनों को लेकर श्लोकवार्त्तिक में भी कहा है—"जिसका अन्यथानुपपत्तिमात्र लक्षण है, अर्थात्—जो न त्रिलक्षणरूप है और न पञ्चलक्षणरूप है, केवल अविनाभावविशिष्ट है वह साधन है। तथा जो शक्य है, अभिप्रेत है

और अप्रसिद्ध है उसे साध्य कहा गया है।"

इस प्रकार अविनाभाव निश्चयरूप एक लक्षण वाले साधन से शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्धरूप साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं, यह सिद्ध हुआ।

वह अनुमान दो प्रकारका है—१ स्वार्थानुमान और २ परार्थानुमान। उनमें स्वयं ही जाने हुए साधन से साध्य के ज्ञान होने को स्वार्थानुमान कहते हैं। अर्थात्—दूसरे के उपदेश (प्रतिज्ञादि-वाक्यप्रयोग) की अपेक्षा न करके स्वयं ही निश्चित किये और पहले तर्क प्रमाण से जाने गये तथा व्याप्ति के स्मरण से सहित धूमादिक साधन से पर्वत आदिक धर्मों में अग्नि आदि साध्य का जो ज्ञान होता है वह स्वार्थानुमान है। जैसे—यह पर्वत अग्निवाला है; क्योंकि धूम पाया जाता है। यद्यपि स्वार्थानुमान ज्ञानरूप है तथापि समझाने के लिये उसका यह शब्द द्वारा उल्लेख किया गया है। जैसे 'यह घट है' इस शब्द के द्वारा प्रत्यक्ष का उल्लेख किया जाता है। 'पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूम पाया जाता है' इस प्रकार अनुमाता जानता है—अनुमिति करता है, इस तरह स्वार्थानुमान की स्थिति है। अर्थात्—स्वार्थानुमान इस प्रकार प्रवृत्त होता है, ऐसा समझना चाहिए।

स्वार्थानुमान के अङ्गों का कथन—

इस स्वार्थानुमान के तीन अङ्ग हैं—१ धर्मी, २ साध्य और ३ साधन। साधन साध्य का गमक (ज्ञापक) होता है, इसलिए वह गमकरूप से अङ्ग है। साध्य साधन के द्वारा गम्य होता है—जाना जाता है, इसलिए वह गम्यरूप से अङ्ग है। और धर्मी साध्य-धर्म का आधार होता है, इसलिए वह साध्यधर्म के आधार रूप से अङ्ग है। क्योंकि किसी आधारविशेष में साध्य की सिद्धि

करना अनुमान का प्रयोजन है। केवल धर्म की सिद्धि तो व्याप्ति-निश्चय के समय में ही हो जाती है। कारण, जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है' इस प्रकार की व्याप्ति के ग्रहण समय में साध्यधर्म—अग्नि ज्ञात हो ही जाती है। इसलिए केवल धर्म की सिद्धि करना अनुमान का प्रयोजन नहीं है। किन्तु 'पर्वत अग्नि-वाला है' अथवा 'रसोईशाला अग्निवाली है' इस प्रकार 'पर्वत' या 'रसोईशाला' में वृत्तिरूप से अग्नि का ज्ञान अनुमान से ही होता है। अतः आधारविशेष (पर्वतादिक) में रहने रूप से साध्य (अग्न्यादिक) की सिद्धि करना अनुमान का प्रयोजन है। इसलिए धर्मी भी स्वार्थानुमान का अङ्ग है।

अथवा स्वार्थानुमान के दो अङ्ग हैं—१ पक्ष और २ हेतु। क्योंकि साध्य-धर्म से युक्त धर्मी को पक्ष कहा गया है। इसलिए पक्ष के कहने से धर्म और धर्मी दोनों का ग्रहण हो जाता है। इस तरह स्वार्थानुमान के धर्मी, साध्य और साधन के भेद से तीन अङ्ग अथवा पक्ष और साधन के भेद से दो अङ्ग हैं, यह सिद्ध हो गया। यहाँ दोनों जगह विवक्षा का भेद है। जब स्वार्थानुमान के तीन अङ्ग कथन किये जाते हैं तब धर्मी और धर्म के भेद की विवक्षा है और जब दो अङ्ग कहे जाते हैं तब धर्मी और धर्म के समुदाय की विवक्षा है। तात्पर्य यह कि स्वार्थानुमान के तीन या दो अङ्गों के कहने में कुछ भी विरोध अथवा अर्थभेद नहीं है। केवल कथन का भेद है। उपर्युक्त यह धर्मी प्रसिद्ध ही होता है—अप्रसिद्ध नहीं। इसी बात को दूसरे विद्वानों ने कहा है—"प्रसिद्धो धर्मी" अर्थात्—धर्मी प्रसिद्ध होता है।

धर्मी की तीन प्रकार से प्रसिद्धि का निरूपण—

धर्मी की प्रसिद्धि कहीं तो प्रमाण से, कहीं विकल्प से और

कहीं प्रमाण तथा विकल्प दोनों से होती है। प्रत्यक्षादिक प्रमाणों में से किसी एक प्रमाण से धर्मी का निश्चय होना 'प्रमाणसिद्ध धर्मी' है। जिसकी प्रमाणता या अप्रमाणता का निश्चय नहीं हुआ है ऐसे ज्ञान से जहाँ धर्मी की सिद्धि होती है उसे 'विकल्पसिद्ध धर्मी' कहते हैं। और जहाँ प्रमाण तथा विकल्प दोनों से धर्मी का निर्णय किया जाता है वह 'प्रमाणविकल्पसिद्ध धर्मी' है।

प्रमाणसिद्ध धर्मी का उदाहरण—'धूम से अग्नि की सिद्धि करने में पर्वत' है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष से जाना जाता है।

विकल्पसिद्ध धर्मी का उदाहरण इस प्रकार है—'सर्वज्ञ है, क्योंकि उसके सद्भाव के बाधक प्रमाणों का अभाव अच्छी तरह निश्चित है, अर्थात्—उसके अस्तित्व का कोई बाधक प्रमाण नहीं है।' यहाँ सद्भाव सिद्ध करने में 'सर्वज्ञ' रूप धर्मी विकल्पसिद्ध धर्मी है। अथवा 'खरविषाण नहीं है, क्योंकि उसको सिद्ध करने वाले प्रमाणों का अभाव निश्चित है' यहाँ अभाव सिद्ध करने में 'खरविषाण' विकल्पसिद्ध धर्मी है। 'सर्वज्ञ' सद्भाव सिद्ध करने के पहले प्रत्यक्षादिक किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, किन्तु केवल प्रतीति (कल्पना) से सिद्ध है, इसलिए वह विकल्पसिद्ध धर्मी है। इसी प्रकार 'खरविषाण' असद्भाव सिद्ध करने के पहले केवल कल्पना से सिद्ध है, अतः वह भी विकल्पसिद्ध धर्मी है।

उभयसिद्ध धर्मी का उदाहरण—'शब्द परिणमनशील है, क्योंकि वह किया जाता है—तालु आदि की क्रिया से उत्पन्न होता है।' यहाँ शब्द है। कारण, वर्त्तमान शब्द तो प्रत्यक्ष से जाने जाते हैं, परन्तु भूतकालीन और भविष्यत्कालीन शब्द केवल प्रतीति से सिद्ध हैं और वे समस्त शब्द यहाँ धर्मी हैं, इसलिए 'शब्द' रूप धर्मी प्रमाण तथा विकल्प दोनों से सिद्ध अर्थात्—उभयसिद्ध धर्मी है। प्रमाण-

सिद्ध और उभयसिद्ध धर्मी में साध्य यथेच्छ होता है—उसमें कोई नियम नहीं होता। किन्तु विकल्पसिद्ध धर्मी में सद्भाव और असद्भाव ही साध्य होते हैं, ऐसा नियम है। कहा भी है—"विकल्पसिद्ध धर्मी में सत्ता और असत्ता ये दो ही साध्य होते हैं।" इस प्रकार दूसरे के उपदेश की अपेक्षा से रहित स्वयं जाने गये साधन से पक्ष में रहने रूप से साध्य का जो ज्ञान होता है वह स्वार्थानुमान है, यह दृढ़ हो गया। कहा भी है—"परोपदेश के बिना भी दृष्टा को साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं।"

परार्थानुमान का निरूपण—

दूसरे के उपदेश की अपेक्षा लेकर जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं। तात्पर्य यह कि प्रतिज्ञा और हेतु-रूप परोपदेश की सहायता से श्रोता को जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है। जैसे—'यह पर्वत अग्निवाला होने के योग्य है, क्योंकि धूम वाला है।' ऐसा किसी के वाक्य-प्रयोग करने पर उस वाक्य के अर्थ का विचार और पहले ग्रहण की हुई व्याप्ति का स्मरण करने वाले श्रोता को अनुमान ज्ञान होता है। और ऐसे अनुमान ज्ञान का ही नाम परार्थानुमान है।

'परोपदेश वाक्य ही परार्थानुमान है। अर्थात् जिस प्रतिज्ञादि पञ्चावयवरूप वाक्य से सुनने वाले को अनुमान होता है वह वाक्य ही परार्थानुमान है।' ऐसा किन्हीं (नैयायिकों) का कहना है। पर उनका यह कहना ठीक नहीं है। हम उनसे पूछते हैं कि वह वाक्य मुख्य अनुमान है अथवा गौण अनुमान? मुख्य अनुमान तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि वाक्य अज्ञानरूप है। यदि वह गौण अनुमान है, तो उसे हम मानते हैं, क्योंकि परार्थानुमान ज्ञान के कारण—परार्थानुमान वाक्य में परार्थानुमान का व्यपदेश हो सकता है। जैसे—'घी आयु

है' इत्यादि व्यपदेश होता है। तात्पर्य यह कि परार्थानुमान वाक्य परार्थानुमान ज्ञान के उत्पन्न करने में कारण होता है, अतः उसको उपचार से परार्थानुमान माना गया है।

परार्थानुमान की अङ्गसम्पत्ति और उसके अवयवों का प्रतिपादन—

इस परार्थानुमान के अङ्गों का कथन स्वार्थानुमान की तरह जानना चाहिए। अर्थात्—उसके भी धर्मी, साध्य और साधन के भेद से तीन अथवा पक्ष और हेतु के भेद से दो अङ्ग हैं। और परार्थानुमान में कारणीभूत वाक्य के दो अवयव हैं—१ प्रतिज्ञा और २ हेतु। धर्म और धर्मी के समुदाय रूप पक्ष के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे—'यह पर्वत अग्नि वाला है।' साध्य के अविनाभावी साधन के बोलने को हेतु कहते हैं। जैसे—धूम वाला अन्यथा हो नहीं सकता' अथवा 'अग्नि के होने से ही धूम वाला है।' इन दोनों हेतु-प्रयोगों में केवल कथन का भेद है। पहले हेतु-प्रयोग में तो 'धूम अग्नि के बिना नहीं हो सकता' इस तरह निषेधरूप से कथन किया है और दूसरे हेतु-प्रयोग में 'अग्नि के होने पर ही धूम होता है' इस तरह सद्भावरूप से प्रतिपादन किया है। अर्थ में भेद नहीं है। दोनों ही जगह अविनाभावी साधन का कथन समान है। इसलिए उन दोनों हेतुप्रयोगों में से किसी एक को ही बोलना चाहिए। दोनों के प्रयोग करने में पुनरुक्ति आती है। इस प्रकार पूर्वोक्त प्रतिज्ञा और इन दोनों हेतु-प्रयोगों में से कोई एक हेतु-प्रयोग, ये दो ही परार्थानुमान वाक्य के अवयव हैं—अङ्ग हैं; क्योंकि व्युत्पन्न (समझदार) श्रोता को प्रतिज्ञा और हेतु इन दो से ही अनुमिति—अनुमान ज्ञान हो जाता है।

नैयायिकाभिमत पांच अवयवों का निराकरण—

नैयायिक परार्थानुमान वाक्य के उपर्युक्त प्रतिज्ञा और हेतु

इन दो अवयवों के साथ उदाहरण, उपनय तथा निगमन इस तरह पाँच अवयव कहते हैं। जैसा कि वे सूत्र द्वारा प्रकट करते हैं :—

"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमानान्यवयवाः" [न्यायसू० १।१।३२]

अर्थात्—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव हैं। उनके वे लक्षणपूर्वक उदाहरण भी देते हैं—पक्ष के प्रयोग करने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे—यह पर्वत अग्नि वाला है। साधनता (साधनपना) बतलाने के लिए पञ्चमी विभक्ति रूप से लिङ्ग के कहने को हेतु कहते हैं। जैसे—क्योंकि धूमवाला है। व्याप्ति को दिखलाते हुए दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते हैं। जैसे—जो जो धूमवाला है वह वह अग्निवाला है। जैसे—रसोई का घर। यह साधर्म्य उदाहरण है। जो जो अग्निवाला नहीं होता वह वह धूमवाला नहीं होता। जैसे—तालाब। यह वैधर्म्य उदाहरण है। उदाहरण के पहले भेद में हेतु की अन्वयव्याप्ति (साध्य की मौजूदगी में साधन की मौजूदगी) दिखाई जाती है और दूसरे भेद में व्यतिरेक-व्याप्ति (साध्य की गैर मौजूदगी में साधन की गैर मौजूदगी) बतलाई जाती है। जहाँ अन्वयव्याप्ति प्रदर्शित की जाती है उसे अन्वय दृष्टान्त कहते हैं और जहाँ व्यतिरेकव्याप्ति दिखाई जाती है उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं। इस प्रकार दृष्टान्त के दो भेद होने से दृष्टान्त के कहने रूप उदाहरण के भी दो भेद जानना चाहिए। इन दोनों उदाहरणों में से किसी एक का ही प्रयोग करना पर्याप्त (काफी) है, अन्य दूसरे का प्रयोग करना अनावश्यक है। दृष्टान्त की अपेक्षा लेकर पक्ष में हेतु के दोहराने को उपनय कहते हैं। जैसे—इसीलिए यह पर्वत धूमवाला है। हेतुपुरस्सर पक्ष के कहने को निगमन कहते हैं। जैसे—धूमवाला होने से यह अग्निवाला है। ये पाँचों अवयव परार्थानुमान प्रयोग के हैं। इनमें से कोई भी एक न हो तो

वीतराग कथा में और विजिगीषुकथा में अनुमिति उत्पन्न नहीं होती, ऐसा नैयायिकों का मानना है।

पर उनका यह मानना अविचारपूर्ण है; क्योंकि वीतरागकथा में शिष्यों के अभिप्राय को लेकर अधिक भी अवयव बोले जा सकते हैं। परन्तु विजिगीषुकथा में प्रतिज्ञा और हेतुरूप दो ही अवयव बोलना पर्याप्त है, अन्य अवयवों का बोलना वहाँ अनावश्यक है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

वादी और प्रतिवादी में अपने पक्ष को स्थापित करने के लिए जीत-हार होने तक जो परस्पर (आपस) में वचनप्रवृत्ति (चर्चा) होती है वह विजिगीषुकथा कहलाती है। और गुरु तथा शिष्यों में अथवा रागद्वेष रहित विशेष विद्वानों में तत्त्व (वस्तुस्वरूप) के निर्णय होने तक जो आपस में चर्चा की जाती है वह वीतरागकथा है। इनमें विजिगीषुकथा को वाद कहते हैं। कोई (नैयायिक) वीतरागकथा को भी वाद कहते हैं। पर वह स्वग्रहमान्य ही है, क्योंकि लोक में गुरु-शिष्य आदि की सौम्यचर्चा को वाद (शास्त्रार्थ) नहीं कहा जाता। हाँ, हार-जीत की चर्चा को अवश्य वाद कहा जाता है। जैसे स्वामी समन्तभद्राचार्य ने सभी एकान्तवादियों को वाद में जीत लिया। अर्थात्—विजिगीषुकथा में उन्हें विजित कर लिया। और उस वाद में परार्थानुमान वाक्य के प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव कार्यकारी हैं, उदाहरणादिक नहीं। इसका भी स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सबसे पहले लिङ्गवचनरूप हेतु अवश्य होना चाहिये, क्योंकि लिङ्ग का ज्ञान न हो, तो अनुमिति ही उत्पन्न नहीं हो सकती है। इसी प्रकार पक्ष-वचनरूप प्रतिज्ञा का भी होना आवश्यक है। नहीं तो, अपने इष्ट साध्य का किसी आधारविशेष में निश्चय नहीं होने पर साध्य के सन्देह वाले श्रोता को अनुमिति पैदा नहीं हो

सकती। कहा भी है—"एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्" [परीक्षा० ३-३७] इसका अर्थ यह है कि प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमान अर्थात् परार्थानुमान के अङ्ग (अवयव) हैं। यहाँ सूत्र में 'वादे' शब्द को और जोड़ लेना चाहिए। जिसका तात्पर्य यह है कि विजिगीषुकथा में परार्थानुमान के प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अङ्ग हैं। यहाँ सूत्र में अवधारणार्थक एवकार शब्द के प्रयोग द्वारा उदाहरणादिक का व्यवच्छेद किया गया है। अर्थात् उदाहरण आदिक परार्थानुमान के अवयव नहीं हैं, यह प्रकट किया गया है। क्योंकि वाद (शास्त्रार्थ) का अधिकार व्युत्पन्न को ही है और व्युत्पन्न केवल प्रतिज्ञा तथा हेतु के प्रयोग से ही जाने जानेवाले उदाहरण आदि के प्रतिपाद्य अर्थ को जानने में समर्थ है। उसको जानने के लिए उदाहरणादिक की आवश्यकता नहीं है। यदि गम्यमान (जाना जानेवाले) अर्थ का भी पुनः कथन किया जाये, तो पुनरुक्तता का प्रसङ्ग आता है। तात्पर्य यह कि प्रतिज्ञा और हेतु के द्वारा जान लेने पर भी उस अर्थ के कथन के लिए उदाहरणादिक का प्रयोग करना पुनरुक्त है। अतः उदाहरणादिक परार्थानुमान के अङ्ग नहीं हैं।

शङ्का—यदि ऐसा है तो प्रतिज्ञा के कहने में भी पुनरुक्तता आती है; क्योंकि प्रतिज्ञा द्वारा कहा जाने वाला पक्ष भी प्रकरण, व्याप्तिप्रदर्शन आदि के द्वारा ज्ञात हो जाता है। इसलिए लिङ्गवचनरूप एक हेतु का ही विजिगीषुकथा में प्रयोग करना चाहिये।

समाधान—बौद्धों का यह कथन ठीक नहीं है। इस प्रकार कहकर वे अपनी जड़ता को प्रकट करते हैं; क्योंकि केवल हेतु के प्रयोग करने पर व्युत्पन्न को भी साध्य के सन्देह की निवृत्ति नहीं हो सकती है। इस कारण प्रतिज्ञा का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। कहा भी है—"साध्य (साध्यधर्म के आधार) का सन्देह दूर करने के

लिए प्रकरण आदि के द्वारा जाना गया भी पक्ष बोलना चाहिए।" इस प्रकार वाद की अपेक्षा से परार्थानुमान के प्रतिज्ञा और हेतुरूप दो ही अवयव हैं, न कम हैं और न अधिक, यह सिद्ध हुआ। इस तरह अवयवों का यह संक्षेप में विचार किया, विस्तार से पत्रपरीक्षा से जानना चाहिए।

वीतरागकथा में अधिक अवयवों के बोले जाने के औचित्य का समर्थन—

वीतरागकथा में तो शिष्यों के आशयानुसार प्रतिज्ञा और हेतु ये दो भी अवयव हैं। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण ये तीन भी हैं। प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण और उपनय ये चार भी हैं तथा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच भी हैं। इस तरह यथायोग रूप से प्रयोगों की यह व्यवस्था है। इसी बात को श्रीकुमारनन्दि भट्टारक ने कहा है कि प्रयोगों के बोलने की व्यवस्था प्रतिपाद्यों के अभिप्रायानुसार करनी चाहिये—जो जितने अवयवों से समझ सके उसे उतने अवयवों का प्रयोग करना चाहिये।"

इस प्रकार प्रतिज्ञा आदिरूप परोपदेश से उत्पन्न हुआ ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है। कहा भी है—"जो दूसरे के प्रतिज्ञादिरूप उपदेश की अपेक्षा लेकर श्रोता को साधन से साध्य का ज्ञान होता है वह परार्थानुमान माना गया है।"

इस तरह अनुमान के स्वार्थ और परार्थ ये दो भेद हैं और ये दोनों ही अनुमान साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित है ऐसे हेतु से उत्पन्न होते हैं।

बौद्धों के त्रैरूप्य हेतु का निराकरण—

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह प्रसिद्ध हो जाता है कि अन्यथानुपपत्ति विशिष्ट हेतु अनुमिति में कारण है। तथापि इस-

का विचार न करके दूसरे (बौद्धादिक) अन्य प्रकार भी हेतु का लक्षण कहते हैं। उनमें बौद्ध पक्षधर्मत्व आदिक तीन लक्षण-वाले हेतु से अनुमान की उत्पत्ति वर्णित करते हैं। वह इस प्रकार से है—पक्ष-धर्मत्व, सपक्ष-सत्त्व और विपक्ष-व्यावृत्ति ये तीन हेतु के रूप (लक्षण) हैं। उनमें साध्यधर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहते हैं। जैसे अग्नि के अनुमान करने में पर्वत पक्ष होता है। उस पक्ष में व्याप्त होकर हेतुका रहना पक्षधर्मत्व है। अर्थात्—हेतु का पहला रूप यह है कि उसे पक्ष में रहना चाहिये। साध्य के समान धर्म-वाले धर्मी को सपक्ष कहते हैं। जैसे अग्नि के अनुमान करने में ही महानस (रसोई का घर) सपक्ष होता है। उस सपक्ष में सब जगह अथवा एक जगह हेतु का रहना सपक्ष-सत्त्व है। यह हेतु का दूसरा रूप है। साध्य से विरोधी धर्म वाले धर्मी को विपक्ष कहते हैं। जैसे अग्नि के अनुमान करने में ही तालाब विपक्ष है। उन सभी विपक्षों से हेतु का व्यावृत्त होना अर्थात् उनमें नहीं रहना विपक्ष-व्यावृत्ति है। यह हेतु का तीसरा रूप है। ये तीनों रूप मिल कर हेतु का लक्षण है। यदि इनमें से कोई एक भी न हो तो वह हेत्वाभास है—असम्यग् हेतु है।

उनका यह वर्णन सङ्गत नहीं है; क्योंकि पक्ष-धर्मत्व के बिना भी कृत्तिकोदयादिक हेतु शकटोदयादि साध्य के ज्ञापक देखे जाते हैं। वह इस प्रकार से—'शकट नक्षत्र का एक मुहूर्त के बाद उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है।' इस अनुमान में 'शकट नक्षत्र' धर्मी (पक्ष) है, 'एक मुहूर्त के बाद उदय' साध्य है और 'कृत्तिका नक्षत्र का उदय' हेतु है। किन्तु 'कृत्तिका नक्षत्र का उदय' रूप हेतु पक्षभूत 'शकट' नक्षत्र में नहीं रहता, इसलिए वह पक्षधर्म नहीं है। अर्थात्—'कृत्तिका नक्षत्र का उदय' रूप हेतु पक्षधर्म से

रहित है। फिर भी वह अन्यथानुपपत्ति के होने से (कृत्तिका के उदय हो जाने पर ही शकट का उदय होता है और कृत्तिका के उदय न होने पर शकट का उदय नहीं होता है) शकट के उदयरूप साध्य का ज्ञान कराता ही है। अतः बौद्धों के द्वारा माना गया हेतु का त्रैरूप्य लक्षण अव्याप्ति दोष सहित है।

नैयायिकसम्मत पाँचरूप्य हेतु का कथन और उसका निराकरण—

नैयायिक पाँचरूपता को हेतु का लक्षण कहते हैं। वह इस तरह से है—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये पाँच रूप हैं। उनमें प्रथम के तीन रूपों के लक्षण कहे जा चुके हैं। शेष दो के लक्षण यहाँ कहे जाते हैं। साध्य के अभाव को निश्चय कराने वाले बलिष्ठ प्रमाणों का न होना अबाधितविषयत्व है और साध्य के अभाव को निश्चय कराने वाले समान बल के प्रमाणों का न होना असत्प्रतिपक्षत्व है। इन सबको उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझिये—यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला है, जो जो धूम वाला होता है वह वह अग्निवाला होता है, जैसे—रसोईघर, जो जो अग्निवाला नहीं होता, वह वह धूमवाला नहीं होता, जैसे—तालाब, चूँकि यह धूमवाला है, इसलिए अग्निवाला जरूर ही है। इस पाँच अवयवरूप अनुमान प्रयोग में अग्निरूप साध्यधर्म से युक्त पर्वतरूप धर्मी पक्ष है, 'धूम' हेतु है। उसके पक्षधर्मता है, क्योंकि वह पक्षभूत पर्वत में रहता है। सपक्षसत्त्व भी है, क्योंकि सपक्षभूत रसोईघर में रहता है।

शङ्का—किन्हीं सपक्षों में धूम नहीं रहता है, क्योंकि अङ्गाररूप अग्निवाले स्थानों में धुआँ नहीं होता। अतः सपक्षसत्त्व हेतु का रूप नहीं है।

समाधान—नहीं; सपक्ष के एक देश में रहने वाला भी हेतु है। क्योंकि पहले कह आये हैं कि 'सपक्ष में सब जगह अथवा एक जगह हेतु का रहना सपक्षसत्त्व है।' इसलिए अङ्गाररूप अग्नि-वाले स्थानों में धूम के न रहने पर भी रसोई घर आदि सपक्षों में रहने से उसके सपक्षसत्त्व रहता ही है। विपक्षव्यावृत्ति भी उसके है, क्योंकि धूम तालाब आदि सभी विपक्षों से व्यावृत्त है—वह उनमें नहीं रहता है। अबाधितविषयत्व भी है, क्योंकि धूमहेतु का जो अग्निरूप साध्य विषय है वह प्रत्यक्षादिक प्रमाणों से बाधित नहीं है। असत्प्रतिपक्षत्व भी है, क्योंकि अग्नि के अभाव का साधक तुल्य बल वाला कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार पाँचों रूपों का सद्भाव ही धूम हेतु के अपने साध्य की सिद्धि करने में प्रयोजक (कारण) है। इसी तरह सभी सम्यक् हेतुओं में पाँचों रूपों का सद्भाव समझना चाहिए।

इनमें से किसी एक रूप के न होने से ही असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम नाम के पाँच हेत्वाभास आपन्न होते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है—

१. पक्ष में जिसका रहना अनिश्चित हो वह असिद्ध हेत्वाभास है। जैसे—'शब्द अनित्य (नाशवान्) है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से जाना जाता है।' यहाँ 'चक्षु इन्द्रिय से जाना जाना' हेतु पक्षभूत शब्द में नहीं रहता है। कारण, शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से जाना जाता है। इसलिए पक्षधर्मत्व के न होने से 'चक्षु इन्द्रिय से जाना जाना' हेतु असिद्ध हेत्वाभास है।

२. साध्य से विपरीत—साध्याभाव के साथ जिस हेतु की व्याप्ति हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है। जैसे—'शब्द नित्य है, क्योंकि वह कृतक है—किया जाता है' यहाँ 'किया जाना' रूप हेतु अपने साध्यभूत

नित्यत्व से विपरीत अनित्यत्व के साथ रहता है और सपक्ष आकाशादि में नहीं रहता। अतः विरुद्ध हेत्वाभास है।

३. जो हेतु व्यभिचार सहित (व्यभिचारी) हो—साध्य के अभाव में भी रहता हो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है' यहाँ 'प्रमेयत्व'—प्रमेयपना हेतु अपने साध्य—*अनित्यत्व का व्यभिचारी है। कारण, आकाशादिक विपक्ष में नित्यत्व* के साथ भी वह रहता है। अतः विपक्ष से व्यावृत्ति न होने से अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

४. जिस हेतुका विषय—साध्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित हो वह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है। जैसे—'अग्नि ठण्डी है, क्योंकि वह पदार्थ है' यहाँ 'पदार्थत्व' हेतु अपने विषय 'ठण्डापन' में, जो कि अग्नि की गर्मी को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से बाधित है, प्रवृत्त है। अतः अबाधित विषयता न होने के कारण 'पदार्थत्व' हेतु कालात्ययापदिष्ट है।

५. विरोधी साधन जिसका मौजूद हो वह हेतु प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्यधर्मरहित है' यहाँ 'नित्यधर्मरहितत्व' हेतु का प्रतिपक्षी साधन मौजूद है। वह प्रतिपक्षी साधन कौन है? 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह अनित्य के धर्मों से रहित है' इस प्रकार नित्यता का साधन करना, उसका प्रतिपक्षी साधन है। अतः असत्प्रतिपक्षता के न होने से 'नित्य-धर्मरहितत्व' हेतु प्रकरणसम हेत्वाभास है।

इस कारण पाँचरूपता हेतु का लक्षण है। उनमें से किसी एक के न होने पर हेतुके हेत्वाभास होने का प्रसङ्ग आयेगा, यह ठीक ही कहा गया है। क्योंकि जो 'हेतु के लक्षण से रहित हों और हेतु के समान प्रतीत होते हों वे हेत्वाभास हैं। पांच रूपों में से किसी एक के

न होने से हेतुलक्षण से रहित है और कुछ रूपों के होने से हेतु के समान प्रतीत होते हैं ऐसा वचन है।

नैयायिकों के द्वारा माना गया हेतु का यह पाँचरूपता लक्षण भी युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि पक्षधर्म से शून्य भी कृत्तिका का उदय शकट के उदयरूप साध्य का हेतु देखा जाता है। अतः पाँचरूपता अव्याप्ति दोष से सहित है।

दूसरी बात यह है, कि नैयायिकों ने ही केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इन दोनों हेतुओं को पाँचरूपता के बिना भी गमक (ज्ञापक) स्वीकार किया है। वह इस प्रकार से है—उन्होंने हेतु के तीन भेद माने हैं—१ अन्वयव्यतिरेकी, २ केवलान्वयी और ३ केवलव्यतिरेकी।

१. उनमें जो पाँच रूपों से सहित है वह अन्वयव्यतिरेकी है। जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है—किया जाता है, जो जो किया जाता है वह वह अनित्य है, जैसे घड़ा, जो जो अनित्य नहीं होता वह वह किया नहीं जाता, जैसे—आकाश, और किया जाता है यह शब्द, इसलिए अनित्य ही है।' यहाँ शब्द को पक्ष करके उसमें अनित्यता सिद्ध की जा रही है। अनित्यता के सिद्ध करने में 'किया जाना' हेतु है। वह पक्षभूत शब्द का धर्म है। अतः उसके पक्षधर्मत्व है। सपक्ष घटादिकों में रहने और विपक्ष आकाशादिक में न रहने से सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति भी है। हेतु का विषय साध्य (अनित्यत्व) किसी प्रमाण से बाधित न होने से अबाधितविषयत्व और प्रतिपक्षी साधन न होने से असत्प्रतिपक्षत्व भी विद्यमान है। इस तरह 'किया जाना' हेतु पाँचों रूपों से विशिष्ट होने के कारण अन्वयव्यतिरेकी है।

२. जो पक्ष और सपक्ष में रहता है तथा विपक्ष से रहित है वह

केवलान्वयी है। जैसे—'अदृष्ट (पुण्य-पाप) आदिक किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं। जो जो अनुमान से जाने जाते हैं वे वे किसी के प्रत्यक्ष हैं, जैसे—अग्नि आदि।' यहाँ 'अदृष्ट आदिक' पक्ष है, 'किसी के प्रत्यक्ष' साध्य है, 'अनुमान से जाना जाना' हेतु है, 'अग्नि आदि' अन्वय दृष्टान्त है। 'अनुमान से जाना जाना' हेतु पक्ष बनाये गये 'अदृष्ट आदिक' में रहता है और सपक्ष किये 'अग्नि आदि' में रहता है। अतः पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्व है। तथा विपक्ष यहाँ कोई है नहीं, क्योंकि सभी पदार्थ पक्ष और सपक्ष के भीतर आ लिए हैं। इस कारण विपक्षव्यावृत्ति है ही नहीं। कारण, व्यावृत्ति अवधि (सीमा) को लेकर होती है और व्यावृत्ति की अवधि विपक्ष है, वह यहाँ है नहीं। बाकी कथन अन्वयव्यतिरेकी की तरह समझना चाहिए।

३. जो पक्ष में रहता है, विपक्ष में नहीं रहता और सपक्ष से रहित है वह हेतु केवलव्यतिरेकी है। जैसे—'जिन्दा शरीर जीव-सहित होना चाहिए, क्योंकि वह प्राणादि वाला है। जो जो जीव सहित नहीं होता वह वह प्राणादि वाला नहीं होता, जैसे—लोष्ठ (मिट्टी का ढेला)। यहाँ 'जिन्दा शरीर' पक्ष है, 'जीवसहितत्व' साध्य है, 'प्राणादि' हेतु है और 'लोष्ठादिक' व्यतिरेकदृष्टान्त है। 'प्राणादि' हेतु पक्षभूत 'जिन्दा शरीर' में रहता है और विपक्ष लोष्ठादिकसे व्यावृत्त है—वहाँ वह नहीं रहता है। तथा सपक्ष यहाँ है नहीं, क्योंकि सभी पदार्थ पक्ष और विपक्षके अन्तर्गत हो गये। बाकी कथन पहले की तरह जानना चाहिये।

इस तरह इन तीनों हेतुओं में अन्वयव्यतिरेकी हेतु के ही पाँचरूपता है। केवलान्वयी हेतु के विपक्षव्यावृत्ति नहीं है और केवलव्यतिरेकीके सपक्षसत्त्व नहीं है। अतः नैयायिकोंके मतानु-

सार ही पाँचरूप्य हेतुका लक्षण अव्याप्त है। पर अन्यथानुपपत्ति सभी (केवलान्वयी आदि) हेतुओं में व्याप्त है—रहती है। इसलिये उसे ही हेतुका लक्षण मानना ठीक है। कारण उसके बिना हेतु अपने साध्यका गमक (ज्ञापक) नहीं हो सकता है।

जो यह कहा गया था कि 'असिद्ध आदिक पाँच हेत्वाभासोंके निवारण करनेके लिये पाँच रूप हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि अन्यथा-नुपपत्ति विशिष्टरूपसे निश्चतपना ही, जो हमने हेतुलक्षण माना है, उन असिद्धादिक हेत्वाभासोंका निराकरण करनेवाला सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि केवल एक अन्यथानुपपत्तिको ही हेतु का लक्षण मानने से असिद्धादिक सभी दोषों का वारण हो जाता है। वह इस प्रकार से है :—

जो साध्य का अविनाभावी है—साध्य के होने पर ही होता है और साध्य के बिना नहीं होता तथा निश्चयपथ को प्राप्त है अर्थात् जिसका ज्ञान हो चुका है वह हेतु है, क्योंकि "जिसका साध्यके साथ अविनाभाव निश्चित है वह हेतु है" ऐसा वचन है और यह अविनाभाव असिद्धके नहीं है। शब्दकी अनित्यता सिद्ध करने के लिये जो 'चक्षु इन्द्रियका विषय' हेतु बोला जाता है वह शब्द का स्वरूप ही नहीं है। अर्थात् शब्दमें चक्षु इन्द्रिय की विष-यता ही नहीं है तब उसमें अन्यथानुपपत्तिविशिष्टरूपसे निश्चय-पथप्राप्ति अर्थात्—अविनाभावका निश्चय कैसे हो सकता है? अर्थात्—नहीं हो सकता है। अतः साध्य के साथ अविनाभाव का निश्चय न होने से ही 'चक्षु इन्द्रिय का विषय' हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, न कि पक्षधर्मता के अभाव होने से। कारण, पक्षधर्मता के बिना भी कृत्तिकोदयादि हेतुओं को उक्त अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु-लक्षण के रहने से ही सद्धेतु—सम्यक् हेतु कहा गया है। और

विरुद्धादिक हेत्वाभासों में अन्यथानुपपत्ति का अभाव प्रकट ही है। क्योंकि स्पष्ट ही विरुद्ध, व्यभिचारी, बाधितविषय और सत्प्रतिपक्ष के अविनाभाव का निश्चय नहीं है। इसलिए जिस हेतु के अन्यथानुपपन्नत्व का योग्य देश में निश्चय है वही सम्यक् हेतु है उससे भिन्न हेत्वाभास है, यह सिद्ध हो गया।

दूसरे, 'गर्भ में स्थित मैत्री का पुत्र श्याम (काला) होना चाहिए, क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है, अन्य मौजूद मैत्री के पुत्रों की तरह।' यहाँ हेत्वाभास के स्थान में भी बौद्धों के त्रैरूप्य और नैयायिकों के पाञ्चरूप्य हेतुलक्षण की अतिव्याप्ति है, इसलिए त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य हेतु का लक्षण नहीं है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है :—

मैत्री के मौजूद पाँच पुत्रों में कालेपन को देखकर मैत्री के गर्भस्थ पुत्र को भी—जो कि विवादग्रस्त है, पक्ष करके उसमें कालेपन को सिद्ध करने के लिए जो 'मैत्री का पुत्रपना' हेतु प्रयुक्त किया जाता है वह हेत्वाभास है—सम्यक् हेतु नहीं है, यह प्रसिद्ध ही है। क्योंकि उसमें गोरेपन की भी सम्भावना की जा सकती है। और वह सम्भावना 'कालेपन' के साथ 'मैत्री का पुत्रपना' की अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) न होने से होती है। अन्यथानुपपत्ति का अभाव इसलिए है कि कालेपन के साथ मैत्री के पुत्रपने का न तो सहभाव नियम है और न क्रमभाव नियम।

जिस धर्म का जिस धर्म के साथ सहभाव नियम—एक साथ होने का स्वभाव होता है वह उसका ज्ञापक होता है। अर्थात्—वह उसे जनाता है। जैसे शिशपात्व का वृक्षत्व के साथ सहभाव नियम है, इसलिए शिंशपात्व हेतु वृक्षत्व को जनाता है। और जिसका जिसके साथ क्रमभाव नियम—क्रम से होने का स्वभाव होता है वह

उसका ज्ञान कराता है। जैसे—धुएँ का अग्नि के बाद होने का नियम है, इसलिए धुआँ अग्नि का ज्ञान कराता है। प्रकृत में 'मैत्री के पुत्रपने' हेतु का 'कालेपन' साध्य के साथ न तो सहभाव नियम है और न क्रमभाव नियम है जिससे कि 'मैत्री का पुत्रपना' हेतु 'कालेपन' साध्य का ज्ञान कराये।

यद्यपि विद्यमान मैत्री के पुत्रों में 'कालेपन' और 'मैत्री का पुत्रपन' का सहभाव है—दोनों एक साथ उपलब्ध होते हैं, पर वह सहभाव नियत नहीं है—नियमरूप में नहीं है, क्योंकि कोई यदि यह कहे कि गर्भस्थ पुत्र में 'मैत्री का पुत्रपन' तो हो, किन्तु 'कालापन' न हो, तो इस प्रकार विपक्ष (व्यभिचारशङ्का) में कोई बाधक नहीं है—उक्त व्यभिचार की शङ्का को दूर करने वाला अनुकूल तर्क नहीं है। अर्थात् यहाँ ऐसा तर्क नहीं है कि 'यदि कालापन न हो तो मैत्री का पुत्रपन' भी नहीं हो सकता है' क्योंकि मैत्रीपुत्र में 'मैत्री के पुत्रपन' के रहने पर भी 'कालापन' सन्दिग्ध है। और विपक्ष में बाधक प्रमाणों—व्यभिचारशङ्कानिवर्तक अनुकूल तर्कों के बल से ही हेतु और साध्य में व्याप्ति का निश्चय होता है। तथा व्याप्ति के निश्चय से सहभाव अथवा क्रमभाव का निर्णय होता है। क्योंकि "सहभाव और क्रमभाव नियम को अविनाभाव कहते हैं" ऐसा वचन है। विवाद में पड़ा हुआ पदार्थ वृक्ष होना चाहिए, क्योंकि वह शिंशपा (शीशम) है, जो जो शिंशपा होती है वह वह वृक्ष होता है। जैसे—ज्ञात शिंशपा वृक्ष। यहाँ यदि कोई ऐसी व्यभिचारशङ्का करे कि हेतु (शिंशपा) रहे साध्य (वृक्षत्व) न रहे तो सामान्यविशेषभाव के नाश का प्रसङ्गरूप बाधक मौजूद है। अर्थात् उस व्यभिचारशङ्का को दूर करने वाला अनुकूल तर्क विद्यमान है। यदि वृक्षत्व न हो तो शिंशपा नहीं हो सकती; क्योंकि वृक्षत्व

सामान्य है और शिशपा उसका विशेष है और विशेष सामान्य के बिना नहीं हो सकता है। इसलिए यहाँ सामान्य-विशेषभाव के भङ्ग होने का प्रसङ्गरूप बाधक मौजूद है। किन्तु 'मैत्री का पुत्रपन हो कालापन न हो' ऐसा कहने में (व्यभिचारशङ्का प्रकट करने में) कोई बाधक नहीं है, अर्थात्—उस व्यभिचारशङ्का को दूर करने वाला कोई अनुकूल तर्क—कि यदि कालापन न हो तो मैत्री का पुत्रपन नहीं हो सकता है—नहीं है, क्योंकि गोरेपन के साथ भी मैत्री के पुत्रपन का रहना सम्भव है। अतः 'मैत्री का पुत्रपन' हेतु हेत्वाभास ही है। अर्थात्—वह सन्दिग्धानैकान्तिक है। उसके पक्षधर्मता है, क्योंकि पक्षभूत गर्भस्थ मैत्रीपुत्र में रहता है। सपक्ष किये गये मौजूद मैत्रीपुत्रों में रहने से सपक्ष-सत्त्व भी है। और विपक्ष गोरे चैत्र के पुत्रों से व्यावृत्त होने से विपक्षव्यावृत्ति भी है। कोई बाधा नहीं है, इसलिए अबाधितविषयता भी है, क्योंकि गर्भस्थ पुत्र का कालापन किसी प्रमाण से बाधित नहीं है। असत्प्रतिपक्षता भी है, क्योंकि विरोधी समान बल वाला प्रमाण नहीं है। इस प्रकार 'मैत्री के पुत्रपन' में पाँचों रूप विद्यमान हैं। तीन रूप तो 'हजार में सौ' के न्याय से स्वयं सिद्ध हैं। अर्थात्—जिस प्रकार हजार में सौ आ ही जाते हैं उसी प्रकार मैत्री पुत्रपन में पाँच रूपों के दिखा देने पर तीन रूप भी प्रदर्शित हो जाते हैं।

अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु-लक्षण होने की सिद्धि—

यहाँ यदि कहा जाय कि केवल पाँचरूपता हेतु का लक्षण नहीं है, किन्तु अन्यथानुपपत्ति से विशिष्ट ही पाँचरूपता हेतु का लक्षण है। तो उसी एक अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण मानिये; क्योंकि अन्यथानुपपत्ति के अभाव में पाँचरूपता के रहने पर भी 'मैत्री का पुत्रपन' आदि हेतुओं में हेतुता नहीं है और उसके सद्भाव-

में पाँचरूपता के न होने पर भी 'कृत्तिकोदय' आदि में हेतुता है। कहा भी है :—

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥" [ ]

जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ तीन रूपों के मानने से क्या? और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ तीन रूपों के सद्भाव से भी क्या? तात्पर्य यह कि त्रैरूप्य अन्यथानुपपत्ति के बिना अभिमत फल का सम्पादक नहीं है—व्यर्थ है। यह त्रैरूप्य को मानने वाले बौद्धों के लिए उत्तर है। और पाँच रूपों को मानने वाले नैयायिकों के लिए तो निम्न उत्तर है :—

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः[1]॥" [प्रमाणप० पृ० ७२]

जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ पाँच रूपों के मानने से क्या? और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ पाँच रूपों के सद्भाव से भी क्या? मतलब यह कि अन्यथानुपपत्ति के बिना पाँच रूप सर्वथा अन्यथा-सिद्ध हैं—निष्फल हैं—

हेतु के भेदों और उपभेदों का कथन—

यह अन्यथानुपपत्ति के निश्चयरूप एक लक्षण वाला हेतु संक्षेप में दो तरह का है— १ विधिरूप और २ प्रतिषेधरूप। विधिरूप हेतु के भी दो भेद हैं—१ विधिसाधक और २ प्रतिषेध-

---

१ यह कारिका प्रमाण-परीक्षा में कुछ परिवर्तनके साथ निम्न प्रकार उपलब्ध है :—

अन्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पञ्चभिः कृतम् ।
नान्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पञ्चभिः कृतम् ॥

साधक। इनमें से पहले विधिसाधक के अनेक भेद हैं—(१) कोई कार्यरूप है, जैसे—'यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला अन्यथा नहीं हो सकता' यहाँ 'धूम' कार्यरूप हेतु है। कारण, धूम अग्नि का कार्य है और वह उसके बिना न होता हुआ अग्नि का ज्ञान कराता है। (२) कोई कारणरूप है, जैसे—'वर्षा होगी, क्योंकि विशेष बादल अन्यथा हो नहीं सकते' यहाँ 'विशेष बादल' कारण हेतु हैं। क्योंकि विशेष बादल वर्षा के कारण है और अपने कार्यभूत वर्षा का बोध कराते हैं।

शङ्का—कार्य तो कारण का ज्ञापक हो सकता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता। किन्तु कारण कार्य के अभाव में भी सम्भव है, जैसे—धूम के बिना भी अग्नि देखी जाती है। अतएव अग्नि धूम की गमक नहीं होती। अतः कारणहेतु को मानना ठीक नहीं है?

समाधान—नहीं; जिस कारण की शक्ति प्रकट है—अप्रतिहत है वह कारण कार्य का व्यभिचारी नहीं होता—नियम से कार्य का जनक होता है। अतः ऐसे कारण को कार्य का ज्ञापक हेतु मानने-में कोई विरोध नहीं है। (३) कोई विशेषरूप है, जैसे—'यह वृक्ष है, क्योंकि शिशपा अन्यथा हो नहीं सकती।' यहाँ 'शिशपा' विशेष रूप हेतु है। क्योंकि शिशपा वृक्षविशेष है, वह अपने सामान्य-भूत वृक्ष का ज्ञापन कराती है। कारण वृक्षविशेष वृक्षसामान्य-के बिना नहीं हो सकता है। (४) कोई पूर्वचर है, जैसे—'एक मुहूर्त के बाद शकट का उदय होगा; क्योंकि कृत्तिका का उदय अन्यथा हो नहीं सकता'। 'यहाँ कृत्तिका का उदय' पूर्वचर हेतु है; क्योंकि कृत्तिका के उदय के बाद मुहूर्त के अन्त में नियम से शकट का उदय होता है। और इसलिए कृत्तिका का उदय पूर्वचर हेतु

होता हुआ शकट के उदय को जनाता है। (५) कोई उत्तरचर है, जैसे—एक मुहूर्त्त के पहले भरणिका उदय हो चुका; क्योंकि इस समय कृत्तिका का उदय अन्यथा हो नहीं सकता' यहाँ 'कृत्तिका का उदय उत्तरचर हेतु है। कारण, कृत्तिका का उदय भरणि के उदय के बाद होता है और इसलिए वह उसका उत्तरचर होता हुआ उसको जनाता है। (६) कोई सहचर है, जैसे मातुलिङ्ग (बिजौरा नीबू) रूपवान् होना चाहिए, क्योंकि रसवान् अन्यथा हो नहीं सकता' यहाँ 'रस' सहचर हेतु है। कारण, रस नियम से रूप का सहचारी है—साथ में रहने वाला है और इसलिए वह उसके अभाव में नहीं होता हुआ उसका ज्ञापन कराता है।

इन उदाहरणों में सद्भावरूप ही अग्न्यादिक साध्य को सिद्ध करने वाले धूमादिक साधन सद्भावरूप ही हैं। इसलिए ये सब विधिसाधक विधिरूप हेतु हैं। इन्हीं को अविरुद्धोपलब्धि कहते हैं। इस प्रकार विधिरूप हेतु के पहले भेद विधिसाधक का उदाहरणों द्वारा निरूपण किया।

दूसरा भेद निषेधसाधक नामका है। विरुद्धोपलब्धि भी उसी का दूसरा नाम है। उसका उदाहरण इस प्रकार है—'इस जीव के मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि आस्तिकता अन्यथा हो नहीं सकती'। यहाँ 'आस्तिकता' निषेधसाधक हेतु है, क्योंकि आस्तिकता सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वार्थों के श्रद्धानरूप है। वह श्रद्धान मिथ्यात्व वाले (मिथ्यादृष्टि) जीव के नहीं हो सकता, इसलिए वह विवक्षित जीव में मिथ्यात्व के अभाव को सिद्ध करता है। अथवा, इस हेतु का दूसरा उदाहरण यह है—'वस्तु में सर्वथा एकान्त नहीं है, क्योंकि अनेकान्तात्मकता अन्यथा हो नहीं सकती' यहाँ 'अनेकान्तात्मकता' निषेधसाधक हेतु है। कारण,

अनेकान्तात्मकता वस्तु में अबाधितरूप से प्रतीत होती है और इसलिए वह बौद्धादिकल्पित सर्वथा एकान्त के अभाव को अवश्य सिद्ध करती है।

शङ्का—यह अनेकान्तात्मकता क्या है, जिसके बल से वस्तु में सर्वथा एकान्त के अभाव को सिद्ध किया जाता है ?

समाधान—सभी जीवादि वस्तुओं में जो भाव-अभावरूपता, एक-अनेकरूपता और नित्य-अनित्यरूपता इत्यादि अनेक धर्म पाये जाते हैं उसी को अनेकान्तात्मकता अथवा अनेकान्तरूपता कहते हैं। इस तरह *विधिरूप हेतु का दिग्दर्शन किया।*

प्रतिषेधरूप हेतु के भी दो भेद हैं— १ विधिसाधक और २ प्रतिषेधसाधक। उनमें विधिसाधक का उदाहरण इस प्रकार है—'इस जीव में सम्यक्त्व है, क्योंकि मिथ्या अभिनिवेश नहीं है।' यहाँ 'मिथ्या अभिनिवेश नहीं है' यह प्रतिषेधरूप हेतु है और वह सम्यग्दर्शन के सद्भाव को साधता है, इसलिए वह प्रतिषेधरूप विधिसाधक हेतु है।

दूसरे प्रतिषेधरूप प्रतिषेधसाधक हेतु का उदाहरण यह है—'यहाँ धुआँ नहीं है, क्योंकि अग्नि का अभाव है।' यहाँ 'अग्नि का अभाव' स्वयं प्रतिसेधरूप है और वह प्रतिषेधरूप ही धूम के अभाव को सिद्ध करता है, इसलिए 'अग्नि का अभाव' प्रतिषेधरूप प्रतिषेधसाधक हेतु है। इस तरह विधि और प्रतिषेधरूप से दो प्रकार के हेतु के कुछ प्रभेदों का उदाहरण द्वारा वर्णन किया। विस्तार से परीक्षामुख से जानना चाहिए। इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षण वाले ही हेतु साध्य के गमक हैं, अन्य नहीं। अर्थात्—जो अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाले नहीं हैं वे साध्य के गमक नहीं हैं, क्योंकि वे हेत्वाभास हैं।

हेत्वाभास का लक्षण और उनके भेद—

हेत्वाभास किन्हें कहते हैं ? जो हेतु के लक्षण से रहित हैं, किन्तु हेतु जैसे प्रतीत होते हैं उन्हें हेत्वाभास कहते हैं। वे चार प्रकार के हैं—१ असिद्ध, २ विरुद्ध, ३ अनैकान्तिक और ४ अकिञ्चित्कर।

(१) असिद्ध—जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति अनिश्चित है वह असिद्ध हेत्वाभास है। हेतु की यह अनिश्चितता हेतु के स्वरूप के अभाव का निश्चय होने से और स्वरूप में संशय होने से होती है। स्वरूपाभाव के निश्चय में स्वरूपासिद्ध है और स्वरूप के सन्देह में सन्दिग्धासिद्ध है। उनमें पहले का उदाहरण यह है—'शब्द परिणमनशील है, क्योंकि यह चक्षु इन्द्रिय का विषय है।' यह 'चक्षु इन्द्रिय का विषय' हेतु स्वरूपासिद्ध है। क्योंकि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है, चक्षु इन्द्रिय का नहीं। अतः शब्द में चक्षु इन्द्रिय की विषयता का अभाव निश्चित है इसलिए वह स्वरूपासिद्ध है। दूसरे का उदाहरण यह है—धूम अथवा भाप आदि के निश्चय किये बिना ही कोई यह कहे कि 'यह प्रदेश अग्नि वाला है, क्योंकि वह धूम वाला है।' यहाँ 'धूम' हेतु सन्दिग्धासिद्ध है। कारण, उसके स्वरूप में सन्देह है।

(२) विरुद्ध—जिस हेतु की साध्य से विरुद्ध (साध्याभाव) के साथ व्याप्ति हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है। जैसे—'शब्द अपरिणमनशील है, क्योंकि किया जाता है' यहाँ 'किया जाना' हेतु की व्याप्ति अपरिणमनशील से विरुद्ध परिणमनशीलता के साथ है। अतः वह विरुद्ध हेत्वाभास है।

(३) अनैकान्तिक—जो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में रहता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। वह दो प्रकारका है—१ निश्चितविपक्षवृत्ति और २ शङ्कितविपक्षवृत्ति। उनमें पहले का उदाहरण

यह है—'यह प्रदेश धूमवाला है, क्योंकि वह अग्निवाला है।' यहाँ 'अग्नि' हेतु पक्षभूत सन्दिग्ध धूमवाले सामने के प्रदेश में रहता है और सपक्ष धूम वाले रसोईघर में रहता है तथा विपक्ष धूमरहित रूप से निश्चित अङ्गारस्वरूप अग्नि वाले प्रदेश में भी रहता है, ऐसा निश्चय है। अतः वह निश्चितविपक्षवृत्ति अनैकान्तिक है। दूसरे शङ्कितविपक्षवृत्ति का उदाहरण यह है—'गर्भस्थ मैत्री का पुत्र श्याम होना चाहिए, क्योंकि मैत्री का पुत्र है, मैत्री के दूसरे पुत्रों की तरह' यहाँ 'मैत्री का पुत्रपना' हेतु पक्षभूत गर्भस्थ मैत्री के पुत्र में रहता है, सपक्ष दूसरे मैत्रीपुत्रों में रहता है, और विपक्ष अश्याम—गोरे पुत्र में भी रहे इस शङ्का की निवृत्ति न होने से अर्थात् विपक्ष में भी उसके रहने की शङ्का बनी रहने से वह शङ्कितविपक्षवृत्ति है। शङ्कितविपक्षवृत्ति का दूसरा भी उदाहरण है—'अरहन्त सर्वज्ञ नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे वक्ता हैं, जैसे—'रथ्यापुरुष'। यहाँ 'वक्तापन' हेतु जिस प्रकार पक्षभूत अरहन्त में और सपक्षभूत रथ्यापुरुष में रहता है उसी प्रकार सर्वज्ञ में भी उसके रहने की सम्भावना की जाय, क्योंकि वक्तापन और ज्ञातापन का कोई विरोध नहीं है। जिसका जिसके साथ विरोध होता है वह उस वाले में नहीं रहता है और वचन तथा ज्ञान का लोक में विरोध नहीं है, बल्कि ज्ञान वाले (ज्ञानी) के ही वचनों में चतुराई अथवा सुन्दरता स्पष्ट देखने में आती है। अतः विशिष्ट ज्ञानवान् सर्वज्ञ में विशिष्ट वक्तापन के होने में क्या आपत्ति है? इस तरह वक्तापन की विपक्षभूत सर्वज्ञ में भी सम्भावना होने से वह शङ्कितविपक्षवृत्ति नाम का अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

(४) अकिञ्चित्कर—जो हेतु साध्यकी सिद्धि करनेमें अप्रयोजक—असमर्थ है उसे अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहते हैं। उसके दो

भेद हैं—१ सिद्धसाधन और २ बाधितविषय। उनमें पहले का उदाहरण यह है—'शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होना चाहिए, क्योंकि वह शब्द है'। यहाँ 'श्रोत्रेन्द्रिय की विषयता' रूपसाध्य शब्द में श्रावण-प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। अतः उसको सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किया गया 'शब्दपना' हेतु सिद्धसाधन नाम का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है। बाधितविषय नामका अकिञ्चित्कर हेत्वाभास अनेक प्रकार का है। कोई प्रत्यक्षबाधितविषय है। जैसे—'अग्नि अनुष्ण—ठंडी है, क्योंकि वह द्रव्य है'। यहाँ 'द्रव्यत्व' हेतु प्रत्यक्ष-बाधितविषय है। कारण उसका जो ठंडापन विषय है वह उष्णता-ग्राहक स्पर्शनेन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष से बाधित है। अर्थात्—अग्नि को छूने पर वह उष्ण प्रतीत होती है, ठंडी नहीं। अतः 'द्रव्यत्व' हेतु कुछ भी साध्यसिद्धि करने में समर्थ न होने से अकिञ्चित्कर है। कोई अनुमानबाधितविषय है। जैसे—'शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह किया जाता है' यहाँ 'किया जाना' हेतु 'शब्द परिणामी है, क्योंकि वह प्रमेय है' इस अनुमान से बाधितविषय है। इसलिये वह अनुमानबाधितविषय नामका अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है। कोई आगमबाधितविषय है। जैसे—'धर्म परलोक में दुःख का देने वाला है, क्योंकि वह पुरुष के आश्रय से होता है, जैसे—अधर्म' यहाँ 'धर्म सुख का देने वाला है' ऐसा आगम है, इस आगम से उक्त हेतु बाधितविषय है। कोई स्ववचनबाधितविषय है। जैसे—मेरी माता बन्ध्या है, क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी गर्भ नहीं रहता है। जिसके पुरुष का संयोग होने पर भी गर्भ नहीं रहता है वह बन्ध्या कही जाती है, जैसे—प्रसिद्ध बन्ध्या स्त्री। यहाँ हेतु अपने वचन से बाधितविषय है, क्योंकि स्वयं मौजूद है और माता भी मान रहा है फिर भी यह कहता है कि मेरी माता बन्ध्या है। अतः हेतु स्ववचनबाधितविषय नामका

अकिञ्चितकर हेत्वाभास है। इसी प्रकार और भी अकिञ्चित्कर के भेद स्वयं विचार लेना चाहिए। इस तरह हेतु के प्रसङ्ग से हेत्वाभासों का निरूपण किया।

उदाहरण का निरूपण—

यद्यपि व्युत्पन्न ज्ञाता के लिए प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव पर्याप्त हैं तथापि अव्युत्पन्नों के ज्ञान के लिए उदाहरणादिक को भी आचार्यों ने स्वीकृत किया है। यथार्थ दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते हैं। यह दृष्टान्त क्या है? जहाँ साध्य और साधन की व्याप्ति दिखलाई (जानी) जाती है उसे दृष्टान्त कहते हैं। और साध्य—अग्नि आदिक के होने पर ही साधन—धूमादिक होते हैं तथा उनके नहीं होने पर नहीं होते हैं, इस प्रकार के साहचर्यरूप साध्य-साधन के नियम को व्याप्ति कहते हैं। इस व्याप्ति को ही साध्य के बिना साधन के न होने से अविनाभाव कहते हैं। वादी और प्रतिवादी की बुद्धिसाम्यता को व्याप्ति की सम्प्रतिपत्ति कहते हैं और यह सम्प्रतिपत्ति (बुद्धिसाम्यता) जहाँ सम्भव है वह सम्प्रतिपत्ति प्रदेश कहलाता है, जैसे—रसोईशाला आदि, अथवा तालाब आदि। क्योंकि वहीं 'धूमादिक के होने पर नियम से अग्न्यादिक पाये जाते हैं और अग्न्यादिक के अभाव में नियम से धूमादिक नहीं पाये जाते' इस प्रकारकी सम्प्रतिपत्ति—बुद्धिसाम्यता सम्भव है। उनमें रसोईशाला आदि अन्वयदृष्टान्त हैं, क्योंकि वहाँ साध्य और साधन के सद्भावरूप अन्वयबुद्धि होती है। और तालाब आदि व्यतिरेकदृष्टान्त हैं, क्योंकि वहाँ साध्य और साधन के अभावरूप व्यतिरेक का ज्ञान होता है। ये दोनों ही दृष्टान्त हैं, क्योंकि साध्य और साधनरूप अन्त—अर्थात् धर्म जहाँ देखे जाते हैं वह दृष्टान्त कहलाता है, ऐसा 'दृष्टान्त' शब्द का अर्थ उनमें पाया जाता है।

इस उपर्युक्त दृष्टान्त का जो सम्यक् वचन है—प्रयोग है वह उदाहरण है। केवल 'वचन' का नाम उदाहरण नहीं है, किन्तु दृष्टान्त-रूप से जो वचन-प्रयोग है वह उदाहरण है। जैसे—'जो जो धूम-वाला होता है वह वह अग्नि वाला होता है, जैसे—रसोई घर, और जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है, जैसे—तालाब।' इस प्रकार के वचन के साथ ही दृष्टान्त का दृष्टान्तरूप से प्रतिपादन होता है।

उदाहरण के प्रसङ्ग से उदाहरणाभास का कथन—

जो उदाहरण के लक्षण से रहित है किन्तु उदाहरण जैसा प्रतीत होता है वह उदाहरणाभास है। उदाहरण के लक्षण की रहितता (अभाव) दो तरह से होती है—१ दृष्टान्त का सम्यक् वचन न होना और २ जो दृष्टान्त नहीं है उसका सम्यक् वचन होना। उनमें पहले का उदाहरण इस प्रकार है—'जो जो अग्नि वाला होता है वह वह धूम वाला होता है, जैसे—रसोईघर। जहाँ जहाँ धूम नहीं है वहां वहां अग्नि नहीं है, जैसे—तालाब।' इस तरह व्याप्य और व्यापक का विपरीत (उलटा) कथन करना दृष्टान्त का असम्यग्वचन है।

शङ्का—व्याप्य और व्यापक किसे कहते हैं ?

समाधान—साहचर्य नियमरूप व्याप्ति क्रिया का जो कर्म है उसे व्याप्य कहते हैं, क्योंकि 'वि' पूर्वक 'आप्' धातु से 'कर्म' अर्थ में 'ण्यत्' प्रत्यय करने पर 'व्याप्य' शब्द निष्पन्न होता है। तात्पर्य यह कि 'जहाँ जहाँ धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है' इस प्रकारके साथ रहने के नियम को व्याप्ति कहते हैं, और इस व्याप्ति का जो कर्म है—विषय है वह व्याप्य कहलाता है। वह व्याप्य धूमादिक हैं, क्योंकि धूमादिक वह्न्यादि के द्वारा

व्याप्त (विषय) किये जाते हैं। तथा इसी व्याप्ति क्रियाका जो कर्ता है उसे व्यापक कहते हैं, क्योंकि 'वि' पूर्वक 'आप्' धातु से कर्ता अर्थ में 'ण्वुल' प्रत्यय करने पर 'व्यापक' शब्द सिद्ध होता है। वह व्यापक अग्न्यादिक हैं। इसीलिए अग्नि धूम को व्याप्त करती है, क्योंकि 'जहां जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि नियम से होती है' इस तरह धूम वाले सब स्थानों में नियम से अग्नि पायी जाती है। किन्तु धूम अग्नि को वैसा व्याप्त नहीं करता, क्योंकि अंगारापन्न अग्नि धूम के बिना भी रहती है। कारण, जहां 'अग्नि है वहाँ नियम से धूम भी है' ऐसा सम्भव नहीं है

शङ्का—धूम गीले ईन्धन वाली अग्नि को व्याप्त करता ही है। अर्थात् वह उसका व्यापक होता है, तब आप कैसे कहते हैं कि धूम अग्नि का व्यापक नहीं होता ?

समाधान—गीले ईन्धनवाली अग्नि का धूम को व्यापक मानना हमें इष्ट है। क्योंकि जिस तरह 'जहां जहां अविच्छिन्नमूल धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है' यह सम्भव है उसी तरह जहां जहां गीले ईन्धन वाली अग्नि होती है वहाँ वहाँ धूम होता है' यह भी सम्भव है। किन्तु अग्निसामान्य धूम-विशेष का व्यापक ही है—व्याप्य नहीं; कारण कि 'पर्वत अग्नि वाला है, क्योंकि वह धूम वाला है' इस अनुमान में अग्नि-सामान्य की ही अपेक्षा होती है आर्द्रेन्धन वाली अग्नि या महानसीय, पर्वतीय, चत्वरीय और गोष्ठीय आदि विशेष अग्नि की नहीं। इसलिये धूम अग्नि का व्यापक नहीं है, अपितु अग्नि ही धूम की व्यापक है। अतः 'जो जो धूमवाला होता है वह अग्निवाला होता है, जैसे—रसोई का घर' इस प्रकार दृष्टान्त का सम्यक् वचन बोलना चाहिए। किन्तु इससे विपरीत वचन बोलना दृष्टान्ताभास है। इस तरह यह

असम्यक् वचनरूप अन्वय दृष्टान्ताभास (अन्वय उदाहरणाभास) है। व्यतिरेकव्याप्ति में तो व्यापक—अग्न्यादिक का अभाव व्याप्य होता है और व्याप्य—धूमादिक का अभाव व्यापक होता है। अतएव 'जहां जहां अग्नि का अभाव है वहां वहां धूम का अभाव है, जैसे —तालाब' इस प्रकार दृष्टान्त का सम्यक् वचन बोलना चाहिए। इससे विपरीत कथन करना असम्यक् वचनरूप व्यतिरेक उदाहरणाभास है। 'अदृष्टान्तवचन' (जो दृष्टान्त नहीं है उसका सम्यक् वचन होना) नाम का दूसरा उदाहरणाभास इस प्रकार है—अन्वयव्याप्ति में व्यतिरेक दृष्टान्त कह देना और व्यतिरेकव्याप्ति में अन्वय दृष्टान्त बोलना, उदाहरणाभास है। इन दोनों के उदाहरण स्पष्ट हैं।

शङ्का—'गर्भस्थ मैत्री का पुत्र श्याम होना चाहिये, क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है, जो जो मैत्री का पुत्र है वह वह श्याम है, जैसे उसके दूसरे पुत्र' इत्यादि अनुमानप्रयोग में अन्वयदृष्टान्त स्वरूप पाँच मैत्रीपुत्रों में 'जहां जहां मैत्री का पुत्रपना है वहां वहां श्यामता है' यह अन्वयव्याप्ति है और व्यतिरेक दृष्टान्तस्वरूप गौरवर्ण अमैत्रीपुत्रों में सब जगह 'जहां जहां श्यामता नहीं है वहां वहाँ मैत्री का पुत्रपना नहीं है' यह व्यतिरेकव्याप्ति सम्भव है। अतः गर्भस्थ मैत्रीपुत्ररूप पक्ष में जहां कि साधन निश्चितरूप से है, साध्यभूत श्यामता का सन्देह गौण है और इसलिए यह अनुमान भी सम्यक् हो जावेगा—अर्थात् दृष्टान्त का उपयुक्त लक्षण मानने पर मैत्रीतनयत्वहेतुक श्यामत्वसाध्यक प्रस्तुत अनुमान भी समीचीन अनुमान कहा जावेगा, कारण कि उसके अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त दोनों ही सम्यक् दृष्टान्तवचनरूप हैं ?

समाधान—नहीं; प्रकृत दृष्टान्त अन्य विचार से बाधित है।

वह इस प्रकार से है—साध्यरूप से माना गया यह श्यामतारूप कार्य अपनी निष्पत्ति के लिए कारण की अपेक्षा करता है। वह कारण मैत्री का पुत्रपना तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसके बिना भी दूसरे पुरुषों में, जो मैत्री के पुत्र नहीं हैं, श्यामता देखी जाती है। अतः जिस प्रकार कुम्हार, चाक आदि कारणों के बिना ही उत्पन्न होने वाले वस्त्र के कुम्हार आदिक कारण नहीं है उसी प्रकार मैत्री का पुत्रपना श्यामता का कारण नहीं है, यह निश्चित है। अतएव जहां जहां मैत्री का पुत्रपना है वहां वहां श्यामता नहीं है, किन्तु जहां जहां श्यामता का कारण विशिष्ट नामकर्म से सहित शाकादि आहाररूप परिणाम है वहां वहां उसका कार्य श्यामता है। इस प्रकार सामग्री-रूप विशिष्ट नामकर्म से सहित शाकादि आहार परिणाम श्यामता का व्याप्य है—कारण है। लेकिन उसका गर्भस्थ मैत्रीपुत्ररूप पक्ष में निश्चय नहीं है, अतः वह सन्दिग्धासिद्ध है। और मैत्री का पुत्रपना तो श्यामता के प्रति कारण ही नहीं है, इसलिए वह श्यामतारूप कार्य का गमक नहीं है। अतः उपर्युक्त अनुमान सम्यक् अनुमान नहीं है।

'जो उपाधि रहित सम्बन्ध है वह व्याप्ति है, और जो साधन-का अव्यापक तथा साध्य का व्यापक है वह उपाधि है' ऐसा किन्हीं (नैयायिकों) का कहना है। पर वह ठीक नहीं है; क्योंकि व्याप्ति का उक्त लक्षण मानने पर अन्योन्याश्रय दोष आता है। तात्पर्य यह कि उपाधि का लक्षण व्याप्तिघटित है और व्याप्ति का लक्षण उपाधिघटित है। अतः व्याप्ति जब सिद्ध हो जावे तब उपाधि सिद्ध हो और जब उपाधि सिद्ध हो जावे तब व्याप्ति सिद्ध हो, इस तरह उपाधि रहित सम्बन्ध को व्याप्ति का लक्षण मानने में अन्योन्याश्रय नामका दोष प्रसक्त होता है। इस उपाधि का निराकरण कारुण्यकलिका में

विस्तार से किया गया है। अतः विराम लेते हैं—उसका पुनः खण्डन यहाँ नहीं किया जाता है।

उपनय, निगमन और उपनयाभास तथा निगमनाभास के लक्षण—

साधनवान् रूप से पक्ष की दृष्टान्त के साथ साम्यता का कथन करना उपनय है। जैसे—इसीलिए यह धूम वाला है। साधन को दोहराते हुए साध्य के निश्चयरूप वचन को निगमन कहते हैं। जैसे—धूम वाला होने से यह अग्नि वाला ही है। इन दोनों का अयथाक्रम से—उपनय की जगह निगमन और निगमन की जगह उपनय का—कथन करना उपनयाभास और निगमनाभास हैं। अनुमान प्रमाण समाप्त हुआ।

आगम प्रमाण का लक्षण—

आप्त के वचनों से होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं। यहाँ 'आगम' यह लक्ष्य है और शेष उसका लक्षण है। 'अर्थज्ञान को आगम कहते हैं' इतना ही यदि आगम का लक्षण कहा जाय तो प्रत्यक्षादिक में अतिव्याप्ति है, क्योंकि प्रत्यक्षादिक भी अर्थज्ञान हैं। इसलिए 'वचनों से होने वाले' यह पद—विशेषण दिया है। 'वचनों से होने वाले' अर्थज्ञान को आगम का लक्षण कहने में भी स्वेच्छापूर्वक (जिस किसी के) कहे हुए भ्रमजनक वचनों से होने वाले अथवा सोये हुए पुरुष के और पागल आदि के वाक्यों से होने वाले 'नदी के किनारे फल हैं' इत्यादि ज्ञानों में अतिव्याप्ति है, इसलिए 'आप्त' यह विशेषण दिया है। 'आप्त के वचनों से होने वाले ज्ञान को' आगम का लक्षण कहने में भी आप्त के वाक्यों को सुनकर जो श्रावण प्रत्यक्ष होता है उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति है, अतः 'अर्थ' यह पद दिया है। 'अर्थ' पद तात्पर्य में रूढ है।

अर्थात्—प्रयोजनार्थक है, क्योंकि 'अर्थ ही—तात्पर्य ही वचनों में है' ऐसा आचार्यवचन है। मतलब यह कि यहां 'अर्थ' पद का अर्थ तात्पर्य विवक्षित है, क्योंकि वचनों में तात्पर्य ही होता है। इस तरह आप्त के वचनों से होने वाले अर्थ (तात्पर्य) ज्ञान को जो आगम का लक्षण कहा गया है वह पूर्ण निर्दोष है। जैसे—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" [त० सू० १-१] 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता (सहभाव) मोक्ष का मार्ग है' इत्यादि वाक्यार्थज्ञान। सम्यग्दर्शनादिक सम्पूर्ण कर्मों के क्षयरूप मोक्ष का मार्ग अर्थात् उपाय है—न कि 'मार्ग हैं'। अतएव भिन्न भिन्न लक्षण वाले सम्यग्दर्शनादि तीनों मिलकर ही मोक्ष का मार्ग हैं, एक एक नहीं, ऐसा अर्थ 'मार्गः' इस एक वचन के प्रयोग के तात्पर्य से सिद्ध होता है। यही उक्त वाक्य का अर्थ है। और इसी अर्थ में प्रमाण से संशयादिक की निवृत्तिरूप प्रमिति होती है।

आप्त का लक्षण—

आप्त किसे कहते हैं? जो प्रत्यक्षज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता (सर्वज्ञ) है और परमहितोपदेशी है वह आप्त है। 'समस्त पदार्थों का ज्ञाता' इत्यादि ही आप्त का लक्षण कहने पर श्रुतकेवलियों में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वे आगम से समस्त पदार्थों-को जानते हैं। इसलिए 'प्रत्यक्षज्ञान से' यह विशेषण दिया है। 'प्रत्यक्षज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता' इतना ही आप्त का लक्षण करने पर सिद्धों में अतिव्याप्ति है, क्योंकि वे भी प्रत्यक्षज्ञान से ही सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता हैं, अतः 'परमहितोपदेशी' यह विशेषण कहा है। परम-हित निश्रेयस—मोक्ष है और उस मोक्ष के उपदेश में ही अरहन्त की मुख्यरूप से प्रवृत्ति होती है, अन्य

विषय में तो प्रश्न के अनुसार गौणरूप से होती है। सिद्ध परमेष्ठी ऐसे नहीं हैं—वे निःश्रेयस का न तो मुख्यरूप से उपदेश देते हैं और न गौणरूप से, क्योंकि वे अनुपदेशक हैं। इसलिए 'परम-हितोपदेशी' विशेषण कहने से उनमें अतिव्याप्ति नहीं होती। आप्त के सद्भाव में प्रमाण पहले ही (द्वितीय प्रकाशमें) प्रस्तुत कर आये हैं। नैयायिक आदि के द्वारा माने गये 'आप्त' सर्वज्ञ न होने से आप्ताभास हैं—सच्चे आप्त नहीं हैं। अतः उनका व्यवच्छेद (निराकरण) 'प्रत्यक्षज्ञान से सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता' इस विशेषण से ही हो जाता है।

शङ्का—नैयायिकों के द्वारा माना गया आप्त क्यों सर्वज्ञ नहीं है?

समाधान—नैयायिकों ने जिसे आप्त माना है वह अपने ज्ञान का ज्ञाता नहीं है, क्योंकि उनके यहाँ ज्ञान को अस्वसंवेदी—ज्ञानान्तरवेद्य माना गया है। दूसरी बात यह है कि उसके एक ही ज्ञान है उसको जानने वाला ज्ञानान्तर भी नहीं है। अन्यथा उनके अभिमत आप्त में दो ज्ञानों के सद्भाव का प्रसङ्ग आयेगा और दो ज्ञान एक साथ हो नहीं सकते, क्योंकि सजातीय दो गुण एक साथ नहीं रहते ऐसा नियम है। अतः जब वह विशेषणभूत अपने ज्ञान को ही नहीं जानता है तो उस ज्ञानविशिष्ट आत्मा को (अपने को) कि 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा कैसे जान सकता है? इस प्रकार जब वह अनात्मज्ञ है तब असर्वज्ञ ही है—सर्वज्ञ नहीं है। और सुगतादिक सच्चे आप्त नहीं हैं, इसका विस्तृत निरूपण आप्तमीमांसाविवरण—अष्टशती में श्री-अकलङ्कदेव ने तथा अष्टसहस्री में श्रीविद्यानन्द स्वामी ने किया है। अतः यहाँ और अधिक विस्तार नहीं किया गया। वाक्य का

लक्षण[1] दूसरे शास्त्रों में[2] प्रसिद्ध है, इस कारण उसका भी यहाँ लक्षण नहीं किया जाता है।

अर्थ का लक्षण और उसका विशेष कथन—

अर्थ किसे कहते हैं ? अनेकान्त को अर्थ कहते हैं। अर्थात् जो अनेकान्त स्वरूप है उसे अर्थ कहते हैं। यहाँ 'अर्थ' यह लक्ष्य का निर्देश है, उसी को अभिधेय अर्थात् कहा जाने वाला भी कहते हैं। 'अनेकान्त' यह लक्षण का कथन है। जिसके अथवा जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म—सामान्य, विशेष, पर्याय और गुण पाये जाते हैं उसे अनेकान्त कहते हैं। तात्पर्य यह कि सामान्यादि अनेक धर्म वाले पदार्थ को अनेकान्त कहते हैं। 'घट घट' 'गौ गौ' इस प्रकार के अनुगत व्यवहार के विषयभूत सदृश परिणामात्मक 'घटत्व' 'गोत्व' आदि अनुगत स्वरूप को सामान्य कहते हैं। वह 'घटत्व' स्थूल कम्बुग्रीवादि स्वरूप तथा 'गोत्व' सास्ना आदि स्वरूप ही है। अतएव घटत्वादि सामान्य घटादि व्यक्तियों से न सर्वथा भिन्न है, न नित्य है और न एक तथा अनेकों में रहने वाला है। यदि वैसा माना जाय तो अनेकों दूषण आते हैं, जिन्हें दिग्नाग ने निम्न कारिका के द्वारा प्रदर्शित किया है :—

---

१ परस्पर में अपेक्षा रखने वाले पदों के निरपेक्ष समूह को वाक्य कहते हैं। जैसे—'गाय को लाओ' यहाँ 'गाय को' और 'लाओ' ये दोनों पद एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं तभी वे विवक्षित अर्थ का बोध कराने में समर्थ हैं तथा इस अर्थ के बोध में अन्य वाक्यान्तर की अपेक्षा नहीं होती इसलिए उक्त दोनों पदों का समूह निरपेक्ष भी है।

२ प्रमेयकमलमार्त्तण्डादिक में।

न याति[1] न च तत्रास्ते न पश्चादस्ति नांशवत् ।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः[2] ॥

अर्थात्—वह गोत्वादि सामान्य शावलेयादि व्यक्तियों से यदि सर्वथा भिन्न, नित्य, एक और अनेकवृत्ति है तो जब एक गौ उत्पन्न हुई तब उसमें गोत्व कहाँ से आता है ? अन्यत्र से आ नहीं सकता, क्योंकि उसे निष्क्रिय माना है। उत्पन्न होने के पहले गोत्व वहाँ रहता नहीं, क्योंकि गोत्व सामान्य गौ में ही रहता है। अन्यथा, देश भी गोत्व के सम्बन्ध से गौ हो जायेगा। गोपिण्ड के साथ उत्पन्न भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसे नित्य माना है, अन्यथा उसके अनित्यता का प्रसङ्ग आयगा। अंशवान् है नहीं, क्योंकि उसे निरंश स्वीकार किया है। नहीं तो सांशत्व का प्रसङ्ग आवेगा। यदि वह पूर्व पिण्ड को छोड़ कर नूतन गौ में आता है तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्व पिण्ड का त्याग नहीं माना है। अन्यथा पूर्व गोपिण्ड—गौ, अगौ—गोत्वशून्य हो जायगा, फिर उसमें 'गौ' व्यवहार नहीं हो सकेगा। इस तरह गोत्वादि सामान्य को व्यक्ति से सर्वथा भिन्न, नित्य और एक मानने में अनेक विध दूषण प्रसक्त होते हैं। अतः स्थूल और कम्बुग्रीवा आदि आकार के तथा सास्ना आदि के देखने के बाद ही यह 'घट है' 'यह गौ है' इत्यादि अनुगत प्रत्यय होने से सदृश परिणामरूप ही घटत्व-गोत्वादि सामान्य है और वह कथञ्चित् भिन्न-अभिन्न, नित्य-अनित्य और एक-अनेक रूप है। इस प्रकार के

---

१ 'नायाति' पाठान्तरम् ।

२ कारिका का शब्दार्थ यह है कि 'गोत्वादि सामान्य दूसरी गौ में अन्यत्रसे जाता नहीं, न वहाँ रहता है, न पीछे पैदा होता है, न अंशोंवाला है, और न पहलेके अपने आश्रयको छोड़ता है फिर भी उसकी स्थिति है—वह सम्बद्ध हो जाता है; यह कैसी व्यसनसन्तति—कदाग्रहपरम्परा है।'

सामान्य के मानने में उपर्युक्त कोई भी दूषण नहीं आता है। विशेष भी सामान्य की ही तरह 'यह स्थूल घट है' 'यह छोटा है' इत्यादि व्यावृत्त प्रतीति का विषयभूत घटादि व्यक्तिस्वरूप ही है। इसी बात को भगवान् माणिक्यनन्दि भट्टारक ने भी कहा है कि—"वह अर्थ सामान्य और विशेषरूप है।"

परिणमन को पर्याय कहते हैं। उसके दो भेद हैं—१ अर्थ-पर्याय और २ व्यञ्जनपर्याय। उनमें भूत और भविष्य के उल्लेख रहित केवल वर्तमानकालीन वस्तुस्वरूप को अर्थपर्याय कहते हैं अर्थात् वस्तुओं में प्रतिक्षण होने वाली पर्यायों को अर्थपर्याय कहते हैं। आचार्यों ने इसे ऋजुसूत्र नय का विषय माना है। इसी के एक देश को मानने वाले क्षणिकवादी बौद्ध हैं। व्यक्ति का नाम व्यञ्जन है, और जो प्रवृत्ति-निवृत्ति में कारणभूत जल के ले आने आदिरूप अर्थक्रिया-कारिता है वह व्यक्ति है, उस व्यक्ति से युक्त पर्याय को व्यंजन-पर्याय कहते हैं। अर्थात् जो पदार्थों में प्रवृत्ति और निवृत्ति जनक जलानयन आदि अर्थक्रिया करने में समर्थ पर्याय है उसे व्यंजनपर्याय कहते हैं। जैसे— मिट्टी आदि का पिण्ड, स्थास कोश, कुशूल, घट और कपाल आदि पर्याय हैं।

जो सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त होकर रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले हैं उन्हें गुण कहते हैं। और वे वस्तुत्व, रूप, गन्ध और स्पर्श आदि हैं। अर्थात् वे गुण दो प्रकारके हैं—१ सामान्य-गुण और २ विशेषगुण। जो सभी द्रव्यों में रहते हैं वे सामान्य गुण हैं और वे वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि हैं। तथा जो उसी एक द्रव्य में रहते हैं वे विशेषगुण कहलाते हैं। जैसे—रूप-रसादिक। मिट्टी के साथ सदैव रहने वाले वस्तुत्व व रूपादि तो पिण्डादि पर्यायों के साथ भी रहते हैं, किन्तु पिण्डादि स्थासादिक के साथ नहीं रहते हैं। इसी-

लिये पर्यायों का गुणों से भेद है। अर्थात् पर्याय और गुण में यही भेद है कि पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं और गुण सहभावी होते हैं तथा वे द्रव्य और पर्याय के साथ सदैव रहते हैं। यद्यपि सामान्य और विशेष भी पर्याय हैं और पर्यायों के कथन से उनका भी कथन हो जाता है—उनका पृथक् कथन करने की आवश्यकता नहीं है, तथापि सङ्केतज्ञान में कारण होने और जुदा जुदा शब्द-व्यवहार होने से इस आगम प्रस्ताव में (आगम प्रमाण के निरूपण में) सामान्य और विशेष का पर्यायों से पृथक् निर्देश किया है। इन सामान्य और विशेषरूप गुण तथा पर्यायों का आश्रय द्रव्य है। क्योंकि "जो गुण और पर्याय वाला है वह द्रव्य है" ऐसा आचार्य महाराज का आदेश (उपदेश) है। वह द्रव्य भी 'सत्त्व' अर्थात् सत् ही है; क्योंकि "जो सत्त्व है वह द्रव्य है" ऐसा अकलङ्कदेव का वचन है। द्रव्य भी संक्षेप में दो प्रकारका है—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। और ये दोनों ही द्रव्य उत्पत्ति, विनाश तथा स्थितिवान् हैं, क्योंकि "जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित है वह सत् है" ऐसा निरूपण किया गया है। इसका खुलासा इस प्रकार है :—जीव द्रव्य के स्वर्ग प्राप्त कराने वाले पुण्य कर्म (देवगति, देवायु आदि) का उदय होने पर मनुष्य स्वभाव का विनाश होता है, दिव्य स्वभाव का उत्पाद होता है और चैतन्य स्वभाव स्थिर रहता है। जीव द्रव्य यदि मनुष्यादि पर्यायों से सर्वथा एकरूप (अभिन्न) हो तो पुण्य कर्म के उदय का कोई फल नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह सदैव एकसा ही बना रहेगा—मनुष्य स्वभाव का विनाश और देव पर्याय का उत्पाद ये भिन्न परिणमन उसमें नहीं हो सकेंगे। और यदि सर्वथा भिन्न हो तो पुण्यवान्—पुण्यकर्ता दूसरा होगा और फलवान्—फलभोक्ता दूसरा, इस तरह पुण्य कर्म का उपार्जन करना भी व्यर्थ हो जायगा। परोप-

कार में भी जो प्रवृत्ति होती है वह अपने पुण्य के लिए ही होती है। इस कारण जीव द्रव्य की अपेक्षा से अभेद है और मनुष्य तथा देव पर्याय की अपेक्षा से भेद है, इस प्रकार भिन्न भिन्न नयों की दृष्टि से भेद और अभेद के मानने में कोई विरोध नहीं है, दोनों प्रामाणिक हैं—प्रमाणयुक्त हैं।

इसी तरह मिट्टीरूप अजीव द्रव्य के भी मिट्टी के पिण्डाकार का विनाश, कम्बुग्रीवा आदि आकार की उत्पत्ति और मिट्टीरूप की स्थिति होती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि अजीव द्रव्य में भी उत्पत्ति, विनाश और स्थिति ये तीनों होते हैं। स्वामी समन्तभद्र के मत का अनुसरण करने वाले वामन ने भी कहा है कि समीचीन उपदेश से पहले के अज्ञान स्वभाव को नाश करने और आगे के तत्त्वज्ञान स्वभाव के प्राप्त करने में जो समर्थ आत्मा है वही शास्त्र का अधिकारी है। जैसा कि उसके इस वाक्य से प्रकट है :— "न शास्त्रमसद्द्रव्येष्वर्थवत्" अर्थात्—शास्त्र असद् द्रव्यों में (जो जीव अज्ञान स्वभाव के दूर करने और तत्त्वज्ञान स्वभाव के प्राप्त करने में समर्थ नहीं है उसमें) प्रयोजनवान् नहीं है—कार्यकारी नहीं है। इस प्रकार अनेकान्तस्वरूप वस्तु प्रमाणवाक्य का विषय है और इसलिए वह अर्थ सिद्ध होती है। अतएव इस प्रकार अनुमान करना चाहिए कि समस्त पदार्थ अनेकान्त स्वरूप हैं, क्योंकि वे सत् हैं, जो अनेकान्तस्वरूप नहीं है वह सत् भी नहीं है, जैसे—आकाश का कमल।

शङ्का—यद्यपि कमल आकाश में नहीं है तथापि तालाब में है। अतः उससे (कमल से) 'सत्त्व' हेतु की व्यावृत्ति नहीं हो सकती है?

समाधान—यदि ऐसा कहो तो यह कमल अधिकरण विशेष-की अपेक्षा से सत् और असत् दोनों रूप होने से अनेकान्तस्वरूप

सिद्ध हो गया और उसे अन्वयदृष्टान्त आपने ही स्वीकार कर लिया। इससे ही आपको सन्तोष कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह कि इस कहने से भी वस्तु अनेकान्तात्मक प्रसिद्ध हो जाती है।

पहले जिस 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' वाक्य का उदाहरण दिया गया है उस वाक्य के द्वारा भी 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों में मोक्षकारणता ही है, संसारकारणता नहीं' इस प्रकार विषयविभागपूर्वक (अपेक्षाभेदसे) कारणता और अकारणता का प्रतिपादन करने से वस्तु अनेकान्त स्वरूप कही जाती है। यद्यपि उक्त वाक्य में अवधारण करने वाला कोई एवकार जैसा शब्द नहीं है तथापि "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" अर्थात् —'सभी वाक्य अवधारण सहित होते हैं' इस न्याय से उपर्युक्त वाक्य के द्वारा भी सम्यग्दर्शनादि में मोक्षकारणता का विधान और संसारकारणता का निषेध स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—से यह सिद्ध हुआ कि वस्तु अनेकान्तस्वरूप है।

नयका लक्षण, उसके भेद और सप्तभङ्गी का प्रतिपादन—

प्रमाण का विस्तार से वर्णन करके अब नयों का विश्लेषण-पूर्वक कथन किया जाता है। नय किसे कहते हैं? प्रमाण से जाने हुये पदार्थ के एक देश (अंश) को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्रायविशेष को नय कहते हैं। क्योंकि "ज्ञाता का अभिप्राय नय है" ऐसा कहा गया है। उस नय के संक्षेप में दो भेद हैं—१ द्रव्यार्थिक और २ पर्यायार्थिक। उनमें द्रव्यार्थिक नय प्रमाण के विषयभूत द्रव्य-पर्यायात्मक, एकानेकात्मक अनेकान्तरूप अर्थ का विभाग करके पर्यायार्थिक नय के विषयभूत भेद को गौण करता हुआ उसकी स्थिति मात्र को स्वीकार कर अपने विषय द्रव्य को अभेद-

रूप व्यवहार कराता है, अन्य नय के विषय का निषेध नहीं करता। इसीलिए "दूसरे नय के विषय की अपेक्षा रखने वाले नय को सत् नय—सम्यक् नय अथवा सामान्य नय" कहा है। जैसे—यह कहना कि 'सोना लाओ'। यहाँ द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से 'सोना लाओ' के कहने पर लाने वाला कड़ा, कुण्डल, केयूर इनमें से किसी को भी ले आने से कृतार्थ हो जाता है, क्योंकि सोनेरूप से कड़ा आदि में कोई भेद नहीं है। पर जब पर्यायार्थिकनय की विवक्षा होती है तब द्रव्यार्थिक नय को गौण करके प्रवृत्त होने वाले पर्यायार्थिक-नय की अपेक्षा से 'कुण्डल लाओ' यह कहने पर लाने वाला कड़ा आदि के लाने में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि कड़ा आदि पर्याय से कुण्डल पर्याय भिन्न है। अतः द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय (विवक्षा) से सोना कथञ्चित् एकरूप ही है, पर्यायार्थिक नय के अभिप्राय से कथञ्चित् अनेकरूप ही है, और क्रम से दोनों नयों के अभिप्राय से कथञ्चित् एक और अनेकरूप है। एक साथ दोनों नयों के अभिप्राय से कथंचित् अवक्तव्यस्वरूप है; क्योंकि एक साथ प्राप्त हुये दो नयों से विभिन्न स्वरूप वाले एकत्व और अनेकत्व का विचार अथवा कथन नहीं हो सकता है। जिस प्रकार कि एक साथ प्राप्त हुये दो शब्दों के द्वारा घट के प्रधानभूत भिन्न स्वरूप वाले रूप और रस इन दो धर्मों का प्रतिपादन नहीं हो सकता है। अतः एक साथ प्राप्त द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों के अभिप्राय से सोना कथंचित् अवक्तव्य-स्वरूप है। इस अवक्तव्यस्वरूप को द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक इन तीन नयों के अभिप्राय से क्रमशः प्राप्त हुए एकत्वादि के साथ मिला देने पर सोना कथंचित् एक और अवक्तव्य है, कथंचित् अनेक और अवक्तव्य है तथा कथंचित् एक, अनेक और अवक्तव्य है, इस तरह तीन नयाभिप्राय और हो जाते

हैं, जिनके द्वारा भी सोने का निरूपण किया जाता है। नयों के कथन करने की इस शैली (व्यवस्था) को ही सप्तभङ्गी कहते हैं। यहाँ 'भङ्ग' शब्द वस्तु के स्वरूपविशेष का प्रतिपादक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक वस्तु में नियत सात स्वरूप-विशेषों का प्रतिपादन करने वाला शब्द-समूह सप्तभङ्गी है।

शङ्का—एक वस्तु में सात भङ्गों (स्वरूप अथवा धर्मों) का सम्भव कैसे है ?

समाधान—जिस प्रकार एक ही घटादि में घट रूप वाला है, रस वाला है, गन्ध वाला है और स्पर्श वाला है, इन जुदे-जुदे व्यवहारों के कारणभूत रूपवत्त्व (रूप) आदि स्वरूपभेद सम्भव हैं उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में होने वाले एक, अनेक, एकानेक, अवक्तव्य आदि व्यवहारों के कारणभूत एकत्व, अनेकत्व आदि सात स्वरूपभेद भी सम्भव हैं।

इसी प्रकार परम द्रव्यार्थिक नयके अभिप्राय का विषय परमद्रव्यसत्ता—महासामान्य है। उसकी अपेक्षा से "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, यहाँ नाना-अनेक कुछ भी नहीं है" इस प्रकार का प्रतिपादन किया जाता है; क्योंकि सद्रूप से चेतन और अचेतन पदार्थों में भेद नहीं है। यदि भेद माना जाय तो सद् से भिन्न होने के कारण वे सब असत् हो जाएँगे।

ऋजुसूत्रनय परमपर्यायार्थिक नय है। वह भूत और भविष्य के स्पर्श से रहित शुद्ध—केवल वर्तमानकालीन वस्तुस्वरूप को विषय करता है। इस नय के अभिप्राय से ही बौद्धों के क्षणिकवाद की सिद्धि होती है। ये सब नयाभिप्राय सम्पूर्ण अपने विषयभूत अशेषात्मक अनेकान्त को, जो प्रमाण का विषय है, विभक्त करके लोकव्यवहार को कराते हैं कि वस्तु द्रव्यरूप से—सत्तासामान्य की अपेक्षा से

कथंचित् एक ही है, अनेक नहीं है। तथा पर्यायरूप से—अवान्तर-सत्तासामान्यरूप विशेषों की अपेक्षा से वस्तु कथंचित् नाना (अनेक) ही है, एक नहीं है। तात्पर्य यह है कि तत्तत् नयाभिप्राय से ब्रह्म-वाद (सत्तावाद) और क्षणिकवाद का प्रतिपादन भी ठीक है। यही आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने भी निरूपण किया है कि "हे जिन ! आपके मत में अनेकान्त भी प्रमाण और नय से अनेकान्तरूप सिद्ध होता है, क्योंकि प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्तरूप है और अर्पित नयकी अपेक्षा एकान्तरूप है।

अनियत अनेक धर्मविशिष्ट वस्तु को विषय करने वाला प्रमाण है और नियत एक धर्मविशिष्ट वस्तु को विषय करने वाला नय है। यदि इस जैन-सरणि—जैनमत की नय-विवक्षा को न मानकर सर्वथा एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, अनेक कोई नहीं है, कथञ्चित्—किसी एक अपेक्षा से भी अनेक नहीं है, यह आग्रह किया जाय—सर्वथा एकान्त माना जाय तो यह अर्थाभास है—मिथ्या अर्थ है और इस अर्थ का कथन करने वाला वचन भी आगमाभास है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष से और 'सत्य भिन्न है तत्त्व भिन्न' है इस आगम से बाधितविषय है। इसी प्रकार 'सर्वथा भेद ही है, कथञ्चित् भी अभेद नहीं है' ऐसा कथन भी वैसा ही समझना चाहिए। अर्थात् सर्वथा भेद (अनेक) का मानना भी अर्थाभास है और उसका प्रतिपादक वचन भी आगमाभास है; क्योंकि सद्रूप से भी भेद मानने पर असत् का प्रसङ्ग आयेगा और उसमें अर्थक्रिया नहीं बन सकती है।

शङ्का—एक एक अभिप्राय के विषयरूप से भिन्न भिन्न सिद्ध-होने वाले और परस्पर में साहचर्य की अपेक्षा न रखने पर मिथ्या-भूत हुये एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मों का साहचर्यरूप समूह, भी

जो कि अनेकान्त है, मिथ्या ही है। तात्पर्य यह कि परस्पर निरपेक्ष एकत्वादिक एकान्त जब मिथ्या हैं तब उनका समूहरूप अनेकान्त भी मिथ्या ही कहलायेगा, वह सम्यक् कैसे हो सकता है ?

समाधान—वह हमें इष्ट है। जिस प्रकार परस्पर के उपकार्य-उपकारकभाव के बिना स्वतन्त्र होने से और एक दूसरे की अपेक्षा न करने पर वस्त्ररूप अवस्था से रहित तन्तुओं का समूह शीतनिवारण (ठण्ड को दूर करना) आदि कार्य नहीं कर सकता है उसी प्रकार एक दूसरे की अपेक्षा न करने पर एकत्वादिक धर्म भी यथार्थ ज्ञान कराने आदि अर्थक्रिया में समर्थ नहीं हैं, इसलिए उन परस्पर निरपेक्ष एकत्वादि धर्मों में कथंचित् मिथ्यापन भी सम्भव है। आप्तमीमांसा में स्वामी समन्तभद्राचार्य ने भी कहा है कि 'मिथ्याभूत एकान्तों का समूह यदि मिथ्या है तो वह मिथ्या एकान्तता—परस्पर निरपेक्षता हमारे (स्याद्वादियों के) यहाँ नहीं है; क्योंकि जो नय निरपेक्ष हैं वे मिथ्या हैं—सम्यक् नहीं हैं और जो सापेक्ष हैं—एक दूसरे की अपेक्षा सहित हैं वे वस्तु हैं—सम्यक् नय हैं और वे ही अर्थक्रियाकारी हैं।' तात्पर्य यह हुआ कि निरपेक्ष नयों के समूह को मिथ्या मानना तो हमें भी इष्ट है, पर स्याद्वादियों ने निरपेक्ष नयों के समूह को अनेकान्त नहीं माना किन्तु सापेक्ष नयों के समूह को अनेकान्त माना है; क्योंकि वस्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनेक धर्मात्मक ही प्रतीत होती है, एक धर्मात्मक नहीं।

अतः यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ कि 'नय और प्रमाण से वस्तु-की सिद्धि होती है—पदार्थों का यथावत् निर्णय होता है।' इस प्रकार आगम प्रमाण समाप्त हुआ।

ग्रन्थकार का अन्तिम निवेदन—

मेरे कृपालु गुरुवर्य श्रीमान् वर्द्धमान भट्टारक के श्रीचरणों के प्रसाद से यह न्याय-दीपिका पूर्ण हुई।

इस प्रकार श्रीमान् आचार्य वर्द्धमान भट्टारक गुरुकी कृपा-से सरस्वती के प्रकर्ष को प्राप्त श्रीअभिनव धर्मभूषणाचार्य-विरचित न्यायदीपिका में परोक्षप्रमाण का प्रकाश करने वाला तीसरा प्रकाश पूर्ण हुआ।

न्यायदीपिका समाप्त हुई।



परिशिष्ट

—०:✻:०—

१. न्यायदीपिका में आये हुए अवतरण-वाक्यों की सूची—

२. न्यायदीपिका में उल्लिखित ग्रन्थों की सूची—

३. न्यायदीपिका में उल्लिखित ग्रन्थकारों की सूची—

४ न्यायदीपिका में आये हुये न्यायवाक्य—

५ न्यायदीपिकागत विशेष नामों तथा शब्दों की सूची—

६. न्यायदीपिका–गत दार्शनिक एवं लाक्षणिक शब्दों की सूची

७. 'असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्'

ननु असाधारणधर्मवचनं लक्षणं कथं न समीचीनमिति चेत्, उच्यते; तदेव हि सम्यक् लक्षणं यदव्याप्त्यादिदोषत्रयशून्यम् । न चात्र लक्षणेऽव्याप्त्यादिदोषत्रयाभावः । तथा हि—अशेषैरपि वादिभिर्दण्डी, कुण्डली, वासस्वी देवदत्त इत्यादौ दण्डादिकं देवदत्तस्य लक्षणमुरीक्रियते । परं दण्डादेरसाधारणधर्मत्वं नास्ति, तस्य पृथग्भूतत्वेनापृथग्भूतत्वासम्भवात् । अपृथग्भूतस्य चासाधारणधर्मत्वमिति तवाभिप्रायः । तथा च लक्ष्यैकदेशेऽनात्मभूतलक्षणे दण्डादौ असाधारणधर्मत्वस्याभावादव्याप्तिरित्येव तात्पर्यमाश्रित्योक्तं ग्रन्थकृता "दण्डादेरतद्धर्मस्यापि लक्षणत्वादिति" ।

किञ्चाव्याप्ताभिधानस्य लक्षणाभासस्यापि शावलेयत्वादेरसाधारणधर्मत्वादतिव्याप्तिः । गोः शावलेयत्वम्, जीवस्य भव्यत्वं, मतिज्ञानित्वं वा न गवादीनां लक्षणमिति सुप्रतीतम्, शावलेयत्वस्य सर्वत्र गोष्ववृत्तेः । भव्यत्वस्य मतिज्ञानित्वस्य वा सर्वजीवेष्ववर्त्तमानत्वादव्याप्तेः । परन्तु शावलेयत्वस्य भव्यत्वादेर्वाऽसाधारणधर्मत्वमस्ति । यतो हि तेषां गवादिभ्यो भिन्नेष्ववृत्तित्वात् । तदितरावृत्तित्वं ह्यसाधारणत्वमिति । ततः शावलेयत्वादावव्याप्ताभिधाने लक्षणाभासे असाधारणधर्मस्यातिव्याप्तिरिति बोध्यम् ।

अपि च लक्ष्यधर्मिवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन सामानाधिकरण्याभावप्रसङ्गात् । तथा हि—सामानाधिकरण्यं द्विविधम्—शाब्दमार्थं च । यथोर्द्वयोरेकत्र वृत्तिस्तयोरार्थं सामानाधिकरण्यम्, यथा रूप-रसयोः । ययोर्द्वयोः शब्दयोश्चैकः प्रतिपाद्योऽर्थस्तयोः शाब्दसामानाधिकरण्यम्, यथा घट-कलशशब्दयोः । सर्वत्र हि लक्ष्य-लक्षणभावस्थले लक्ष्यवचनलक्षणवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यं भवति, ताभ्यां प्रतिपाद्यस्यार्थस्यैकत्वात् । यथा उष्णोऽग्निः, ज्ञानी जीवः, सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्, इत्यादौ उष्णः, ज्ञानी, सम्यग्ज्ञानम्, एतानि लक्षणवचनानि । अग्निः, जीवः, प्रमाणम्, एतानि च लक्ष्यचनानि । अत्र लक्षणवचनप्रतिपाद्यो योऽर्थः स एव लक्ष्यवचन-

प्रतिपाद्यो न भिन्नोऽर्थस्तत्प्रतिपाद्यः। एवं लक्ष्यवचनप्रतिपाद्यो योऽर्थः स एव लक्षणवचनप्रतिपाद्यो न भिन्नः, यतो हि उष्ण इत्युक्ते अग्निरित्युक्त भवति, अग्निरित्युक्ते उष्ण इत्युक्तं भवति, इत्यादि बोध्यम्। ततश्चेदं सिद्धं यत्र कुत्राऽपि लक्ष्यलक्षणभावः क्रियेत तत्र सर्वत्रापि लक्षणवचनलक्ष्यवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यम्। इत्थं च प्रकृते असाधारणधर्मस्य लक्षणत्वस्वीकारे लक्षणवचनं धर्मवचनं लक्ष्यवचनं च धर्मिवचनं स्यात्। न च लक्षणवचनरूपधर्मवचन-लक्ष्यवचनरूपधर्मिवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यमस्ति, ताभ्यां प्रतिपाद्यार्थस्य भिन्नत्वात्। धर्मवचनप्रतिपाद्यो हि धर्मः, धर्मिवचनप्रतिपाद्यश्च धर्मी, तौ च परस्परं सर्वथा भिन्नौ। तथा चासाधारणधर्मस्य लक्षणत्वे न कुत्रापि लक्ष्यलक्षणभावस्थले लक्ष्यवचनलक्षणवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यं सम्भवति, ततश्च शाब्दसामानाधिकरण्याभावप्रयुक्तासम्भवदोषः समापतत्येव। तस्मान्न साधारणासाधारणधर्ममुखेन लक्षणकरणं यौक्तिकम्, अपि तु परस्परव्यतिकरे येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणमित्यकलङ्कम्।

८. न्यायदीपिकायाः तुलनात्मकटिप्पणानि

पृ० ५ पं० ५ 'उद्देश-लक्षणनिर्देश-परीक्षाद्वारेण'। तुलना—'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः। तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा' —**न्यायभा०** १-१-२।

'नामधेयेन पदार्थानामभिधानमुद्देशः। उद्दिष्टस्य स्वपरजातीयव्यावर्त्तको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणं विचारः परीक्षा'—**कन्दली** पृ० ३६।

'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षेति। नामधेयेन पदार्थाभिधानमुद्देशः, उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवस्थापको धर्मो लक्षणम्, लक्षितस्य तल्लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा'—**न्यायमं०** पृ० ११।

'त्रिधा हि शास्त्राणां प्रवृत्तिः—उद्देशः, लक्षणम्, परीक्षा चेति। तत्र नाममात्रेणार्थानामभिधानमुद्देशः। उद्दिष्टस्य स्वरूपव्यवस्थापको धर्मो लक्षिणम्। उद्दिष्टस्य लक्षितस्य च 'यथावल्लक्षणमुपपद्यते न वा' इति प्रमाणतोऽर्थावधारणं परीक्षा'—**न्यायकुमुद०** पृ० २१।

'त्रयी हि शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा च। तत्र नामधेयमात्रकीर्त्तनमुद्देशः···। उद्दिष्टस्यासाधारणधर्मवचनं लक्षणम्।··· लक्षितस्य इदमित्थं भवति नेत्थं इति न्यायतः परीक्षणं परीक्षा'—**प्रमाणमी०** पृ० २।

'तदेतद्व्युत्पाद्यद्वयं प्रति प्रमाणस्योद्देशलक्षणपरीक्षाः प्रतिपाद्यन्ते, शास्त्रप्रवृत्तेस्त्रिविधत्वात्। तत्रार्थस्य नाममात्रकथनमुद्देशः, उद्दिष्टस्यासाधारणस्वरूपनिरूपणं लक्षणम्। प्रमाणबलात्तल्लक्षणविप्रतिपत्तिपक्षनिरासः परीक्षा'—**लघीय० तात्पर्य०** पृ० ६।

'नाममात्रेण वस्तुसंकीर्त्तनमुद्देशः। यथा 'द्रव्यम्' 'गुणाः' इति। असाधारणधर्मो लक्षणम्। यथा गन्धत्वं पृथिव्याः। लक्षितस्य लक्षणं सम्भवति न वेति विचारः परीक्षा'—**तर्कसंग्रहपदकृत्य** पृ० ५।

पृ० ६ पं० १ 'परस्परव्यतिकरे'। तुलना—'परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्। हेम-श्यामिकयोर्वर्णादिविशेषवत्'—**तत्त्वार्थश्लोक** पृ० ३१८।

पृ० ६ पं० ४ 'द्विविधं'। तुलना—'तद्द्विविधम्, आत्मभूतमनात्मभूतविकल्पात्। तत्रात्मभूतं लक्षणमग्नेरुष्णगुणवत्। अनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्डवत्'—**तत्त्वार्थश्लोक** पृ० ३१८।

पृ० ६ पं० २ 'सम्यग्ज्ञानं'। तुलना—'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः'—**प्रमाणपरीक्षा** पृ० १, **प्रमाणनि०** पृ० १।

पृ० ६ पं० ६ 'संशयः'। तुलना—'संशयस्तावत् प्रसिद्धानेकविशेषयोः सादृश्यमात्रदर्शनादुभयविशेषानुस्मरणादधर्माच्च किंस्विदिति उभयावलम्बी विमर्शः संशयः'—**प्रशस्तपादभा०** पृ० ८५, ८६।

'नानार्थविमर्शः संशयः'—**न्यायमं०** पृ० ७। 'अनुभयत्रोभयकोटिस्पर्शी प्रत्ययः संशयः। अनुभयस्वभावे वस्तुनि उभयान्तपरिमर्शनशीलं ज्ञानं सर्वात्मना शेत इवात्मा यस्मिन् सति स संशयः, यथा अन्धकारे दूरादूर्ध्वाकारवस्तूपलम्भात् साधक-बाधकप्रमाणाभावे सति 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति प्रत्ययः।' **प्रमाणमी०** पृ० ५।

पृ० ६ पं० ७ 'स्थाणुपुरुष'। तुलना—स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वतामात्रसादृश्यदर्शनात् वक्रादिविशेषानुपलब्धितः स्थाणुत्वादिसामान्यविशेषानभिव्यक्तावुभयविशेषानुस्मरणादुभयत्राकृष्यमाणस्यात्मनः प्रत्ययो दोलायते 'किंनु खल्वयं स्थाणुः स्यात्पुरुषो वा इति'—**प्रशस्तपा० भा०** पृ० ८६, ८७।

पृ० ६ पं० ६ 'विपरीतैक'। तुलना—'अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः,यथा गव्येवाश्वः।—**प्रशस्तपा० भा०** पृ० ८८। 'अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः। यत् ज्ञाने प्रतिभासते तद्रूपरहिते वस्तुनि 'तदेव' इति प्रत्ययो विपर्यासिरूपत्वाद्विपर्ययः, यथा धातुवैषम्यान्मधुरादिषु द्रव्येषु तिक्तादिप्रत्ययः, तिमिरादिदोषात् एकस्मिन्नपि चन्द्रे द्विचन्द्रादिप्रत्ययः। नौयानात् अगच्छत्स्वपि गच्छत्प्रत्ययः, आशुभ्रमणादलातादावचक्रेऽपि चक्रप्रत्यय इति'—**प्रमाणमी०** पृ० ५।

पृ० ६ पं० ११ 'किमित्या'। तुलना—'किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः, **प्रशस्तपा० भा०** पृ० ९०। 'विशेषानुल्लेख्यनध्यवसायः। दूरान्धकारादिवशादसाधारणधर्मावमर्शरहितः प्रत्ययः अनिश्चयात्मकत्वादनध्यवसायः, यथा 'किमेतत्' इति—**प्रमाणमी०** पृ० ५।

पृ० ११ पं० १० 'नन्वेव'। तुलना—'ननु च तत्क्रियायामस्त्येवाचेतनस्यापीन्द्रियलिङ्गादेः करणत्वम्, चक्षुषा प्रमीयते, धूमादिना प्रमीयते इति। तत्रापि प्रमितिक्रियाकरणत्वस्य प्रसिद्धेरिति'—**प्रमाणनि०** पृ० १ 'लोकस्तावद्दीपेन मया दृष्टं चक्षुषाऽवगतं धूमेन प्रतिपन्नं शब्दान्निश्चितमिति व्यवहरति।'—**न्यायवि० वि०** १-२, पृ० ५७।

पृ० १२ पं० १३ 'पुनरुपचारः'। तुलना—'अचेतनस्य त्विन्द्रिय-लिङ्गादेस्तत्र करणत्वं गवाक्षादेरिवोपचारादेव। उपचारश्च तद्व्यवच्छित्तौ सम्यग्ज्ञानस्येन्द्रियादिसहायतया प्रवृत्तेः'—**प्रमाणनि०** पृ० २।

पृ० १६ पं० ७ 'अभ्यस्ते'। तुलना—'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च'—**परीक्षामु०** १-१३। 'स्वयमभ्यस्तविषये प्रमाणस्य स्वतः प्रामाण्य-सिद्धेः, सकलविप्रतिपत्तीनामपि प्रतिपत्तुरभावात्, अन्यथा तस्य प्रमेये निस्संशयं प्रवृत्त्ययोगात्। तथाऽनभ्यस्तविषये परतः प्रमाणस्य प्रमाण्य-निश्चयात्। तन्निश्चयनिमित्तस्य च प्रमाणान्तरस्याभ्यस्तविषये स्वतः प्रमा-णत्वसिद्धेरनवस्थापरस्पराश्रयणयोरनवकाशात्। '**प्रमाणप०** पृ० ६३।

पृ० १६ पं० १ 'प्रमाणत्वेनाभिमतेषु'। तुलना—'व्याप्रियमाणे हि पूर्वविज्ञानकारणकलापे उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न प्रतीतित उत्पत्तितो वा धारावाहिकविज्ञानानि परस्परस्यातिशेरत इति युक्ता सर्वेषामपि प्रमा-णता।' **प्रकरणप०** पृ० ४३, बृहती पृ० १०३।

पृ० १६ पं० ३ 'उत्तरोत्तरक्षण'। तुलना—'न च तत्तत्कालकलावि-शिष्टतया तत्राप्यनधिगतार्थत्वमुपपादनीयम्, क्षणोपाधीनामनाकलनात्। न चाज्ञातेष्वपि विशेषणेषु तज्जनितविशिष्टता प्रकाशते इति कल्पनीयम्,स्व-रूपेण तज्जननेऽनागतादिविशिष्टतानुभवविरोधात्।'—**न्यायकुसु०** ४-१, पृ. २। 'न च कालभेदेनानधिगतगोचरत्वं धारावाहिकज्ञानानामिति युक्तम्। परमसूक्ष्माणां कालकलादिभेदानां पिशितलोचनैरस्मादृशैरनाकलनात्।'—**न्यायवार्त्तिकतात्पर्य०** पृ० २१। 'धारावाहिकेष्वपि उत्तरोत्तरेषां काला-न्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम्। सन्नपि कालभेदोऽति-सूक्ष्मत्वान्न परामृश्यत इति'—**शास्त्रदी०** पृ० १२४। (अत्र पूर्वपक्षेणो-ल्लेखः)। 'धारावाहिकज्ञानानामुत्तरेषां पुरस्तात्तनप्रतीतार्थविषयतया प्रामाण्यापाकरणात्। न च कालभेदावसायितया प्रामाण्योपपत्तिः। सतोऽपि कालभेदस्यातिसौक्ष्म्यादनवग्रहणात्।'—**प्रकरणप०** पृ० ४०।

पृ० २० पं० ५ 'न तु करणं'। तुलना – 'न तत् (ईश्वरज्ञानं) प्रमाकरणमिति त्विष्यत एव, प्रमया सम्बन्धाभावात्। तदाश्रयस्य तु प्रमातृत्वमेतदेव यत् तत्समवायः।'—**न्यायकुसु०** ४–५, पृ. २५।

पृ० २३ पं० ३ 'विशदप्रतिभासं'। तुलना—'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं...' –**लघीय०** का० ३, **प्रमाणसं०** का० २, **परीक्षामु०** २-१, तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८१। 'विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वात्, यत्तु न विशदज्ञानात्मकं तन्न प्रत्यक्षम्, यथाऽनुमानादिज्ञानम्, प्रत्यक्षं च विवादाध्यासितम्, तस्माद्विशदज्ञानात्मकम्।'–**प्रमाणप०** पृ० ६७। **प्रमेयक०** २-३। 'तत्र यत्स्पष्टावभासं तत्प्रत्यक्षम्।'—**न्यायवि० वि०** लि० प० ५३S। **प्रमाणनि०** पृ० १४। 'विशदः प्रत्यक्षम्'—**प्रमाणमी०** पृ० ६।

पृ० २४ पं० ५ **'वैशद्यं'**। तुलना—'प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्।' –**परीक्षामु०** २-४। 'अनुमानाधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम्'—**प्रमाणनयत०** २-३। **जैनतर्कभा०** पृ० २। प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्।'—**प्रमाणमी०** पृ० १०।

पृ० २६ पं० ४ 'अन्वयव्यतिरेक'। तुलना—'तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च'—**परीक्षामु०** २-७।

पृ० २७ पं० ३ 'घटाद्यजन्यस्यापि'। तुलना –अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत्'–**परीक्षामु०** २-८। 'न खलु प्रकाश्यो घटादिः स्वप्रकाशकं प्रदीपं जनयति, स्वकारणकलापादेवास्योत्पत्तेः'—**प्रमेयक०** २-६।

पृ०२६ पं० ६ 'चक्षुषो विषयप्राप्तिं'। तुलना—'स्पर्शनेन्द्रियादिवच्चक्षुषोऽपि विषयप्राप्यकारित्वं प्रमाणात्प्रसाध्यते। तथा हि—प्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः बाह्येन्द्रियत्वात्स्पर्शनेन्द्रियादिवत्।'–**प्रमेयक०** २-४। 'अस्त्येव चक्षुषस्तद्विषयेण सन्निकर्षः, प्रत्यक्षस्य तत्रासत्त्वेऽपि अनुमानतस्तदवगमात्। तच्चेदमनुमानम्, चक्षुः सन्निकृष्टमर्थं प्रकाशयति बाह्येन्द्रियत्वात्त्वगादिवत्'—**प्रमाणनि०** पृ० १८। **न्यायकुमु०** पृ० ७५।

पृ० ३० पं० ३ 'चक्षुरित्यत्र'। तुलना—'चक्षुश्चात्र धर्मित्वेनोपात्तं गोलकस्वभावं रश्मिरूपं वा ? तत्राद्यविकल्पे प्रत्यक्षबाधा; अर्थदेशपरिहारेण शरीरप्रदेशे एवास्योपलम्भात्, अन्यथा तद्रहितत्वेन नयनपक्ष्मप्रदेशस्योपलम्भः स्यात्। अथ रश्मिरूपं चक्षुः, तर्हि धर्मिणोऽसिद्धिः। न खलु रश्मयः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते, अर्थवत्तत्र तत्स्वरूपाप्रतिभासनात्।' **प्रमेयक०** २-४। 'अत्र न तावद्गोलकमेव चक्षुस्तद्विषयसन्निकर्षप्रतिज्ञानस्य प्रत्यक्षेण बाधनात्तेन तत्र तदभावस्यैव प्रतिपत्तेर्हेतोश्च तद्बाधितकर्मनिर्देशानन्तरं प्रयुक्ततया कालात्ययापदिष्टतोपनिपातात्।...रश्मिपरिकरितमिति चेन्न, तस्याद्याप्यसिद्धत्वेन रूपादीनःमित्यादिहेतोराश्रयासिद्धदोषात्।'—**प्रमाणनि०** पृ० १८

पृ० ३१ पं० ६ 'तत्प्रत्यक्षं द्विविधं' तुलना—'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः'—**लघीय०** का० ३। 'तच्चोक्तप्रकारं प्रत्यक्षं मुख्यसांव्यवहारिकप्रत्यक्षप्रकारेण द्विप्रकारम्'—**प्रमेयक०** पृ० २२९। तच्च प्रत्यक्षं द्विविधं सांव्यवहारिकं मुख्यं चेति'—**प्रमाणनि०** पृ० २३।

पृ० ३२ पं० १ 'अवग्रहः'। तुलना—'विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः'—**लघीय० स्वो०** का० ५। 'तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैः विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः'—**तत्त्वार्थाधि० भा०** १-१५। 'विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति, तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः।'—**सर्वार्थसिद्धि** १-१५। **तत्त्वार्थवा०** १-१५। **धवला पु०** १, पृ. ३५४। **प्रमाणप०** पृ० ६८। **प्रमाणमी०** पृ० १-१-२६।

पृ० ३२ पं० ३ 'ईहा'। तुलना—विशेषाकांक्षा ईहा—**लघीय० का०** ५। 'अवगृहीतेऽर्थे विषयार्थैकदेशाच्छेषानुगमनं निश्चयविशेषजिज्ञासा चेष्टा ईहा।'—**तत्त्वार्थाधि०** भा० १-१५। अवगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा"—**सर्वार्थसि०** १-१५। **तत्त्वार्थवा०** १-१५। **तत्त्वार्थश्लो० पृ०** २२०। **प्रमाणप० पृ०** ६८ **प्रमाणमी०** १-१ २७। **जैनतर्कभा०** पृ० ५।

पृ० ३२ पं० ६ 'अवाय:'। तुलना—'अवायो विनिश्चय:'—**लघीय० का०** ५। 'विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवाय:।'—**सर्वार्थसि०** १-१५। **तत्त्वार्थवा०** १-१५। **तत्त्वार्थश्लो०** पृ० २२०। **प्रमाणप०** पृ० ६८। **प्रमाणमी०** १-१-२८। **जैनतर्कभा०** पृ० ५।

पृ० ३३ पं० १ 'धारणा'। 'धारणा स्मृतिहेतु:'—**लघीय०** का० ६। धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्वं मत्यवस्थानमवधारणं च धारणाप्रतिपत्ति: अवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगम: अवबोध इत्यनर्थान्तरम्।'—**तत्त्वार्थाधि० भा०** १-१५। 'अर्थैतस्य कालान्तरे विस्मरणकारणं धारणा'—**सर्वार्थसि०** १-१५। **तत्त्वार्थवा०** १-१५ **प्रमाणप०** पृ० ६८। **प्रमाणमी०** १-१-२६। **जैनतर्कभा०**पृ० ५। 'मह्लोदये च कालान्तरविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानम्···। अनन्तवीर्योऽपि तथानिर्णीतस्य कालान्तरे तथैव स्मरणहेतु: संस्कारो धारणा इति'—**स्या० रत्ना०** पृ० ३४६।

पृ० ३८ पं० ६ 'कथं पुनरेतेषां'। तुलना—'कथं पुनरनक्षाश्रितस्य ज्ञानस्यायं प्रत्यक्षव्यपदेश इति चेन्न, अक्षाश्रितत्वं प्रत्यक्षाभिधानस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं गतिक्रियेव गोशब्दस्य। प्रवृत्तिनिमित्तं त्वेकार्थसमवायिनाऽक्षाश्रितत्वेनोपलक्षितमर्थसाक्षात्कारित्वं गतिक्रियोपलक्षितगोत्ववत् गोशब्दस्य अन्यद्धि शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमितं अन्यद्वाच्यम्। अन्यथा गच्छन्त्येव गौर्गौरित्युच्येत नान्या व्युत्पत्तिनिमित्ताभावात्। ···तथेहकेवलज्ञाने व्युत्पत्तिनिमित्तस्याक्षाश्रितत्वस्याभावेऽपि····प्रवृत्तिनिमित्तस्यार्थसाक्षात्कारित्वस्य भावात् प्रत्यक्षाभिधानप्रवृत्तिरविरुद्धा।'—**लघुसर्वज्ञ०**पृ० ११६। **न्यायकु०** पृ० २६।

पृ० ३६ पं० १ 'अक्ष्णोति' तुलना—'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्।' **सर्वार्थसि०** १-१२। **तत्त्वार्थवा०** १-१२। **तत्त्वार्थश्लो०** १-१२। **प्रमाणप०** पृ० ६८। **न्यायकु०** पृ० २६। 'न क्षीयते इत्यक्षो जीवस्तं प्रति वर्त्तते इति प्रत्यक्षम्'—**प्रमाल०** पृ० ४।

पृ० ३६ पं० ३ 'विस्मरणशीलत्वं'। तुलना—विस्मरणशीलो देवानां-प्रियः प्रकरणं न लक्षयति' '—वादन्याय० पृ० ७६।

पृ० ३६ पं० ५ 'अक्षेभ्यः परावृत्तं'। तुलना—व्यतीन्द्रियविषयव्यापारं परोक्षम्'—सर्वार्थसि० १-१२।

पृ० ५१ पं० ३ 'परोक्षम्'। तुलना—'जं परदो विण्णाणं तंतु परोक्ख त्ति भणिदमत्थेसु'—प्रवचनसा०गा०५८। पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्य आत्मनः उत्पद्यमानं मतिश्रुतं परोक्षमित्याख्यायते।'–सर्वार्थसि० १-११। 'उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम्'–तत्त्वार्थवा०पृ०३८। 'इतरस्य परोक्षता—लघी० स्वो० का० ३। 'उपात्तानुपात्तप्राधान्यादवगमः परोक्षम्। उपात्तानीन्द्रियाणि मनश्च, अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादि, तत्प्राधान्यादवगमः परोक्षम्। यथागति शक्त्युपेतस्यापि स्वयं गन्तुमसमर्थस्य यष्ट्याद्यवलम्बनप्राधान्यं गमनम् तथा मतिश्रुतावरणक्षयोपशमे सति ज्ञस्वभावस्यात्मनः स्वयमर्थानुपलब्धुमसर्थस्य पूर्वोक्तप्रत्ययप्रधानं ज्ञानं परायत्तत्वात् परोक्षम्।'–धवला पु. ६, पृ. १४३-४४। 'पराणिन्द्रियाणि आलोकादिश्च, परेषामायत्तं ज्ञान परोक्षम्'–धवला पु. १३, पृ. २१२। 'अक्षाद् आत्मनः परावृत्तं परोक्षम्, ततः परैरिन्द्रियादिभिरूक्ष्यते सिञ्च्यते अभिवर्द्धयते इति परोक्षम्'।–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२। 'परोक्षमविशदज्ञानात्मकम्'—प्रमाणप० पृ० ६६। 'परोक्षमितरत्—परीक्षामु० ३-१। परैरिन्द्रियलिङ्गशब्दैरूक्षा सम्बन्धोऽस्येति परोक्षम्।'—प्रमालक्ष० पृ० ५। 'भवति परोक्षं सहायसापेक्षम्।' पञ्चाध्यायी श्लो० ६९६। 'अविशदः परोक्षम्।'–प्रमाणमी० पृ० ३३।

पृ० ६५ पं० १ प्रत्यक्षपृष्ठभावी'। तुलना—'यस्यानुमानमन्तरेण सामान्यं न प्रतीयते भवतु तस्यायं दोषोऽस्माकं तु प्रत्यक्षपृष्ठभाविनाऽपि विकल्पेन प्रकृतिविभ्रमात् सामान्यं प्रतीयते।'—हेतुबि० टी० लि० प० २५ B। 'देशकालव्यक्तिव्याप्त्या च व्याप्तिरुच्यते। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्निरिति। प्रत्यक्षपृष्ठश्च विकल्पो न प्रमाणं प्रमाणव्यपारानुकारी

त्वसौ इष्यते ।'—**मनोरथन०** पृ० ७ । 'प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्यापि तद्विषयमात्राध्यवसायत्वात् सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राहकत्वाभावः ।' **प्रमेयक०** ३-१३ । 'अथ प्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्पात् साकल्येन साध्यसाधनभावप्रतिपत्तेर्न प्रमाणान्तरं तदर्थं मृग्यमित्यपरः ।'—**प्रमेयर०** पृ० ३७ । 'ननु यदि निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमविचारकं तर्हि तत्पृष्ठभावी विकल्पो व्याप्तिं गृहीष्यतीति चेत्, नैतत्, निर्विकल्पेन व्याप्तेरग्रहणे विकल्पेन गृहीतुमशक्यत्वात् निर्विकल्पकगृहीतार्थविषयत्वाद्विकल्पस्य ।'—**प्रमाणमी०** पृ० ३७ । 'प्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्परूपत्वान्नायं प्रमाणमिति बौद्धाः ।'—**जैनतर्कभा०** पृ०११ ।

पृ० ६५ पं० २ 'स हि विकल्पः' । तुलना—'तद्विकल्पज्ञानं प्रमाणमन्यथा वेति ? प्रथमपक्षे प्रमाणान्तरमनुमन्तव्यम्, प्रमाणद्वयेऽनन्तर्भावात् । उत्तरपक्षे तु न ततोऽनुमानव्यवस्था । न हि व्याप्तिज्ञानस्याप्रामाण्ये तत्पूर्वकमनुमानं प्रमाणमास्कन्दति सन्दिग्धादिलिङ्गादप्युत्पद्यमानस्य प्रामाण्य प्रसङ्गात् ।'—**प्रमेयर०** पृ० ३८ । 'स तर्हि प्रमाणमप्रमाणं वा ? प्रमाणत्वे प्रत्यक्षानुमानातिरिक्तं प्रमाणान्तरं तितिक्षितव्यम् । अप्रामाण्ये तु ततो व्याप्तिग्रहणश्रद्धा षण्ढात्तनयदोहृदः ।'—**प्रमाणमी०** पृ० ३७ ।

पृ० १३० पं० ५ स्वतन्त्रतया' । तुलना—'ते एते गुणप्रधानतया परस्परतन्त्राः सम्यग्दर्शनहेतवः पुरुषार्थक्रियासाधनसामर्थ्यात्तन्त्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमानाः पटादिसंज्ञाः स्वतन्त्राश्चासमर्थाः ।···निरपेक्षेषु तन्त्वादिषु पटादिकार्यं नास्तीति ।'—**सर्वार्थसि०** १-३३ । **तत्त्वार्थवा०** १-३३

'मिथोऽनपेक्षाः पुरुषार्थहेतुर्नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः ।
परस्परेक्षाः पुरुषार्थहेतुर्दृष्टा नयास्तद्वदसि क्रियायाम् ।।'

—**युक्त्यनुशा०** का० ५१ ।

पृ० १३० पं० ७ 'मिथ्यात्वस्यापि' । तुलना—एवमेते शब्दसमभिरूढैवंभूतनयाः सापेक्षाः सम्यक् परस्परमनपेक्षास्तु मिथ्येति प्रतिपादयति—

इतोऽन्योन्यमपेक्षायां सन्तः शब्दादयो नयाः ।
निरपेक्षाः पुनस्ते स्युस्तदाभासाविरोधतः ।।'—**तत्त्वार्थश्लो०**पृ० २७४ ।

मुद्रक :
रूप-वाणी प्रिंटिंग हाऊस
२३, दरियागंज, दिल्ली.